श्री पं० गंगाप्रसाद जी उपाध्याय एम. ए.

ओ३म्

आस्तिकवाद

लेखक

श्री पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय एम. ए.

[प्रणेता—विधवा विवाह मीमांसा, आर्य्य-समाज, ट्रैक्ट-माला, हिन्दी शेक्सपियर, अंग्रेज़ जाति का इतिहास इत्यादि, इत्यादि]
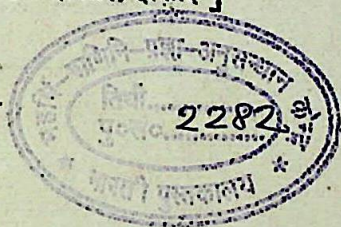
प्रकाशक

कला कार्य्यालय, प्रयाग।

प्रथम वार] कृष्ण जन्माष्टमी १९८३ [मूल्य २॥)

स्वभावमेके कवयो वदन्ति
कालं तथान्ये परिमुह्यमानाः ।
देवस्यैष महिमा तु लोके
येनेदं भ्राम्यते ब्रह्मचक्रम् ॥

[श्वेताश्वतरोपनिषद् ६ । १]

God of the Granite and the Rose!
Soul of the Sparrow and the Bee!
The mighty tide of Being flows
Through countless channels, Lord, from Thee.

कार्य्य में कुछ दरजों का अन्तर भले ही कोई कह देवें परन्तु श्रेणी का भेद नहीं कहा जा सक्ता—अर्थात् मध्य-कालीन यूरोप में जो कार्य्य कुछ अज्ञानी पुरुषों ने धर्म के नाम से किये उनमें और जो कार्य्य अब उसी श्रेणी के पुरुष विज्ञान के नाम से कर रहे हैं इनमें नाम मात्र का ही अन्तर कहा जा सक्ता है।

विज्ञान, दर्शन और धर्म

उपनिषदों ने जो एक प्रकार से वैदिक आस्तिकवाद के व्याख्यान ग्रन्थ ही हैं, बड़ी उत्कृष्टता के साथ, विज्ञान (सायन्स), दर्शन (फिलोसोफी) और धर्म का मूलतत्व और सीमा बतलाने का यत्न किया है—याज्ञवल्क्य अपनी विदुषी पत्नी मैत्रेयी को उपदेश देते हुये कहते हैं कि "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम्" ॥ (बृहदारण्यकोपनिषद् २।४।५।) अर्थात् "अरे मैत्रेयि! निश्चय, आत्मा ही द्रष्टव्य, श्रोतव्य, मन्तव्य और निदिध्यासितव्य है—अयि मैत्रेयि। निश्चय, आत्मा के दर्शन और श्रवण से, मनन से और विज्ञान से यह सब विदित होता है"।

याज्ञवल्क्य ने आत्मा पर्य्यन्त समस्त जगत के ज्ञान के लिये तीन साधन बतलाये हैः—

(१) दर्शन और श्रवण—इसी का नाम विज्ञान (सायन्स) है।

(२) मनन—दर्शन या फिलोसोफ़ी को कहते हैं।

God of the Granite and the Rose !
Soul of the Sparrow and the Bee !
The mighty tide of Being flows
Through countless channels, Lord,
from Thee.

श्री महात्मा नारायण स्वामी जी महाराज

प्राक्कथन

कुछ दिन पहले, शिक्षित जगत के नाम से जो समुदाय प्रसिद्ध था, उसने यह फ़ैशन सा बना रक्खा था कि ईश्वर और धर्म दोनों का बहिष्कार करना चाहिये। उनकी समझ में इस का कारण यह था कि ईश्वर के मानने से व्यर्थ मनुष्य को बन्धन में पड़ना पड़ता है—और धर्म लड़ाई झगड़े की चीज़ है हो, इसलिये धर्म का ग्राहक बनना मानो लड़ाई झगड़े का ख़रीद करना है। १९वीं शताब्दी में यूरोप में प्रायः उपर्युक्त भांति के पुरुषों का शिक्षित समुदाय पर आधिपत्य था उस समय यदि "निटशे" ने एक ओर आघोषित किया कि इस विज्ञान युग में ईश्वर की मृत्यु हो गई तो दूसरी ओर "मेकाइल बेकुनिन" ने दावा किया कि "If God really existed, it would be necessary to abolish him." अर्थात् यदि सचमुच कोई ईश्वर मौजूद है तो उसे नष्ट कर देना आवश्यक है"। बोलशेविक २० वीं शताब्दी में भी शोर मचा रहे हैं कि मामूली अमीर और राजा से लेकर ईश्वर तक का आधिपत्य नष्ट कर देना, उनके गढ़े हुये "साम्य वाद" (Socialism) का उद्देश्य है। इस प्रकार के भ्रम मूलक विचार जन समुदाय में क्यों उत्पन्न हुये इसे हम उचित रीति से मध्य कालीन यूरोप में धर्म के नाम से दार्शनिकों और वैज्ञानिकों पर हुये अत्याचार रूपी कार्य्य का प्रतिकार्य्य ही कह सक्ते हैं और दोनों, कार्य्य और प्रति-

कार्य्य में कुछ दरजों का अन्तर भले ही कोई कह देवें परन्तु श्रेणी का भेद नहीं कहा जा सक्ता—अर्थात् मध्य-कालीन यूरोप में जो कार्य्य कुछ अज्ञानी पुरुषों ने धर्म के नाम से किये उनमें और जो कार्य्य अब उसी श्रेणी के पुरुष विज्ञान के नाम से कर रहे हैं इनमें नाम मात्र का ही अन्तर कहा जा सक्ता है।

विज्ञान, दर्शन और धर्म

उपनिषदों ने जो एक प्रकार से वैदिक आस्तिकवाद के व्याख्यान ग्रन्थ ही हैं, बड़ी उत्कृष्टता के साथ, विज्ञान (सायन्स), दर्शन (फिलोसोफी) और धर्म का मूलतत्व और सीमा बतलाने का यत्न किया है—याज्ञवल्क्य अपनी विदुषी पत्नी मैत्रेयी को उपदेश देते हुये कहते हैं कि "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम्" ॥ (बृहदारण्यकोपनिषद २।४।५।) अर्थात् "अरे मैत्रेयि! निश्चय, आत्मा ही द्रष्टव्य, श्रोतव्य, मन्तव्य और निदिध्यासितव्य है—अयि मैत्रेयि। निश्चय, आत्मा के दर्शन और श्रवण से, मनन से और विज्ञान से यह सब विदित होता है"।

याज्ञवल्क्य ने आत्मा पर्यन्त समस्त जगत के ज्ञान के लिये तीन साधन बतलाये हैः—

(१) दर्शन और श्रवण—इसी का नाम विज्ञान (सायन्स) है।

(२) मनन—दर्शन या फिलोसोफी को कहते हैं।

(३) निदिध्यासन ।(अनुभव Realisatison) का नाम धर्म है—

कितनी उत्तम समन्वित शिक्षा है—मनुष्य दर्शन और श्रवण के बाद ही मनन और मनन के बाद ही निदिध्यासन करने के योग्य होता है—इसी लिये कहा जाता है कि यदि अनुभूत विज्ञान (Realized Science) फिलोसोफी है तो अनुभूत फिलोसोफी (Realized Philosophy) का नाम ही धर्म है—तीनों की, अपने २ दरजों पर कितनी आवश्यकता है और तोनों में कितना सहयोग है और किस प्रकार वे तोनों जीवन के उच्च उद्देश्य की प्राप्ति का साधन हैं, ये सभी बातें याज्ञवल्क्य के एक छोटे, परन्तु सार गर्भित वाक्य से प्रकट हो रही हैं।

भूर्भुवः स्वः

इसी शिक्षा और समन्वित ज्ञान का समर्थन, तीनों महा-व्याहृतियां, "भूर्भुवः स्वः" से भी होता है।

(१) भूः=सत=प्रकृति=Material manifestation

(२) भुवः=चित्त=आत्मा=Spiritual

(३) स्वः=आनन्द=परमात्मा=Harmonious

अर्थात् भूर्भुवः स्वः कहो या सच्चिदानन्द—यह ईश्वर का नाम इसी लिये है कि वह प्राकृतिक जगत और आत्मिक संसार में मेल रखने वाला है। यदि आत्मिक जगत धर्म का बोधक है तो प्राकृतिक जगत विज्ञान (सायन्स) का विधायक है।

यूरोप की उन्नीसवीं शताब्दी में उपर्युक्त विचार स्वीकार नहीं किया जाता था परन्तु २० वीं शताब्दी का विज्ञान इसे स्वीकार करने के लिये बाधित सा हो रहा है—डाक्टर फ़्लीमिंग (Dr Fleming) ने १९१४ ई०

में हुये 'सायन्स वीक' में विज्ञान और धर्म की एकता, इन शब्दों में स्वीकार की थी:—" They are not opposed. they are not neutrals, they are allies," (Science and Religion by seven men of science) अर्थात् विज्ञान और धर्म न तो परस्पर विरोधी हैं न एक दूसरे की उपेक्षा करते हैं किन्तु एक दूसरे के सहायक हैं—किस प्रकार सहायक है, डाक्टर फिलींमिंग ने इसकी भी व्याख्या की है—उनका कथन है कि हम जब किसी वस्तु को जानना चाहते हैं तो हमें दो प्रश्नों, कैसा और क्यों, (How and Why) के उत्तर लेने पड़ते हैं। उदाहरण के लिये जगत ही को लीजिये—जगत कैसे बना ? इसका उत्तर सायन्स देगी। परन्तु जगत क्यों बना ? इसका उत्तर, सायन्स नहीं दे सकती, इसका उत्तर धर्म देगा कि ईश्वर ने जगत किस उद्देश्य की पूर्त्ति के लिये बनाया है—जब दो प्रश्नों में से जिनके बिना हम किसी वस्तु या कार्य का पूरा ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते, एक का उत्तर सायन्स और दूसरे का उत्तर धर्म देता है तो किस प्रकार इन दोनों को एक दूसरे का विरोधी कह सकते हैं—उनको तो परस्पर सहायक मानना अनिवार्य्य है—इस प्रकार हमने देख लिया कि जो भूल १९ वीं शताब्दी के अधिकतर और २० वीं शताब्दी के भी कुछ विद्वान कर रहे थे और कर रहे हैं, उनका कारण धर्म के मूल तत्त्व से अनभिज्ञता ही थी-एक और बात इस प्रकरण में जो विचारणीय है वह है स्वयमेव विज्ञान (सायन्स)—

सायन्स के आविष्कार क्या हैं ?

कुछ अधकचरे वैज्ञानिक वेकन के संकेतित अधकचरे दार्शनिकों की भांति सायन्स के आविष्कारों के अभिमान पूर्ण

वर्णन करने में, सीमा का उल्लंघन करते हुये आस्तिकवाद की अवहेलना करने लगते हैं—ऐसे विद्वानों को समझना चाहिये कि जिन्हें वे आविष्कार कहते हैं, वे आविष्कार नहीं किन्तु अब तक की अपनी अल्पज्ञता और अनभिज्ञता का इक़बाल है—कहते हैं कि न्यूटन ने आकर्षण का आविष्कार किया, इस आविष्कार के अर्थ यह नहीं कि पृथ्वी में आकर्षण गुण मौजूद नहीं था और न्यूटन ने उसे उत्पन्न कर दिया—नहीं आकर्षण गुण तो उस में जब से पृथ्वी है तभी से मौजूद था परन्तु न्यूटन से पहले अर्वाचीन काल के वैज्ञानिक उसे जानते न थे। अब न्यूटन ने उसे जान लिया—बस इसी एक प्राकृतिक नियम की जानकारी का नाम, आविष्कार है—वृक्ष की जड़ में पानी देने से समस्त वृक्ष में फुनगी तक पानी पहुंच जाता है, यह एक सृष्टि नियम था और है परन्तु सर जगदीशचन्द्र बोस ने उसके कारण की जानकारी प्राप्त करली। बस यह भी सायन्स का एक आविष्कार होगया—इस प्रकार जितने चाहे उतने आविष्कारों पर विचार करते चले जाइये—सब की तह में विज्ञान की भूतकालिक अनभिज्ञता निहित मिलेगी—जिस प्रभु के रचे हुये जगत में प्रचलित असंख्य नियमों में से कुछ की जानकारी प्राप्त कर लेना ही सायन्स के बड़े से बड़े आविष्कारों की पराकाष्ठता है तो फिर इन आविष्कारों पर क्या इतना अभिमान करना उचित है कि जिसके आवेश में आकर जगत के रचयिता को ही भुला दिया जावे? यह बात है जिस पर ठंडे दिल से प्रत्येक ऐसे विद्वान को विचार करना चाहिये—यदि इस प्रकार विचार किया जायगा तो प्रत्येक को आस्तिकता के सिद्धान्त के आगे शिर झुकाना पड़ेगा—हां उचित रीति से यह पूछा जा सकता है कि हमें आस्तिक क्यों बनना चाहिये ?—

मनुष्य को आस्तिक क्यों बनना चाहिये ?

इसका उत्तर यह है कि मनुष्य में सद्गुणों की वृद्धि का इससे बढ़कर कोई और मार्ग ही नहीं है। उद्देश्य की पूर्ति के लिये आदर्श की ज़रूरत होती है। यह जगत का सार्वत्रिक नियम है—अच्छे से अच्छे पुरुष को भी यदि हम आदर्श रूप में रक्खेंगे तो भी उसमें अच्छे गुणों के साथ कुछ न कुछ कमियां अवश्य मिलेंगी—परन्तु ईश्वर का आदर्श ही एक ऐसा आदर्श है जिस में कमी और त्रुटियों की गुंजाइश ही नहीं है—अच्छे मनुष्य आंशिक आदर्श का काम तो दे सक्ते हैं परन्तु पूर्ण आदर्श ईश्वर के सिवा कहीं नहीं मिल सका—मनुष्य का अन्तिम ध्येय पूर्ण स्वतन्त्रता रूप मुक्ति का प्राप्त करना है और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये आदर्श उसके सम्मुख ईश्वर का होना चाहिये। इस आदर्श से वह जितने गुण ग्रहण करता चला जायगा उसकी आखिरी मंजिल उसके बराबर समीप ही होती चली जायगी और अन्त में, इस यत्न को बराबर जारी रखने से, एक समय आवेगा जब मनुष्य संभव पूर्णता को प्राप्त करके सतचित से सच्चिदानन्द हो जायगा। वह जगत कर्ता नहीं बन सक्ता—कर्म फल दाता भी नहीं बन सका—अनादि सच्चिदानन्द भी नहीं बन सका—किन्तु सादि सच्चिदानन्द अवश्य बन सक्ता है। इसी सादि सच्चिदानन्द बनने का नाम मुक्ति की प्राप्ति है, यही मनुष्य जीवन का उद्देश्य, यही मनुष्य का अन्तिम ध्येय है।

आस्तिकवाद नामक पुस्तक

प्रसन्नता की बात है कि जिस पुस्तक के प्राक्कथन में ये शब्द लिखे जा रहे हैं उस पुस्तक में उपर्युक्त उद्देश्य की पूर्ति के

प्रत्येक पहलू पर योग्यता और विद्वत्ता के साथ दार्शनिक रीति से प्रकाश डाला गया है। उन सब पहलुओं के सबंध में कुछ लिखना तो संभव ही कहां था इन कुछेक पंक्तियों में तो उनका संकेत भी नहीं किया जा सक्ता परन्तु एक प्रभाव जो पुस्तक के आद्योपान्त पढ़ जाने से मुझ पर पड़ा है वह यह है कि पुस्तक अत्यन्त उपयोगी है और आस्तिकवाद के संबंध में कुछ जानने की इच्छा रखनेवालों के लिये बड़े काम की चीज़ है। जगत की रचना, जगत के कर्तृत्व, ईश्वर के गुण, सायन्स और आस्तिकवाद, पाप पुण्य, कर्म फलादि के संबंध में जो कुछ लिखा गया है, वह सभी पढ़ने और मनन करने के योग्य है। अन्त में पुस्तक के रचयिता पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय एम. ए. को इस सफलता के लिये जो पुस्तक के समाप्त करने में उन्होंने प्राप्त की है मुबारिकबाद देता हूं और आशा करता हूं कि अधिकतर पुरुष स्त्री इससे लाभ उठाने का यत्न करेंगे।

नारायण स्वामी।

भूमिका

सब धर्मों का केन्द्र ईश्वर है। परन्तु ईश्वर के विषय में भिन्न २ पुरुषों के भिन्न २ मत हैं। इसी भिन्नता के कारण व्यक्तियों, जातियों तथा सम्प्रदायों के व्यावहारिक जीवन में भिन्नता है और यही भिन्नता अनेक प्रकार के वैमनस्य, कलह, शत्रुता तथा युद्ध आदि के रूप में प्रकट हुआ करती है। सच्ची शान्ति का स्थापन आस्तिकता के यथार्थ भावों द्वारा ही हो सकता है ऐसा मेरा मत है। और यही यथार्थ भाव मनुष्य को परमार्थ की भी प्राप्ति कराते हैं।

मैंने यथाशक्ति पाश्चात्य तथा पूर्वी सभी विद्वानों के आक्षेपों की मीमांसा करने का यत्न किया है। इसमें दो पुस्तकों के उदाहरणों का आधिक्य है। एक फ़िलण्ट के थीज़्म (Theism) का और दूसरा वालेस के वर्ल्ड आफ़ लाइफ़ (World of life) का। पहली पुस्तक आस्तिकता के विषय में बहुत अच्छी है और दूसरी विकासवाद पर बहुत कुछ प्रकाश डालती है। यद्यपि फ़िलण्ट के बहुत से भाग से मैं सहमत नहीं जैसा कि पुस्तकावलोकन से प्रतीत होगा तथापि जो स्थल मैंने उद्धृत किये हैं वह ऐसी उत्तमता से लिखे गये हैं कि मैंने फ़िलण्ट के शब्दों को ही रखना अच्छा समझा। इतने अवतरणों के देने का एक प्रयोजन यह भी था कि पाठक-वर्ग मूल को देखकर स्वयं अपना मत निश्चित कर सकें। अद्वैतवाद के सम्बन्ध में श्री शंकराचार्य्यजी के भाष्य से

ही पुष्कल अवतरण दिये हैं क्योंकि इस विषय में इनसे अधिक अन्य कोई नहीं समझा जाता। यद्यपि शांकर ग्रन्थों के पढ़नेवाले कम हैं तथापि उनके नाम का प्रभाव बहुत है।

शेष विशेषतायें पुस्तकावलोकन या विषय सूची से ज्ञात हो सकेंगी।

दयानिवास, प्रयाग
कृष्ण जन्माष्टमी १९८३
३० अगस्त १९२६

गंगाप्रसाद उपाध्याय।

ओ३म्

आस्तिकवाद

विषय-सूची।

विषय			पृष्ठ

विषय ... पृष्ठ

विषय पृष्ठ

विषय — पृष्ठ

विषय पृष्ठ

विषय ... पृष्ठ

विषय पृष्ठ

विषय पृष्ठ

विषय पृष्ठ

विषय | पृष्ठ

विषय पृष्ठ

विषय — पृष्ठ

ओ३म्

आस्तिक वाद

पहला अध्याय

विषय की व्यापकता

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः ।
तस्माद् धर्मो न हन्तव्यो मा नो धर्मो हतो वधीत ॥

प्राचीन काल के किसी कवि का यह श्लोक उस समय के मनुष्यों के भावों को भली भांति प्रकट करता है। इसका तात्पर्य यह है कि "मारा हुआ (नष्ट किया हुआ) धर्म मनुष्य को नष्ट कर देता है और सुरक्षित धर्म मनुष्य की रक्षा करता है। इसलिये धर्म को नहीं मारना चाहिये जिस से हमारा नाश न हो।" पुराने लोगों का मत था कि यदि हम संसार में अपना भला चाहते हैं तो धर्म की रक्षा करें, इस बात को वह स्वयंसिद्ध समझते थे। इसीलिये न केवल भारतवर्ष के किन्तु समस्त संसार के प्राचीन ग्रन्थों में यह प्रश्न तो कई बार आया है कि "धर्म क्या है?" परन्तु किसी ने यह प्रश्न कभी नहीं किया कि "धर्म की आवश्यकता क्या

है।" स्मृतियों, दर्शनों, उपनिषदों तथा अन्य पुस्तकों को उठाकर देखिये। वहाँ इसी बात की मीमांसा की गई है कि "धर्म क्या है?" अथवा "सच्चा धर्म क्या है?" वहां यह प्रश्न ही नहीं उठता कि "धर्म क्यों करना चाहिये" अथवा "मनुष्य को धर्मात्मा क्यों होना चाहिये।"

उस युग के मनुष्यों को यह बात क्यों नहीं सूझी? क्या वह दूरदर्शी न थे? क्या उनकी बुद्धि इतनी कुण्ठित थी? यह कोई असम्भव बात तो नहीं है। एक युग के मनुष्य दूसरे युग की अपेक्षा अधिक बुद्धिमान हो सकते हैं। सम्भव है कि आजकल के मनुष्यों को एक बात न सूझे और सौ पचास वर्ष पीछे आने वाली सन्तान उसको निकाल ले। परन्तु एक प्रश्न है जिसका समाधान होना चाहिये। प्राचीन ग्रन्थों में सैकड़ों ऐसे प्रश्न मिलते हैं जिनसे उस युग के विद्वानों की बुद्धि की तीव्रता का परिचय मिलता है तथा उनके भौतिक और पारलौकिक विचारों की उच्चता, असाधारणता और विशालता प्रकट होती है। फिर क्या कारण है कि बाल की खाल खींचने वाले और आकाश पाताल एक कर देने वाले लोगों ने इस छोटे से प्रश्न का समाधान नहीं किया? इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि "धर्म की क्या आवश्यकता है?" यह एक मौलिक प्रश्न है? "धर्म क्या है?" यह केवल शाखा सम्बन्धी है। मौलिक प्रश्न शाखा सम्बन्धी प्रश्नों की अपेक्षा गूढ़ होते हैं। सम्भव है कि तीव्रबुद्धि होते हुये भी उस युग के मनुष्यों को यह बात न सूझी हो कि प्रश्नों की जड़ तक पहुंचा जाय। परन्तु एक प्रश्न फिर भी रह

आता है, वह यह कि "धर्म का प्रश्न मनुष्य समाज के गले कैसे पड़ गया ?" हम संसार की समस्त जातियों को इस प्रश्न को विवेचना करते हुये पाते हैं चाहे वह सभ्य जातियां हों चाहे असभ्य। इनके जीवन का अधिकांश इसी प्रश्न की मीमांसा में व्यय होता है कि "धर्म क्या वस्तु है ?" इनके इतिहास की विशेष घटनायें, इनके साहित्य के मुख्य ग्रन्थ, इनके युद्ध, इनकी सभायें, इनकी सामाजिक क्रान्तियां, इनकी सन्धियाँ, इनके विग्रह सभी किसी न किसी अंश में इस प्रश्न से सम्बन्ध रखते हैं। यह तो माना जा सकता है कि उस युग के लोग धर्मरूपी वृक्ष की जड़ तक न पहुंचे हों। परन्तु इस वृक्ष से उनका परिचय ही कैसे हुआ, जिसने इनके समस्त सामाजिक और वैयक्तिक जीवन को प्रभावित कर दिया ? क्या वस्तुतः यह कोई वृक्ष था जिस पर यह लोग इतने मोहित हो गये ? यदि था तो इसका मूल भी अवश्य रहा होगा और "धर्म की क्या आवश्यकता है ?" यह प्रश्न उतना ही सुसंगत या असंगत हो सकता है जितना यह प्रश्न कि "मनुष्य की क्या आवश्यकता है ?" आजकल विज्ञान की बहुत उन्नति हो रही है और उसके प्रत्येक विभाग का विशाल साहित्य तैय्यार हो गया है, एक एक विभाग के उपविभाग भी इतने प्रौढ़ हो गये हैं कि वह स्वयं वटवृक्ष की शाखाओं के समान बड़े २ वृक्षों का रूप धारण कर रहे हैं। समाज शास्त्र, अर्थशास्त्र, मनोशास्त्र, भूगोल शास्त्र, इतिहास शास्त्र इत्यादि अगणित शास्त्रों की मीमांसा हो रही है, उनमें इस प्रकार के प्रश्न आते हैं कि मनुष्य समाज कैसे बना ? उसने कैसे उन्नति

या अवनति की ? उसने जड़ प्रकृति पर क्या प्रभाव डाला ? उसने धरातल पर क्या क्या परिवर्तन किये ? उसकी अब कैसे उन्नति हो सकती है ? परन्तु अभी तक मेरी दृष्टि में यह प्रश्न नहीं आया कि "मनुष्य की आवश्यकता ही क्या है ?" या तो अभी तक इस युग के विद्वानों को यह प्रश्न सूझा नहीं है और आगे के युग में यह प्रश्न उठे। या उन्होंने जान बूझ कर इसकी विवेचना नहीं की, उन्होंने यह बात स्वयंसिद्धि की भांति मान ली है कि मनुष्य है और रहेगा। चाहे किसी की दृष्टि में उसकी आवश्यकता हो या न हो, इसलिये इस प्रश्न को उठाना ही व्यर्थ है।

मैं समझता हूं कि प्राचीन लोगों ने धर्म को मनुष्य के गले से बंधा हुआ पाया। जिस प्रकार नाक, कान, हाथ आदि अन्य अंग मनुष्य जन्म से ही अपने साथ लाया इसी प्रकार धर्म भी उसके साथ लगा हुआ था। यही कारण है कि वर्तमान युग के मनुष्यों के अत्यन्त परिश्रम से भी धर्म संसार से निकल नहीं पाया। यदि एक रूप में निकलता है तो दूसरे रूप में उपस्थित हो जाता है। यह वायु के समान व्यापक हो रहा है, वायु को एक स्थान से निकालने का यत्न कीजिये और दूसरे स्थान से दूसरा वायु वहां आजायगा। आजकल के वैज्ञानिकों ने चाहा कि धर्म की मुश्कें बांध कर संसार से बाहर फेंक देना चाहिये या जलाकर भस्म कर देना चाहिये। इस काम के लिये कलें तैय्यार की गईं, सेनायें इकट्ठी की गईं और अत्यन्त परिश्रम किये गये। कुछ वैज्ञानिकों ने तो यह समझा कि हम को पूरी सफलता हो गई। न केवल हमने धर्म का वृक्ष ही नष्ट कर दिया किन्तु

उसकी जड़ों को भी मट्ठा पिला दिया। अब यह कभी हरा भरा होने का ही नहीं। १६०१ ई० के जनवरी मास में फ्रांस देश के प्रसिद्ध विद्वान वर्थोंले (Berthollet) ने एक व्याख्यान दिया था जिस में उन्होंने बताया था कि

" The day of religion has passed and religion must now be replaced by science."

अर्थात् अब धर्म के दिन चले गये। अब धर्म के स्थान पर विज्ञान का राज्य होगा। उनका कथन है:—

"There were formerly two motors moving humanity: Force and Religion: but that these motors have now become superfluous, for in their place we have *sceince*."

अर्थात् प्राचीन युग में दो शक्तियां थीं जिनका प्रभाव मानवजाति पर पड़ता था-एक बल और दूसरा धर्म। अब यह दोनों शक्तियां अनावश्यक हो गईं क्योंकि इन दोनों का स्थान विज्ञान ने ले लिया।

रूस के प्रसिद्ध विद्वान और तपस्वी कौण्ट लियो टौलस्टोय (Count Leo Tolstoy) ने इस युग के भावों को इस प्रकार प्रकट किया है :—

" Religion is obsolete : belief in anything but science is ignorance. Science will arrange all that is needful and one must be guided in life by science alone." This is what is thought and said both by scientists themselves and also by those men of the crowd who, though far from scientific,

believe in the scientists and join them in asserting that religion is an obsolete superstition and that we must be guided in life by science only : that is, in reality by nothing at all ; for science, by reason of its very aim (which is to study all that exists) can afford no guidance for the life of man." *

अर्थात् 'धर्म का युग चला गया। विज्ञान के अतिरिक्त अन्य किसी बात पर विश्वास करना मूर्खता है। जिस किसी वस्तु की हम को आवश्यकता है वह सब विज्ञान से प्राप्त हो जाती है। मनुष्य के जीवन का प्रदर्शक केवल विज्ञान ही होना चाहिये।' यह विचार या कथन वैज्ञानिकों या उन साधारण मनुष्यों का है जिनको विज्ञान की तो गन्ध भी नहीं लगी परन्तु जिनका वैज्ञानिकों पर विश्वास है और जो वैज्ञानिकों के स्वर में स्वर मिला कर यह कहते हैं कि धर्म एक अनावश्यक ढोंग है और हमारे जीवन का प्रदर्शक केवल विज्ञान को ही होना चाहिये। इसका अर्थ यह है कि हमारे जीवन का प्रदर्शक किसी को भी न होना चाहिये क्योंकि विज्ञान का स्वयं इतना ही उद्देश्य है कि उन सब वस्तुओं का अध्ययन करे जो वर्त्तमान हैं। इसलिये विज्ञान कभी मनुष्य के जीवन का पथ प्रदर्शक हो ही नहीं सकता।

टौल्स्टाय महोदय का तात्पर्य यह है कि जो धर्म को बहिष्कृत करके केवल विज्ञान (भौतिक विज्ञान) को ही

*" What is religion ? " by Count Leo Tolstoy.

अपने जीवन का पथ प्रदर्शक बनाना चाहते हैं वह बहुत बड़ी भूल करते हैं क्योंकि भौतिक विज्ञान केवल उन बातों की मीमांसा करता है जो वर्त्तमान काल में उपस्थित हैं। वह जीवन की अगणित आनेवाली समस्याओं के समाधान की योग्यता नहीं रखता क्योंकि वैज्ञानिक लोग स्वयं इन प्रश्नों को अपने अधिकार से बाहर समझते हैं।

टौल्स्टाय महाशय ने अपनी पुस्तक "धर्म क्या है?" (What is Religion?) में एक विचित्र बात और दर्शायी है वह यह कि जब कभी वैज्ञानिकों अथवा उनके अन्ध विश्वासी अनुयाइयों ने (जिस प्रकार धर्माधिकारियों के अन्ध विश्वासी अनुयायी होते हैं इसी प्रकार वैज्ञानिकों के भी। इस में कोई आश्चर्य की बात नहीं है) धर्म को बहिष्कृत करने का यत्न किया तो वह धर्म को बहिष्कृत न कर सके किन्तु एक नीच कोटि के धर्म के उपासक हो गये। यह बात इतिहास से भी सिद्ध होती है। वर्त्तमान काल में पाश्चात्य देशों में सभ्यता के नाम पर धर्म को बहिष्कृत करने का बहुत कुछ उद्योग हो रहा है। परन्तु वही लोग जो धर्म को अन्ध विश्वास कह कर तिरस्कृत करते हैं सैकड़ों ऊटपटांग बातों पर विश्वास करने लग जाते हैं जिनका उच्च कोटि के धर्म अथवा विज्ञान से कोई भी सम्बन्ध नहीं है। भारतवर्ष में भी हमने देखा है कि कई बड़े आदमी जो धर्म की बहुत सी बातों को ढोंग कह कर त्याग देते हैं मृत आत्माओं को बुलाने, उनसे भावी बातों के विषय में पूछने, उनपर विश्वास करने आदि भ्रम मूलक बातों में फंस जाते हैं।

हम यहाँ टौल्स्टाय का कथन ही उद्धृत करते हैं:—

Though there never was an age when or a place where men lived without a religion, yet the learned men of to-day say, like Moliere's 'In voluntary Doctor' who asserted that the liver is on the left side: *Nous avons change tout cela* (We have changed all that), and they think that we can and should live without any religion. But nevertheless, religion remains what it has been in the past: the chief motor and heart of human societies : and without it, as without a heart, human life is impossible. There have been, and there are, many different religions—for the expression of man's relation to the Infinite and to God, or to the Gods, differs at different times and in different places, according to the stages of development of different nations—but never in any society of men, since men first became rational creatures, could they live, or have they lived without a religion. "*

" यद्यपि कभी कोई समय या देश ऐसा नहीं था जब या जहां मनुष्य बिना किसी धर्म के रह सका हो तथापि आज कल के विद्वानों का कथन और विश्वास है कि हम बिना धर्म के रह सकते हैं और हम को रहना चाहिये। परन्तु

---

* Tolstoy's "What is Religion."

धर्म आज कल भी प्राचीन काल के समान ही बना हुआ है अर्थात् वह मानवजाति का संचालक और हृदय है। जिस प्रकार बिना हृदय के मनुष्य जीवन असम्भव है उसी प्रकार बिना धर्म के भी मनुष्य जीवन असम्भव ही है। पहले भी भिन्न २ देशों में भिन्न २ जातियों की उन्नति की अवस्था भिन्न २ होने के कारण अनन्त शक्ति, ईश्वर या देवी देवताओं के सम्बन्ध में मनुष्य के भाव भी बदलते रहे हैं परन्तु जब से मनुष्य मनुष्य (समझदार) हुआ है उस समय से आज तक न कभी वह धर्म के बिना रह सका और न रह सकता है।"

फ़्लिण्ट (Flint) ने अपनी 'आस्तिकता' नामी पुस्तक में लिखा है—

"Religion is certainly a very large phenomenon. It is practically coextensive, indeed, with human life and history. It is doubtful if any people, any age, has been without some religion. And religion has not only in some form existed almost wherever man has existed, but its existence has to a great extent influenced his whole existence. The religion of a people colours its entire civilization; its action may be traced on industry, art, literature, science and philosophy in all their stages." *

---

* Flint's Theism, page 4.

"वस्तुतः धर्म एक विशाल शक्ति है। सचमुच यह मानवी जीवन और मानवी इतिहास के समानान्तर चलता है। यह एक सन्दिग्ध बात है कि किसी देश या किसी समय के मनुष्य कभी बिना धर्म के रहे हों। न केवल यही बात है कि जहाँ कहीं मनुष्य रहा वहाँ किसी न किसी प्रकार का धर्म अवश्य रहा अधिकन्तु उस धर्म ने उन मनुष्यों के जीवन पर भी बहुत बड़ा प्रभाव डाला। किसी जाति की सभ्यता उसके धर्म से सर्वथा रंगी होती है। कला कौशल, साहित्य, विज्ञान, दर्शन शास्त्र सभी पर और उनकी प्रत्येक अवस्था में धर्म का प्रभाव देखा गया है।"

कुछ लोगों का धर्म की व्यापकता पर विश्वास नहीं है। उन्होंने यह दिखलाने की कोशिश की है कि बहुत सी असभ्य जातियों के पास किसी प्रकार का धर्म नहीं था। मैक्समूलर महोदय ने अपनी पुस्तक "सायंस आफ़ रिलीजन्स" (Science of Religions) में इस प्रकार की कुछ साक्षियाँ दी हैं। जैसे कप्तान गार्डीनर (Gardiner) ने १८३५ ई० में जूलू (अफ्रीका की जंगली) जाति के लोगों में जाकर निम्नलिखित वार्त्तालाप किया:—

"Have you any knowledge of the power by whom the world was made? When you see the sun rising and setting and the trees growing, do you know who made them and who governs them?"

क्या तुम को उस शक्ति का भी कुछ ज्ञान है जिसने संसार बनाया है? जब तुम देखते हो कि सूर्य्य निकला और

डूबा, या वृक्ष उगे तो क्या तुम जानते हो कि इनको किसने बनाया और कौन इन पर शासन करता है।

Tpai, a zulu (after a little pause, apparently deep in thought.)—" No; we see them, but cannot tell how they come, we suppose that they come of themselves."

ट्पाई नामक एक ज़ूलू ने विचार में निमग्न होकर और कुछ सोचकर उत्तर दिया " नहीं, हम इनको देखते हैं परन्तु यह नहीं जानते कि वह कैसे आ जाते हैं। हमारा विचार है कि वह अपने आप आ जाते हैं "।

A.—" To whom then do you attribute your success or failure in war ? "

तो तुम युद्ध की हार जीत का कारण किसको समझते हो ?

Tpai—" When we are not successful and do not take cattle, we think our father (Itongo) has not looked upon us."

ट्पाई का उत्तर—जब हम हार जाते हैं और पशुओं को नहीं छीन पाते तो समझते है कि हमारे बाप इटोंगो ने हम पर कृपा दृष्टि नहीं की।

A.—"Do you think your father's spirits (Amatongo) made the world ? "

प्रश्न—क्या तुम समझते हो कि तुम्हारे बाप की आत्माओं (अमाटोंगो) ने संसार बनाया है ?

Tpai. : No.

टूपाई—नहीं

A.—" Where do you suppose the spirit of man goes after it leaves the body ?"

प्रश्न—क्या तुम जानते हो कि मनुष्य का आत्मा शरीर छोड़ कर कहां जाता है ?

Tpai.—"We cannot tell."

टूपाई—हम नहीं बता सकते ।

A.—"Do you think it lives for ever ? "

प्रश्न - क्या तुम समझते हो कि वह सदैव रहता है ।

Tpai.—" That we cannot tell ; we believe that the spirit of our fore-fathers looks upon us when we go to war, but we do not think about it at any other time."

टूपाई—हम नहीं बता सकते । हमारा विश्वास है कि जब हम लड़ाई पर जाते हैं तो हमारे पूर्वजों के आत्मा हमारे ऊपर कृपा दृष्टि रखते हैं । परन्तु अन्य किसी समय हमको इसका ध्यान नहीं आता ।*

इस से कप्तान गार्डीनर ने यह परिणाम निकाला कि अफ्रीका की ज़ूलू जाति के पास किसी प्रकार का भी धर्म नहीं है । यदि यह बात सच है तो हमारे उस कथन का खण्डन हो जाता है कि धर्म सर्वव्यापक है और मनुष्य जाति की प्रत्येक अवस्था में उसके साथ रहता है । परन्तु मैक्समूलर महोदय कप्तान गार्डीनर की साक्षी

* Maxmuller's 'Science of Religion' pp. 44.

को विश्वसनीय नहीं समझते। वह कहते हैं कि एकाकी किसी श्वेत रंग के मनुष्य का असभ्य जातियों के मध्य में जाकर बिना उनकी बोली पर आधिपत्य प्राप्त किये हुये दो चार प्रश्नों के उत्तर से कोई परिणाम निकालना ठीक नहीं है क्योंकि बहुत सी असभ्य जातियां श्वेत रंग वालों से डरती हैं और उनके प्रश्नों का यथोचित उत्तर यातो दे नहीं सकतीं या देना नहीं चाहतीं। यह बात अधिकांश में ठीक है। न केवल असभ्य ही किन्तु भारतवर्ष की सभ्य जातियों के ग्रामीण पुरुष जिनको धर्म के विषय में कम से कम इतना ही ज्ञान है जितना किसी ईसाई को हो सकता है अपने भावों को श्वेत रंग के मनुष्यों पर स्पष्टतया प्रकट करना नहीं चाहते। वह डरते हैं कि न जाने आगे इस साधारण वार्त्तालाप का क्या परिणाम निकले।

प्रोफेसर मैक्समूलर का यह विचार सत्य था क्योंकि रेवेरेण्ड डाक्टर कौलेवे (Callaway) नामी एक पादरी जूलू जाति के मध्य में बहुत दिनों तक रहा और उसकी बोली को भली प्रकार बोलने तथा समझने लगा तो उसको मालूम हुआ कि जूलू जाति धर्म से शून्य न थी। उनका विश्वास है कि प्रत्येक घराने का एक पूर्वज था और फिर समस्त मानवजाति का एक पूर्वज था जिसका नाम उन्होंने उनकुलंकुलू (Unkulunkulu) बताया। 'उनकुलंकुलू' शब्द का जूलू भाषा का अर्थ है ' प्रपितामह '। सम्भव है इस शब्द को कोई दूरस्थ सम्बन्ध संस्कृत के 'कुल' शब्द से हो। जब उनसे पूछा गया कि 'उनकुलंकुलू' का बाप कौन था तो उन्होंने उत्तर दिया कि 'वह बांस में से निकला था' (branch-

-ed off from a reed) जूलू भाषा में 'बांस' के लिये 'उथलङ्ग (Uthlanga) शब्द है। बाप को सन्तान का 'उथलङ्ग' कहते हैं क्योंकि जैसे बांस में से कुल्ले फूटते हैं इसी प्रकार बाप से सन्तान की उत्पत्ति होती है। डाक्टर कौलैवे का विचार है कि 'उथलङ्ग' का वास्तविक अर्थ कोई और होगा। अब लोग उस अर्थ को भूल गये। केवल शब्द शेष रह गया। प्रो० मैक्समूलर कहते हैं कि सम्भव है कि जिस प्रकार संस्कृत का 'वंश' शब्द 'बांस' और 'कुल' दोनों अर्थों में आता है। इसी प्रकार की कुछ गड़बड़ 'उथलङ्ग' शब्द के साथ भी हुई है।

डाक्टर कौलैवे से एक जूलू ने कहा कि यह ठीक नहीं है कि हमने स्वर्गीय राजा का नाम पहले पहल गोरे आदमियों से सुना हो। गर्मियों में जब बादल गरजता है तो हम कहते हैं 'राजा (ईश्वर) खेल रहा है'। यदि कोई डरता है तो बड़े लोग उस से कहते हैं "तुम क्यों डरते हो तुम ने राजा (ईश्वर) का क्या खाया है ?" एक दूसरे बुड्ढे आदमी ने कहा कि जब हम बच्चे थे तो यही सुना करते थे कि 'राजा स्वर्ग में हैं (The king is in Heaven.)" हम अपने बचपने में यही सुना करते थे कि राजा ऊपर है। हम उस का नाम नहीं जानते। हमने केवल यही सुना था कि राजा ऊपर हैं। हम ने यह भी सुना था कि संसार का पैदा करने वाला उंदबूको (Umdabuko) राजा है, जो ऊपर है।"

एक बुड्ढी स्त्री ने कहा " जब हम पूछते थे कि अन्न कहां से आता है तो वृद्ध जन कहते थे ' जिसने सब संसार बनाया उसी ने अन्न भी बनाया। परन्तु हम उसका नाम नहीं जानते'

जब पूछा जाता कि 'ईश्वर कहां है। हम उसको क्यों नहीं देखते ?' तो वृद्ध लोग उत्तर देते 'वह स्वर्ग में है वह राजों का राजा है,' जब कोई पशु बिजली से मर जाता तो लोग कहते 'देव उसको गांव से ले गया'।

एक और बुड्ढे आदमी ने बताया "हमारे पूर्वजों का विचार ऐसा था कि एक उनकुलंकुलू है जो आदमी है और पृथ्वी पर रहता है और एक राजा है जो स्वर्ग में रहता है, और जीवन का मूल स्वर्ग में हैं यही मनुष्यों को जीवन देता है," पहले लोगों का विचार था कि राजा मेंह बरसाता है, वही सूरज निकालता है। वही चांद निकालता है जिसकी रात में सफ़ेद रोशनी होती है जिससे मनुष्य चल सकें और उनको हानि न पहुंचे"।

जब किसी पशु पर बिजली पड़ जाती तो बिना दुख प्रकट किये हुये लोग कहते "राजा ने इसे अपने खाने के लिये मारा है। क्या यह तुम्हारा है? क्या यह राजा का नहीं है। वह भूखा है। इस लिये वह अपने लिये मारता है," जब कोई आदमी बिजली से मरता तो लोग कहते "राजा ने इसको अपराधी समझा है।"

संसार के रचयिता का जूलू भाषा का नाम इटोंगो (Itongo) भी है। एक जूलू ने कहा। "इटोंगों का यह अर्थ नहीं है कि वह कोई आदमी हो और मर कर उठा हो। इटोंगो का अर्थ है वह शक्ति जो पृथ्वी को धारण किये हुये है जिस पर मनुष्य और पशु चलते हैं। पृथ्वी हमारा आधार है क्योंकि हम उस पर रहते हैं। परन्तु पृथ्वी का भी एक

आधार* है जिसके सहारे हम जीते हैं, जिसके बिना हम नहीं जी सकते और जिसके कारण हम जीते हैं"।

इस पर मैक्समूलर महोदय टिप्पणी लगाते हैं कि "Thus we find among a people who were said to be without any religious life, without any idea of a Divine power, that some of the most essential elements of religion are fully developed—a belief in an invisible God, the creator of all things, residing in heaven, sending rain and hail and thunder, punishing the wicked and claiming his sacrifice from among the cattle on a thousand hills. This shows how careful we should be before we accept purely negative evidence of the religion or the absence of all religion among savage tribes." †

"इस प्रकार हम को पता लगता है कि जिस जाति को हम धार्मिक जीवन और ईश्वर सम्बन्धी विचारों से सर्वथा शून्य समझते थे उसमें भी धर्म के बहुत से आवश्यक अंग उपस्थित हैं—अर्थात् अगोचर ईश्वर पर विश्वास, जो सब का रचयिता है, स्वर्ग में रहता है, मेंह, ओला और बिजली भेजता है, अपराधियों को दण्ड देता है और सैकड़ों पहा-

* वेद में कहा है "सदाधार पृथिवीं द्यामुतेमाम्", ईश्वर इस पृथ्वी और द्यौलोक का आधार है।

† The science of Religion p. 186.

ड़ियों पर पशुओं में से अपने लिये बलि लेता है। इससे प्रकट होता है कि हम को जंगली जातियों के धर्म-शून्यता के विषय में निषेधात्मक साक्षी स्वीकार करने में कितना साव-धान होना चाहिये।"

हमने इन पृष्ठों में यह दिखलाने का यत्न किया है कि मानवी इतिहास की साक्षी के अनुसार संसार में कोई जाति कभी बिना धर्म के नहीं रही और न अब रह सकती है, धर्म की भूख मनुष्य मात्र के हृदय में है जिस प्रकार भूखे आदमी कभी उचित और कभी अनुचित खाने से भी पेट भर लेते हैं इसी प्रकार कभी कभी जातियाँ और व्यक्ति अपनी धर्म की भूख को उन चीज़ों से भी बुझाने का यत्न करते हैं जो वस्तुतः उनके लिये हानिकारक हैं। परन्तु जिस प्रकार बिना खाये मनुष्य रह नहीं सकता इसी प्रकार बिना धर्म के कोई जाति रह नहीं सकती। अकाल से पीड़ित मनुष्य रेत तक फांक जाते हैं। भूखी मातायें कभी २ अपने बच्चों को भून कर भी खा जाती हैं। भूख के समय सभ्य जातियाँ भी इष्ट-मित्रों को मारकर खा जाती हैं। परन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिये कि यदि उत्तम भोजन मिलता तो भी वह ऐसा ही करतीं या अनुचित भोजन उनको हानि नहीं पहुं-चाता। इससे हानि तो होती ही है परन्तु पेट नहीं मानता। उस खाली स्थान की पूर्त्ति के लिये कुछ तो चाहिये ही। इसी प्रकार धर्म की भूख से पीड़ित मनुष्य सत्य-धर्म की अनु-पस्थिति में अनेक रोमांचकारी साधनों से धर्म की प्यास को बुझाने का यत्न करता है और उनसे हानि भी उठाता है। परन्तु इस में सन्देह नहीं कि वह बिना धर्म के

किसी काल के लिये भी जीवित नहीं रह सकता । "It is one of the most undeniable facts of psychology that the average man can as little exist out of a religious element of some kind, as a fish out of the water." (M. Blavatsky's Isis Unvieled vol. 2. page 25.)

यह मनोविज्ञान का एक अखण्डनीय सिद्धान्त है कि जिस प्रकार मछली पानी के बाहर नहीं रह सकती उसी प्रकार साधारण मनुष्य भी किसी प्रकार के धर्म के बाहर नहीं रह सकता। (मेडम ब्लेवेट्स्की)

आजकल धर्म से लोग क्यों घृणा करते हैं ? इसके दो मूल कारण हैं। एक तो धर्म के नाम पर अत्याचार दूसरा फैशन अथवा अन्धानुकरण, जब विचारशील मनुष्य देखते हैं कि धर्म के नाम पर आये दिन सहस्रों उपद्रव होते रहते हैं लोग जीवित जला दिये जाते हैं, सैकड़ों पशुओं की हत्या होती है, जातियां एक दूसरे के रुधिर की प्यासी हो जाती हैं ; मानवी जीवन की शांति भंग हो जाती है तो उनको धर्म से एक प्रकार की घृणा हो जाती है। परन्तु उनकी यह घृणा उसी प्रकार की है जैसे कोई भूखे को रेत फांकता देख कर भोजन से घृणा करने लगे और कहना आरम्भ करदे कि भोजन के कारण इतने उपद्रव होते हैं कि अब मनुष्य को भोजन करना ही त्याग देना चाहिये। वस्तुतः उसका कर्तव्य तो यह था कि रेत फांकने वाले से कहता कि रेत उपयुक्त भोजन नहीं है। इसके स्थान पर रोटी खाओ। वस्तुतः यदि हम विचार करके देखें तो धर्म

के नाम पर जो सैकड़ों अत्याचार होते हैं उनका मूल कारण धर्म नहीं किन्तु अधर्म है जो धर्म का भेष बनाकर इतने अत्याचार करा रहा है। कल्पना कीजिये कि मैं अपने किसी शत्रु को परास्त करना चाहता हूं। मुझे मेरे साथी सहायता नहीं देते। यदि मैं उनके अज्ञान का लाभ उठाकर उनको उत्तेजित कर दूं कि उसका मारना धर्म है तो वह शीघ्र मेरी सहायता करने के लिये तैयार हो जायंगे। इतिहास इसका साक्षी है। औरङ्गजेब अपने भाई दारा को मारना चाहता था। वह अपनी इच्छा की पूर्ति में उस समय तक सफल नहीं हुआ, जब तक उसने यह कहना आरम्भ नहीं किया कि दारा धर्म का शत्रु है। वस्तुतः यहाँ धर्म नहीं किन्तु स्वार्थ ही युद्ध का कारण था। स्पेन और पुर्तगाल वाले चाहते थे कि दक्षिणी अमेरिका की जंगली जातियों का नाश करके स्वयं वहां रहने लगें। इसके लिये कोई बहाना चाहिये था। जंगली जातियां इनका कुछ नहीं बिगाड़ती थीं। आरम्भ में उन्होंने उनको पाहुना समझ कर उनकी शुश्रुषा भी की थी। ऐसे भले आदमियों के नाश के लिये कोई बहाना ढूंढ़ना आवश्यक था। अतः एक बार वहां की इंका जाति के एक सर्दार के पास एक पादरी गया और अपनी इंजील उसके हाथ में देकर कहने लगा "तुम को इसका कहना मानना चाहिये।" उस सर्दार ने किताब को अपने कान के पास रक्खा और यह कह कर फेंक दिया कि "यह तो कुछ नहीं कहती। मैं इसकी क्या बात मानूं?" बस फिर क्या था? यार लोगों को बहाना हाथ लग गया, "तुमने हमारे धर्म ग्रन्थ का अपमान किया है। तुम को दण्ड मिलेगा।" सभ्य

गोरी जाति उन पर टूट पड़ी और अपने अस्त्र शस्त्रों से उस जाति का बीज नाश कर दिया। अब मैं पूछता हूं कि इस उपद्रव का मूल कारण धर्म था या स्वार्थ। आजकल भारतवर्ष में हिन्दू मुसल्मानों में धर्म के नाम पर नित्य प्रति झगड़े होते रहते हैं। मुसल्मान कहते हैं कि यदि तुम ने मस्जिद के सामने बाजा बजाया तो हम तुम्हारा सिर फोड़ देंगे? क्यों? इसलिये कि बाजे से हमारी नमाज़ में विघ्न होता है। अब मैं पूछता हूं कि क्या इस उपद्रव का कारण नमाज़ है? कदापि नहीं। जो नमाज़ द्वारा ईश्वर का ध्यान करने बैठते हैं उन विचारों को यह भी पता नहीं लगता कि मस्जिद के सामने होकर मोटर निकली या बाजा बजा। हां जो नमाज़ आरम्भ करने से पहले इसी खोज में लगे रहते हैं कि देखें कोई हिन्दू बाजा तो नहीं बजाता उनको नमाज़ पढ़ने या ईश्वर का ध्यान करने का अवसर भी नहीं मिल सकता। नमाज़ वस्तुत बहाना है स्वार्थ या ज़िद का।

आयेदिन मन्दिरो मस्जिद के हैं झगड़े रहते।
दिल में ईंटें हैं भरी, लब पै ख़ुदा होता है॥

दूसरी बात यह याद रखनी चाहिये कि न केवल धर्म के नाम पर ही उपद्रव होते हैं किन्तु राजनीति के नाम पर भी सैकड़ों उपद्रव होते हैं। रोटी के नाम पर सैकड़ों झगड़े चलते हैं। यदि न्यायालयों या कारागारों में जाकर देखो तो ६६ प्रति शतक उदाहरण ऐसे ही मिलेंगे जिनमें उपद्रवों का कारण न धर्म था न धर्म का बहाना। सैकड़ों जातियों के युद्ध धर्म के लिये नहीं किन्तु राजनीति के लिये होते हैं।

१९१४ का यूरोप का महायुद्ध ऐसी जातियों के बीच में था जो एक ही धर्म को मानती थीं। यदि धर्म का बहाना करके किसी मन्दिर आदि में सैंकड़ों बकरे या भेड़े चढ़ाये जाते हैं तो विज्ञान का बहाना करके बायोलोजी की प्रयोग शाला में लाखों जीव जन्तुओं का नित्यप्रति ही प्राणान्त किया जाता है। और भोजन का बहाना करके करोड़ों पशुओं की गर्दनों पर नित्य छुरी चलाई जाती है। परन्तु कोई नहीं कहता कि जिस राजनीति के कारण इतने अत्याचार होते हैं उसको त्याग देना चाहिये। यदि तुम कहो कि सच्ची राजनीति ऐसा नहीं करती यह झूठी राजनीति है जो इतने उपद्रवों का कारण होती है तो हम भी ऐसा कह सकते हैं कि सच्चा धर्म उपद्रवों का कारण नहीं किन्तु झूठा धर्म ही ऐसा है।

धर्म के लिये घृणा का दूसरा कारण फैशन है: "महाजनो येन गतः स पन्था !" जो बात बड़े लोग कहें उसी को सर्वसाधारण भी कहने लगते हैं। एक बड़े आदमी ने कहा "धर्म के ढकोसले को छोड़ो। इससे उपद्रव होता है।" तो अन्य साधारण लोग भी यह सोचकर कि बड़े बनने का यही उपाय है उसी बात को अधिक वेग से दुहराने लगते हैं। यद्यपि आजकल के मौलिक वैज्ञानिक धर्म सम्बन्धी बातों पर किसी प्रकार की आलोचना नहीं करते। वह समझते हैं कि धर्म सम्बन्धी बातें उनके कार्य्य क्षेत्र से बाहर हैं, तथापि पहले कुछ वैज्ञानिकों ने धर्म को तिरस्कृत दृष्टि से देखा था, इसलिये कालिजों, विश्वविद्यालयों और उच्च संस्थाओं के संचालक अब भी उसी लकीर को पीटते जाते

हैं और विद्यार्थिवर्ग उनकी हां में हां मिला कर वैसा ही कहने लगता है। अब किसी कालेज का प्रिन्सिपल या प्रोफ़ेसर कहता है कि "ईश्वर प्रार्थना ढोंग है" तो लड़के भी बिना विचारे यही समझते हैं कि अवश्य यही बात ठीक है।

हम ने अब तक यह दिखाने का यत्न किया है कि धर्म एक सर्वव्यापक वस्तु है। हमारे पाठकगण कहेंगे कि तुमने धर्म के लक्षण तो किये ही नहीं। वस्तुतः हमने जानबूझ कर अब तक ऐसा नहीं किया। लक्षण वह है जिसमें अति व्याप्ति और अव्याप्ति दोष न हो। अतिव्याप्ति अथवा अव्याप्ति की जांच करने से पहले उस वस्तु से परिचय होना चाहिये। इसलिये हमने 'धर्म' के नाम से परिचय करा दिया। थोड़ा बहुत धर्म के विषय में सभी को ज्ञान है चाहे वह धर्म के पक्षपाती हों या उसके विरुद्ध। कम से कम इतना तो अवश्य है जितना तीन चार वर्ष के बच्चे को गाय का होता है। वह जानता है कि गाय क्या वस्तु है। वह गाय के पहचानने में कभी त्रुटि नहीं करता। हाँ, वह गाय के विषय में अन्य आवश्यक बातें नहीं जानता। इसी प्रकार थोड़ा बहुत सभी जानते हैं कि अमुक बात धर्म सम्बन्धी है और अमुक नहीं। रही गूढ़ बातें सो किसी कवि ने ठीक ही कहा है कि

धर्मस्य तत्वंनिहितं गुहायाम्।

अर्थात् धर्म का तत्व अत्यन्त गूढ़ है। इसका विवेचन हम आगे करेंगे।

धर्म संस्कृत शब्द है। संस्कृत साहित्य में इसके अनेक अर्थ हैं जिनसे हमारा प्रयोजन नहीं है, जैसे उदाहरण के

लिये योग दर्शन में पतञ्जलि मुनि धर्म के विषय में कहते हैं:-

योग्यतावच्छिन्ना धर्मिणः शक्तिरेवधर्मः।

अर्थात् धर्मी (जिसका धर्म हो) की योग्यतायुक्त शक्ति ही धर्म है। जैसे आग का धर्म जलाना है। वह नष्ट हो जाती है तो राख रह जाती है उस को कोई आग नहीं कहता। यहाँ धर्म का अर्थ है धारण करनेवाला (धरतीति धर्मः)। इसी अर्थ का आशय महाभारत में पाया जाता है:-

धारणाद्धर्ममित्याहुः धर्मो धारयते प्रजाः।
यत्स्याद् धारणसंयुक्तं स धर्म इति निश्चयः॥

धारण करने से इसका नाम 'धर्म' पड़ा। धर्म प्रजा को धारण करता है। जिससे धारण होता हो वह निश्चय करके 'धर्म' है। धर्म के विपक्षी कहेंगे कि यदि धर्म का इतना विस्तृत अर्थ लेते हो तो हम तुम्हारे सिद्धान्तों को न मानते हुये भी धर्म के विरुद्ध नहीं हैं क्योंकि यहां मनुष्यत्व का पर्याय ही धर्म है। उनका यह आक्षेप ठीक है क्योंकि उनको मनुष्यत्व से तो विरोध नहीं है।

इसी प्रकार यदि मनुजी के कहे हुये धर्म के दस लक्षण बताये जायँ जैसे

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥

तो इन लक्षणों की उपयोगिता को नास्तिक से नास्तिक भी स्वीकार कर लेगा। फिर भी झगड़ा वहीं का वहीं रहा।

यदि धर्म के यह लक्षण किये जायं कि

वेदप्रतिष्ठितं कर्म धर्मस्तन्मङ्गलं परम्।
प्रतिषिद्ध क्रियासाध्यः स गुणोऽधर्म उच्यते॥

"अर्थात् वेद विहित परम मङ्गलकारी कर्म ही धर्म है और उसके विपरीत अधर्म" तो इस पर वेदों पर विश्वास न रखने वाले लड़ पड़ेंगे। वह कहेंगे कि न तो तुम्हारा इस लक्षण वाला धर्म व्यापक ही है और न इससे हमारी संतुष्टि ही होती है। इसी प्रकार मनुजी का कहा हुआ श्लोक है।

श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्यच प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद् धर्मस्य लक्षणम्॥

यहां भी श्रुति और स्मृति पर ही बल दिया गया है जो सर्वमान्य नहीं हैं।

वैशेषिकाचार्य मुनि के कहे हुये

यतोऽभ्युदय निःश्रेयः सिद्धिः स धर्म्मः।

(अर्थात् जिस से लोक और परलोक की सिद्धि हो वह धर्म्म है) से कुछ काम चलता है परन्तु परलोक पर बहुत से लोग विश्वास नहीं करते।

फिर एक बात और है। धर्म शब्द के कई और अर्थ भी हैं जो हमारे विषय से कुछ सम्बन्ध नहीं रखते। जैसे 'मासिक धर्म' में धर्म का अर्थ ही 'नियम' है ; इसी प्रकार संस्कृत साहित्य में अनेक स्थानों में 'धर्म्माध्यक्ष' शब्द आता है। यहाँ धर्म का अर्थ केवल 'दान' या 'दान विभाग' है।

इसलिये हम 'धर्म' शब्द को प्रायः उसी अर्थ में प्रयुक्त करते हैं जिस में अङ्गरेजी का 'रिलीजन' (Religion) या फार्सी का मज़हब (مذہب) शब्द आता है। बहुत से लोगों

की सम्मति है और कई अंशों में ठीक सम्मति है कि संस्कृत के धर्म शब्द का पर्याय रिलीजन या मज़हब नहीं है और न रिलीजन या मज़हब का उचित पर्याय संस्कृत या हिन्दी भाषा में मिलता ही है। तथापि आजकल धर्म और रिलीजन समानार्थ हो गये हैं। साधारण जनता ही नहीं अधिकन्तु विद्वान लोग भी इनको पर्याय के समान समझने लगे हैं। अतः हम भी यहाँ 'धर्म' का यौगिक अर्थ न लेकर रूढि या योगरूढि अर्थ लेते हैं और ऊपर के पृष्ठों में हम ने जहाँ कहीं धर्म शब्द का प्रयोग किया है इसी अर्थ में किया है और इसी के अनुसार हम धर्म का लक्षण भी स्वयं अपना ही करेंगे।

मनुष्य का अपने से किसी उच्च अदृष्ट शक्ति पर विश्वास और उस विश्वास से प्रभावित व्यापार धर्म कहाता है। इस लक्षण के अनुसार धर्म एक सर्वव्यापक वस्तु है। यह सभ्य से सभ्य और असभ्य से असभ्य जाति में पाया जाता है। मानवजाति की कभी कोई ऐसी अवस्था नहीं हुई जब मनुष्य ने अपने से उच्च किसी शक्ति पर विश्वास न किया हो या उस विश्वास ने उसके जीवन पर कोई भी प्रभाव न डाला हो। कभी-कभी ऐसा तो हुआ है कि कुछ विद्वान व्यक्तियों ने ऐसी सत्ता के मानने से विरोध किया हो और अपने मत के पक्ष में युक्तियाँ भी दी हों परन्तु उनके व्यवहार से यही झलकता रहा कि वह किसी ऐसी शक्ति को मानते हैं। और वस्तुतः यदि ध्यान-पूर्वक देखा जाय तो पता लगेगा कि उनकी जीवन-यात्रा भी

उन नियमों के आधार पर चलती रही जो इस प्रकार के विश्वास के कारण संसार में व्यापक हो गये। उदाहरण के लिये जैनियों को लीजिये। जैनी लोग ईश्वर को नहीं मानते। परन्तु उनके मन्दिर, उनकी पूजा की विधि, उनके चाल चलन, उनके रीति व्यवहार, उनके सदाचार सम्बन्धी नियम सभी यह सूचित करते हैं कि उनको किसी ऐसी शक्ति पर विश्वास है जो मनुष्य जाति से उच्च है। सम्भव है कि इसके गुण सर्वथा वही न हों जो ईश्वर के माने जाते हैं। बहुत से मनुष्य हैं जिनकी समझ में पृथ्वी की आकर्षणशक्ति नहीं आती। परन्तु आकर्षणशक्ति इतनी व्यापक है कि वह उन लोगों के आचार व्यवहार पर भी प्रभाव डालती है। इसी प्रकार आस्तिकता अर्थात् किसी उच्च शक्ति पर विश्वास संसार में इतना व्यापक हो गया है कि थोड़े से नास्तिकों के व्यापार पर भी वह प्रभाव डाले बिना नहीं रहता। जो लोग यह मानते हैं कि पृथ्वी की आकर्षणशक्ति के बिना भी उनका काम चल सकता है और उनके चलने फिरने में किसी प्रकार की बाधा नहीं आती उनको ऐसे स्थान पर जीवन व्यतीत करके दिखाना चाहिये जहाँ पृथ्वी की आकर्षण शक्ति काम न करती हो। इसी प्रकार जो लोग यह मानते हैं कि आस्तिकता अथवा धर्म के प्रभाव के बिना भी हम मानवी जीवन को सदाचारयुक्त, यथेष्ट और सुखपूर्वक बना सकते हैं उनको ऐसी मानवी जाति का निर्माण करना चाहिये जो सर्वथा धार्मिक अथवा आस्तिकता के प्रभावों से वंचित हो। परन्तु जैसे वह स्थान ढूंढ़ना असम्भव है जहाँ पृथ्वी की आकर्षणशक्ति बिलकुल न हो इसी प्रकार ऐसी सोसाइटी बनाना भी

असम्भव है जो धार्मिक प्रभावों से सर्वथा मुक्त हो। बहुत से लोग डींगें मारा करते हैं कि धर्म के बिना भी हम सत्य, अस्तेय, आदि सदाचार सम्बन्धी नियम पाल सकते हैं। परन्तु यह उनकी डींग व्यर्थ हो जाती है जब हम यह सोचते हैं कि जिस समाज में वह रहते हैं उसमें धर्म सम्बन्धी नियम पहले से ही व्यापक हो रहे हैं। जिस प्रकार किसी सुप्रबन्धयुक्त राज्य में रह कर कोई यह डींगें मारे कि मैं बिना पुलिस की सहायता के भी रह सकता हूं तो उसकी यह डींग व्यर्थ होगी क्योंकि पुलिस का लोगों पर इतना प्रभाव पड़ा हुआ है कि लोग चोरी करते हुये डरते हैं। उसी प्रकार उन लोगों का हाल है कि आस्तिकता या धर्म के प्रभाव के बीच में रहते हुये अपने को उस प्रभाव से मुक्त बताने का साहस करते हैं।

हम ऊपर कह चुके हैं कि धर्म एक व्यापक विषय है। धर्म का मुख्य अङ्ग 'आस्तिकता' अर्थात् किसी "मनुष्य से अधिक उच्च शक्ति पर विश्वास" है। यह विश्वास चाहे भूतों पर हो चाहे प्रेतों पर। चाहे निराकार पर हो चाहे साकार पर। चाहे सर्व व्यापक पर हो चाहे एक देशीय पर। चाहे दयालु शक्ति पर हो चाहे क्रूर शक्ति पर। परन्तु है अवश्य। इसलिये यह कहना पड़ता है कि 'आस्तिकता' भी एक सर्व व्यापक वस्तु है। यह प्रत्येक देश और प्रत्येक काल के मनुष्यों में पाई जाती है। हम आगे के पृष्ठों में यह दिखलाने का यत्न करेंगे कि आस्तिकता का भाव भ्रम है या सत्य। परन्तु इस में सन्देह नहीं कि कोई इस भाव के अस्तित्व से इनकार नहीं कर सकता।

यहाँ दो आक्षेप शेष रहते हैं उनका निराकरण भी इसी स्थान पर होना उचित है। प्रथम तो यह है कि यदि आस्तिकता सर्वव्यापक है तो आस्तिकों का एक भाग दूसरों को नास्तिक क्यों कहता है। दूसरा आक्षेप यह है कि यदि आस्तिकता सर्वव्यापक है तो आस्तिक लोग उसके प्रचार का क्यों प्रयत्न करते हैं।

पहला आक्षेप करनेवालों का तात्पर्य यह है कि आस्तिकों का एक समूह दूसरों की न केवल निन्दा ही करता है किन्तु उनको नास्तिक भी मानता है। मुसल्मान लोग ईश्वर को मानते हैं परन्तु सभी इतर लोगों को काफ़िर कहते हैं। यही ईसाइयों का हाल है। हिन्दू लोग भी केवल हिन्दुओं को ही आस्तिक मानते हैं। मनुजी महाराज तो कहते हैं।

नास्तिको वेद निन्दकः

फिर यही नहीं। मुसल्मानों का एक फ़िर्क़ा दूसरे मुसल्मान फ़िर्क़ों को नास्तिक बताता है। स्वामी दयानन्द सरस्वती जी सत्यार्थ प्रकाश में नवीन वेदान्तियों को नास्तिक कोटि में रखते हैं। इस प्रकार यदि एक निर्पक्ष नास्तिक आस्तिकों के विषय में खोज करने लगे तो प्रत्येक आस्तिक को नास्तिक सिद्ध करने में ९९ आस्तिकों की साक्षी होगी। इस प्रकार जो लोग कहते हैं कि आस्तिकता मानव जाति के साथ समान व्यापी है उनकी प्रतिज्ञा असत्य ठहरेगी।

यह आक्षेप इतना बलिष्ठ नहीं है जितना देखने में प्रतीत होता है। हमने आस्तिकता के लक्षण ऊपर दिये हैं जिनमें अति व्याप्ति अव्याप्ति आदि दोष नहीं हैं अर्थात् " मनुष्य का

अपने से उच्च किसी अदृष्ट शक्ति पर विश्वास करना और उस शक्ति से अपने कार्यों को प्रभावित होने देना ही धर्म है"। और इस लक्षण का पूर्व भाग अर्थात् 'ऐसी शक्ति पर विश्वास' आस्तिकता है। यदि इस लक्षण पर ध्यान पूर्वक दृष्टि रक्खी जाय तो सभी जातियाँ 'आस्तिक' की कोटि में आ जायंगी। जब एक धर्म वाले दूसरे धर्म वालों को नास्तिक कहते हैं तो उनका तात्पर्य कुछ और होता है। वहाँ वह 'आस्तिकता' शब्द के भीतर उन छोटी से छोटी बातों को भी सम्मिलित कर लेते हैं जिनको वह करते या मानते हैं। प्रत्येक पुरुष को अधिकार है कि वह विशेष शब्द का अपने लेखों में क्या अर्थ ले। उदाहरण के लिये 'मनुष्य' शब्द पर विचार कीजिये। असभ्य से असभ्य जातियाँ भी सामान्य अर्थ में 'मनुष्य' कहलाती है। परन्तु यदि 'मनुष्य' का अर्थ 'विचारशील' का किया जाय और 'विचारशील' शब्द का भी एक विशेष अर्थ लिया जाय तो संसार में दो चार मनुष्य ही मिलेंगे। शेष को किस नाम से पुकारा जाय यह जानना कठिन होगा।

दूसरा आक्षेप यह है कि यदि आस्तिकता इतनी ही सर्व व्यापक वस्तु है तो आस्तिक लोग पैर फैलाकर सोवें। उनको क्या ज़रूरत है कि नास्तिकों का खण्डन किया करें। इसका उत्तर एक प्रकार से हमारे पहले पृष्ठों में आ गया है। हम यह मानते हैं और इतिहास भी यही सिद्ध करता है कि मानव जाति में आस्तिकता का बीज रूप है। परन्तु उसका प्रादुर्भाव भिन्न २ स्थानों और देशों में भिन्न २ दिखाई पड़ता है। अग्नि सर्वव्यापक है परन्तु उससे काम लेने के लिये उसके विशेष प्रादुर्भाव की आवश्यकता होती है, जिस कागज़ पर

लिखता हूँ उसमें भी अग्नि उपस्थित है परन्तु उस अग्नि से मेरा खाना नहीं पक सकता। इसी प्रकार यह भाव तो प्रत्येक मनुष्य के हृदय में पाया जाता है कि मुझ से उच्च कोई शक्ति संसार में उपस्थित है। परन्तु यही भाव भिन्न २ मनुष्यों के हृदयों में भिन्न २ स्थितियाँ उत्पन्न करता है। वह शक्ति क्या है? उसमें क्या गुण है? उसका स्वभाव कैसा है? उस शक्ति का हमारे कार्य्यों पर क्या प्रभाव पड़ता है? उस शक्ति का हमारे साथ क्या सम्बन्ध है? हमें उसको सन्तुष्ट करने की आवश्यकता है या नहीं? इन प्रश्नों पर भिन्न २ मत हैं और इस भिन्नता का परिणाम यह है कि जो आस्तिक एक दूसरे के मित्र होने चाहिये थे परस्पर शत्रु हो रहे हैं। एक आस्तिक कहता है कि उस शक्ति के सन्तुष्ट करने के लिये गाय की कुर्बानी करनी चाहिये। दूसरा कहता है कि मनुष्य की भी कुर्बानी करनी चाहिये। तीसरा कहता है कि यदि तुमने जान बूझकर एक चींटी की भी हत्या की तो वह शक्ति तुम से महारुष्ट हो जायगी। एक कहता है कि यह शक्ति अदृष्ट है अतः हम उसकी काल्पनिक मूर्त्तियाँ बना कर पूजेंगे और अपने तन मन और धन को उसी के अर्पण कर देंगे। दूसरा कहता है कि उस अदृष्ट शक्ति की मूर्त्ति बनाना और उसके आगे सिर झुकाना महान पातकों में से एक है। इतने भिन्न २ मत क्यों हैं? केवल इसलिये कि उस अदृष्ट शक्ति के विषय में भिन्न २ प्राणी भिन्न २ विचार रखते हैं। वह उस शक्ति से छुटकारा तो पा नहीं सकते। क्योंकि उसका भाव बीज मात्र प्रत्येक मनुष्य के हृदय में है। केवल आगे के लिये विचार नहीं करते या भिन्न २ प्रकार से विचार करते हैं।

फिर यह सोचिये कि नास्तिक लोग क्या करते हैं। वह एक आस्तिक के मत के द्वारा दूसरे आस्तिक के मत का खण्डन करते हैं और इस प्रकार चाहते हैं कि आस्तिकता से छुटकारा पा जायँ परन्तु आस्तिकता मृत्यु पर्य्यन्त उनका पीछा नहीं छोड़ती, वह डींग मारा करें कि हम अपने से उच्च किसी शक्ति पर विश्वास नहीं करते। परन्तु जब मरने का समय आता है और वह अपनी इच्छा के विरुद्ध अपने प्रिय परिवार, प्रिय धन और प्रिय शरीर से निकलने पर मजबूर हो जाते हैं तो उनको अनुभव हुये बिना नहीं रहता कि हमसे भी ऊपर एक शक्ति है जिसके सामने हमारी कुछ नहीं चलती। कहते हैं कि ब्रैडला (Bradlaugh) महाशय जो इङ्गलैण्ड के बहुत बड़े नास्तिक थे और जिन्होंने एक समय मिसिस बीसेण्ट की सहकारिता में एक "नास्तिकता प्रचारिणी सभा" खोली थी जब मृत्यु शय्या पर पड़े तो उनको यह अनुभव होने लगा कि मैं एक अदृष्ट शक्ति की ओर खिंचा जा रहा हूं। यदि जीवन में उनको इसका अनुभव हो जाता तो वह इस शक्ति के विषय में अधिक सोच सकते। परन्तु उनको इसका अनुभव ऐसे समय हुआ जब कुछ बन न पड़ता था।

अब पछताये का होत जब चिड़ियाँ चुग गईं खेत।

आस्तिकों के परस्पर झगड़ों ने भी नास्तिकता का कुछ प्रचार किया है। पर बुद्धिमानों का यह काम नहीं है कि बिना सोचे विचारे जिस वस्तु का दोष है उसको दूषित न कह कर अन्य वस्तुओं को भी दूषित कहने लगें। कल्पना

कीजिये कि मैं जिस होल्डर से लिख रहा हूं उससे बुरा लिखा जाता है। क्योंकि उसका निब बुरा है। मुझे चाहिये कि केवल निब को बदल डालूं। यदि ऐसा न करके मैं समस्त होल्डर को तोड़ डालूं तो मेरी मूर्खता होगी। इसी प्रकार यह देखना चाहिये कि आस्तिकों के परस्पर झगड़ों का मुख्य कारण क्या है और उसी कारण को दूर करने का यत्न करना चाहिये। जो वैद्य रोग के निवारण का उपाय यही समझता है कि रोगी को भी समाप्त कर दिया जाय उससे अधिक मूर्ख कौन होगा।

अब तक हमने केवल यह सिद्ध करने की कोशिश की है कि धर्म भाव या आस्तिक भाव सभी मनुष्यों में बीज रूप से विद्यमान है। आगे के पृष्ठों में हम प्रमाण देंगे कि वस्तुतः आस्तिकता का भाव ठीक है। यह भ्रम नहीं है।

———

दूसरा अध्याय

मनुष्य अल्प है

उण्ट टौल्स्टायने अपनी " धर्म क्या है " (What is Religion) नामक पुस्तक लिखा है कि 'Every religion regards men as equally insignificant compared to Infinity' अर्थात् प्रत्येक धर्म में यह माना गया है कि अनन्त शक्ति की अपेक्षा मनुष्य तुच्छ है। बहुत से नास्तिकों को यह बात बुरी लगती है, और है भी यह कुछ अंश में ठीक। आत्म-गौरव रखने वाला मनुष्य अपने को किसी से तुच्छ क्यों समझे। बहुत से लोगों का यह आक्षेप है कि धर्म ने मनुष्य को नपुंसक बना दिया है। धर्म की पहली शिक्षा यही है कि मनुष्य तुच्छ है और इसको ईश्वर की शक्ति पर विश्वास करना चाहिये। इस शिक्षा का प्रभाव यह होता है कि अपनी तुच्छता को सोचते सोचते मनुष्य तुच्छ ही हो जाता है और संसार में कोई महान् कार्य नहीं कर सकता। जो लोग सोचते हैं कि हम सब कुछ कर सकते हैं वह सब कुछ कर भी डालते हैं।

हम इस मत से सर्वांश में सहमत नहीं हैं। जहां मनुष्य अपनी वास्तविक शक्तियों को न समझ कर नीच श्रेणी को प्राप्त हो जाता है वहां बहुत से मनुष्य अपनी शक्ति को कई

गुना समझ कर हानि उठा बैठते हैं। जो मनुष्य चार रुपयों का स्वामी होकर अपने को लखपति समझता है वह अवश्य हानि उठावेगा। इसलिये बिना झूठे आत्मगौरव या झूठी तुच्छता का सोच किये हुये हमको मनुष्य की वास्तविक शक्तियों का पता लगाना चाहिये। शक्ति से कम काम करने से शक्ति व्यर्थ जाती है और शक्ति से अधिक कार्य उठा लेने से विफलता होती है. अच्छा यह है कि मनुष्य को अपनी यथार्थ शक्ति का ज्ञान हो जाय।

संसार के क्रम पर दृष्टिपात करनेसे दो वस्तुयें मिलती हैं। एक चेतन और दूसरी जड़, चेतन से जड़ निर्बल है, चींटी बड़े बड़े मिट्टी के तूदों का काट डालती है। छोटे २ कीड़े पहाड़ों को तोड़ डालते हैं। छोटे छोटे पक्षी बड़े से बड़े वृक्षों को हिला देते हैं। इससे ज्ञात होता है कि जहां चेतनता है वहां बल है, वस्तुतः जड़ वस्तुओं में कुछ भी बल नहीं। उनमें भी बल चेतन से ही आता है. घोड़ा गाड़ी को खींचता है। इसलिये गाड़ी में बल नहीं किन्तु घोड़े में है। जड़ शरीर भी चेतन के सहारे ही चलता है, मरे हुये हाथी से जीवित चींटी बलवान है।

चेतन शक्तियों में मनुष्य की शक्ति सब से अधिक बलवती है। इसने सभी अन्य चेतन शक्तियों को अपने वश में कर रक्खा है। एक छोटा बच्चा हाथी की पीठ पर बैठकर उसको चला सकता है। सिंह जैसे क्रूर जन्तु भी मनुष्य के कहने पर चलते हैं। छोटे २ पशुओं का तो कुछ कहना ही नहीं, फिर जड़ शक्तियों पर भी मनुष्य का बहुत कुछ अधिकार है। जल मनुष्य का एक तुच्छ सेवक है। इससे वह न

केवल अपनी प्यास ही बुझाता या नौका ही चलाता है किन्तु बिजली आदि निकाल कर अनेक काम ले सकता है। वायु मनुष्य के कहने पर चलता है, आग इसकी सेवा के लिये सर्वदा उद्यत रहती है। रेल, तार, वायुयान, जलयान यह सब मनुष्य की शक्ति के सूचक हैं। यद्यपि अन्य पशु पक्षी आदि जीवित शक्तियाँ भी सृष्टि में बहुत कुछ परिवर्तन करती हैं तथापि जो परिवर्तन मनुष्य द्वारा होता है वह विचित्र ही है। सिंह जंगल का राजा है, परन्तु वह जंगल को उसी प्रकार छोड़कर मरता है जैसा उसने उसे अपने जन्म के समय पाया था। इसके विपरीत मनुष्य ने सृष्टि के रूप को ही बदल दिया है, समुद्र पाट दिये, पहाड़ काटडाले, नदियों पर पुल बांध दिये और उनके बहाव को बदल दिया, जंगल काट कर बड़े बड़े नगर बसा दिये। थल के स्थान पर जल कर दिया, और जलाशयों को थल के रूप में परिवर्तित कर दिया। सारांश यह है कि मनुष्य की शक्ति का व्यापार संसार के प्रत्येक कोने में दृष्टि गोचर होता है। इसके समान संसार की कोई वस्तु भी वलवान नहीं। यह सब से अधिक बलवान है, अपने इस बल को ओर दृष्टिपात करने से मनुष्य के हृदय में बड़ा भारी अभिमान उत्पन्न होता है। वह समझता है कि मेरी बराबर संसार में कोई नहीं, मैं सृष्टि का स्वामी हूं, मैं सब कुछ कर सकता हूं, मेरे अधिकार में सभी कुछ है।

परन्तु यदि विचार पूर्वक देखा जाय तो मनुष्य का ऐसा समझना उसकी बड़ी भारी भूल है। यद्यपि अन्य प्राणियों की अपेक्षा मनुष्य में अधिक ज्ञान और इसलिये अधिक शक्ति

है तथापि प्रत्येक बात में संसार की समस्त शक्तियों को देखते हुये उसकी शक्तियां अल्प हैं, उसका प्रभुत्व भी अपरिमित नहीं है, उसके ज्ञान की भी सीमा है। उसके पराक्रम भी एक मर्य्यादा से बाहर नहीं जा सकते।

सब से प्रथम शारीरिक दशा पर विचार कीजिये। मनुष्य संसार के सब से बलिष्ट प्राणियों में नहीं है; सैकड़ों जन्तु उससे अधिक बलवान हैं। उसकी इन्द्रियों की शक्ति भी अल्प ही है, न तो वह आंख से ही बहुत दूर तक देख सकता है न पैरों से ही हिरन के समान भाग सकता है। न हाथी के बराबर बोझ ही ढो सकता है। फिर उसकी आंख जो कुछ देखती है उससे भी अति अल्प ज्ञान होता है। पचासों प्रकार की आकृतियां तथा रंग उसे दिखाई नहीं पड़ते। सैकड़ों प्रकार के शब्दों को वह सुन नहीं सकता। जिस ज्ञान पर उसे इतना अभिमान है कि मैं बलिष्ठ से बलिष्ठ प्राणियों को दास बना सकता हूँ और दूर से दूर अपनी शक्ति का प्रभाव पहुंचा सकता हूँ, वह ज्ञान भी उसका इतना अल्प है कि उसे न सर्वज्ञ ही कह सकते हैं न बहुज्ञ। जो बात वह जानना चाहता है उससे अधिक जानने के लिये शेष रह जाती है। किसी निम्नस्थान में खड़ा हुआ मनुष्य चारों ओर देखकर छोटी सी क्षितिज को ही संसार की सीमा समझता है। परन्तु जितना जितना वह ऊंचे स्थान पर चढ़ता जाता है उतना उतना ही वह समझता है कि क्षितिज बड़ा है, इसी प्रकार जितना जितना मनुष्य का ज्ञान बढ़ जाता है उतना उतना वह यह अनुभव करता है कि मुझे अभी बहुत ज्ञान प्राप्त करना है। छोटी कक्षा का विद्यार्थी वर्णमाला को ही

विद्या की इति श्री समझता है उसका विचार यही होता है कि ज्यों ही मैंने इस पुस्तक को समाप्त कर लिया मैं विद्वान् हो जाऊंगा परन्तु विद्यालय की उच्चतम कक्षा के विद्यार्थी को इसी परिणाम पर पहुंचना पड़ता है कि मैंने अभी कुछ नहीं सीखा। कहते हैं कि न्यूटन (Newton) विद्वान् यही कहा करता था कि ज्ञान का अपार सागर मेरे सामने बह रहा है और मैं उसके तट पर केवल कंकड़ियां ही चुन रहा हूं। भारतवर्ष के उपनिषद्कार सत्य ही कहते थे कि

अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्।

बुद्धिमानों के लिये अज्ञात है और मूर्खों के लिये ज्ञात। यों तो संसार का प्रत्येक मूर्ख समझता है कि संसार की बुद्धि-राशि का आधा उसके पास है और आधा शेष संसार में बंटा हुआ है परन्तु उन विद्वानों से जो भिन्न २ शास्त्रों के वेत्ता कहे जाते हैं पूछो तो सही कि वह क्या कहते हैं। क्या सभी यही नहीं कहते कि हमको अपने शास्त्रों के विषय में बहुत कम ज्ञान है। मनोविज्ञान (Psychology) के धुरन्धर विद्वान् से पूछो और वह कहेगा कि यद्यपि मैंने और मेरे पूर्वजों ने सहस्रों वर्ष के प्रयत्न से मानवी मन के विषय में बहुत कुछ ज्ञान प्राप्त कर लिया है तथापि जितना हम को मालूम है उसकी अपेक्षा कई गुना मालूम नहीं है। बड़े २ चिकित्सक पुराने अनुभव का लाभ उठा कर और अपनी समस्त आयु खर्च करके भी इसी परिणाम पर पहुंचते हैं कि हम को शरीर का बहुत कम ज्ञान है। कोई न कोई रोग ऐसा आ जाता है जो उनके समस्त ज्ञान को अज्ञान में परिवर्त्तित कर

देता है और वह समझने लगते हैं कि जो कुछ अब तक जाना था वह ठीक न था। शरीर के सहस्रों अङ्ग ऐसे हैं जिनका शरीर-विज्ञान-वेत्ताओं को पता तक नहीं। इसी प्रकार अन्य शास्त्रों का हाल है। परन्तु मनुष्य के अज्ञान की सीमा यहीं समाप्त नहीं हो जाती। जब हम यह विचार करते हैं कि एक शास्त्र का वेत्ता दूसरे शास्त्र के विषय में या तो कुछ नहीं जानता या बहुत कम जानता है तो हमारे आश्चर्य की सीमा ही नहीं रहती। वनस्पतिशास्त्र–वेत्ता को मनुष्य की आंख का कुछ भी ज्ञान नहीं और एक गणितज्ञ वनस्पतिशास्त्र से सर्वथा अनभिज्ञ है। एक कवि जो मानवजाति के समस्त विभागों की आलोचना करने में दक्ष है एक बांस की टोकरा नहीं बना सकता। और एक खगोल विद्या का पण्डित अपनी पैर की उंगली की छोटी सी फुंसी की औषधि नहीं जानता। फिर कैसे कह सकते हैं कि मनुष्य का ज्ञान बहुत है। हमने जो उदाहरण दिये हैं वह उन लोगों के हैं जो अपनी समस्त आयु को ज्ञान-वृद्धि के लिये अर्पण कर चुके हैं। कहते हैं कि हर्बर्ट स्पेंसर को अरस्तू से लेकर आधुनिक वैज्ञानिकों तक ने जितना ज्ञान प्राप्त किया वह सब मालूम था। परन्तु फिर भी हर्बर्ट स्पेंसर स्वयं कितना अल्पज्ञ था यह उसी की साक्षी से ज्ञात हो सकता है। जिस मानव जाति के उच्च से उच्च व्यक्ति जिनकी संख्या करोड़ों में एक से अधिक नहीं अपनी समस्त मास्तिष्किकशक्ति व्यय करके भी समस्त आयु भर में सृष्टि के ज्ञान का एक अल्पांश ही प्राप्त कर सकते हैं उसका क्या अधिकार है कि वह अपने ज्ञान पर अभिमान कर सके। फिर मनुष्य से अधिक बुद्धिमती तो

अन्य जाति है भी नहीं। जब सर्व प्राणिवर्ग की शिरोमणि जाति के शिरोमणि व्यक्तियों का यह हाल है तो मनुष्य की अल्पता में कोई सन्देह ही शेष नहीं रहता। फिर यदि देश और काल की सीमाओं पर विचार किया जाय तो और भी आश्चर्य होता है। बड़े से बड़ा विज्ञान वेत्ता यह नहीं जानता कि एक मिनिट के पश्चात् क्या होगा। या उसी समय उसकी पीठ के पीछे क्या हो रहा है। या उसी समय उसके पेट के भीतर क्या हो रहा है। बड़े से बड़ा वैद्य जो चिकित्सालय में सहस्रों रोगियों के महारोगों को अच्छा करने का दम भरता है यह नहीं जानता कि उसी के हृदय की गति किस प्रकार चल रही है या उसी के फेफड़ों में कौन सा रोग शनः शनैः प्रवेश कर रहा है।

जैसा मनुष्य का ज्ञान है वैसा ही इसका पराक्रम है। इस में सन्देह नहीं कि मनुष्य ने पृथ्वी के धरातल को बदल दिया परन्तु किस के बल से। केवल यही न कि संसार की वस्तुओं को देखा और उनकी नक़ल की। नक़ल भी सब नहीं कर सकते। बड़े २ बुद्धिमान ही कर सकते हैं। फिर भी वह बड़े प्रशंसनीय समझे जाते हैं। मनुष्य ने कौन सी ऐसी वस्तु बना दी या कौन सा ऐसा काम कर दिया जो सृष्टि के किसी न किसी काम की नक़ल न था। यदि मनुष्य ने अच्छे अच्छे महल बनाये तो उसको शिक्षा देने के लिये बया नामी छोटा सा जानवर उपस्थित था। एक भिड़ के छत्ते को ही लीजिये या शहद की मक्खी के छत्ते पर दृष्टि पात कीजिये और मनुष्य को अपने पराक्रम पर लज्जित ही होना पड़ेगा। यदि कोई मनुष्य कागज़ या मिट्टी का ऐसा काम बनाता है

जिसको देख कर लोगों को धोखा हो जाय तो उसकी बड़ी प्रशंसा होती है उसे पारितोषिक दिये जाते हैं उसकी योग्यता के गीत गाये जाते हैं। यह केवल इसीलिये न कि उसने सृष्टि की एक वस्तु अर्थात् आम की केवल एक बात अर्थात् आकृति में नक़ल उतारी है। गन्ध, स्वाद तथा अन्य गुणों की तो बात ही अलग रही। संसार में बुद्धिमान लोग नित्य प्रति आविष्कार करते रहते हैं और उनके लिये उनकी प्रशंसा भी होती है परन्तु सोचो तो सही कि आविष्कार क्या वस्तु है। यही न कि अमुक मनुष्य ने सृष्टि की अमुक वस्तु के समान या एक दो अंश में समान वस्तु तैयार कर ली। हमारा यह तात्पर्य्य नहीं है कि मनुष्य को इन पर अभिमान नहीं करना चाहिये। वस्तुतः वैज्ञानिक अथवा आविष्कारक सभी पुरुष अन्य पुरुषों के पूजनीय हैं क्योंकि वह मनुष्य जाति की सुख-वृद्धि और ज्ञान-वृद्धि का कारण होते हैं परन्तु उनका इतना अभिमान करना ही उनकी अल्पशक्ति को प्रकट करता है। कल्पना कीजिये कि एक छोटा बच्चा शाला में पढ़ने जाता है। गुरूजी उसको पट्टी पर कुछ लिख देते हैं। वह उन अक्षरों को देखकर उन्हीं के समान बनाने का यत्न करता है, जो अक्षर वह बनाता है वह गुरू के अक्षरों से अत्यन्त निचली श्रेणी के होते हैं परन्तु उसको प्रत्येक अक्षर पर अभिमान होता है क्योंकि वह समझता है कि मैंने गुरूजी के अक्षरों के तुल्य अक्षर बनाये हैं। यदि वह गुरूजी के अक्षरों से उत्तम अक्षर भी बना सकता तो भी वह अपने को गुरूजी से बड़ा मानने का अधिकारी नहीं था क्योंकि उसने केवल गुरूजी के अनुकरण से ही ऐसा किया था। उसका गुरूजी के अक्षरों के तुल्य अक्षर बनाना

ही पर्य्याप्त अभिमान की बात थी। इसी प्रकार यद्यपि संसार के बड़े बड़े आविष्कार करने वाले अनेक अंशों में पूज्य और प्रशंसनीय हैं तथापि उनको यह अभिमान करने का अधिकार नहीं कि वह बहुज्ञ या सर्वज्ञ हो गये। और न कोई आविष्कारक या वैज्ञानिक ऐसा निर्बुद्धि है कि इस बात की प्रतिज्ञा करता हो।

मनुष्य के इतिहास पर दृष्टिपात करने से एक विचित्र बात यह ज्ञात होती है, कि वह सृष्टि की शक्तियों को वश में करने का सदैव प्रयत्न करता रहा और सदैव यह शक्तियाँ उसको परास्त करती रहीं। संसार एक अखाड़ा है जहाँ सृष्टि की अन्यान्य शक्तियाँ मनुष्य को कुश्ती सिखाया करती हैं। बड़ा पहलवान छोटे पहलवानों को दांव पेच सिखाता है। कभी कभी गिर भी पड़ता है। कभी कभी उनका दिल बढ़ाने के लिये अपनी शक्ति के एक अंश से ही काम लेता है। यदि ऐसा न करे तो उसके शिष्य पहलवानी ही न सीख सकें। परन्तु यदि कोई शिष्य पहलवान अपने को गुरूजी से बड़ा समझने लगता है तो झट पछाड़ दिया जाता है। यही दशा मनुष्य की है। इसने सर्वदा सृष्टि की शक्तियों और पराक्रमों का अनुकरण किया और उन पर विजय भी प्राप्त करनी चाही। सृष्टि ने उसको ढारस दिया और उसकी हिम्मत बढ़ाई। उसने चाहा कि जिधर एक नदी बह रही है उसको काट कर उसका बहाव दूसरी ओर कर दूं। नदी ने कहा "मैं तैय्यार हूं। मुझे जिधर चाहो ले चलो।" उसने पहाड़ से कहा "तू मेरे मार्ग में खड़ा है। मैं तुझे काट डालूंगा।" पहाड़ ने कहा, "कुछ संकोच नहीं। मुझे काट और अपना

काम चला"। वायु से कहा "मैं तुझ से अपनी कलों का काम लूंगा"। वायु ने उत्तर दिया "मैं तेरे साथ हूं"। परन्तु जब मनुष्य के हृदय में यह अभिमान हुआ कि अब समस्त शक्तियाँ मेरी दास हो गईं तो उन शक्तियों ने ऐसा तमाचा मुंह पर मारा कि इसकी आंखें निकल पड़ीं।

बड़े २ बुद्धिमान वैद्यों ने चाहा कि शारीरिक अवयवों की परीक्षा करके इस प्रकार की वनस्पतियों या औषधियों की खोज कर लें जिनसे मनुष्य के रोग दूर हो सकें और वह चिरायु हो सके। उन्होंने बहुत सी दशाओं में रोगों को अच्छा भी किया। परन्तु वह किसी को अमर बनाने में सशक्त न हो सके। जब मृत्यु आई अच्छे से अच्छे डाक्टर और वैद्य मुँह बाये रह गये और बड़े २ धनपतियों और सम्पत्तिशालियों का धन उनको एक मिनिट के लिये जीवित न रख सका। यह क्या बात थी? वही तमांचा जिसका हम ऊपर वर्णन कर चुके हैं। एक पत्र में एक बार एक प्रश्न था कि

When does the Lord smile?

"अर्थात् ईश्वर कब हंसता है?" और उसका उत्तर यह था "कि जब कोई वैद्य किसी रोगी को देखने आता है और कहता है, 'घबराओ मत, मैं तुम्हें अच्छा कर दूंगा' तो ईश्वर हंसता है"। वस्तुतः है भी हँसी की सी बात। जिस वैद्य को अपने रोग निवारण की भी शक्ति नहीं है वह दूसरे को रोग निवृत्ति की निश्चित प्रतिज्ञा कैसे कर सकता है? वह यह तो कह सकता है कि "मैं यथा शक्ति तुम्हारे रोग निवारण का यत्न करूंगा"। परन्तु यत्न से अधिक मनुष्य के अधिकार में है भी क्या जिसका वह दावा करे? बहुत से डाक्टरों को

हमने देखा है कि वह रोगी के मर जाने पर कोई न कोई बहाना ढूंढते हैं जिससे उनकी डींग वैसी ही बनी रहे। परन्तु यह उनकी विडम्बना ही होती है। वह कभी कभी अपने निज पुत्र को भी नहीं बचा सकते। जब हम सोचते हैं कि संसार के चिकित्सकों ने लाखों वर्ष पूर्व से लेकर आज तक मृत्यु से लड़ाई करने की कितनी कोशिश की है और वह अपने इस उद्देश की पूर्त्ति में कहाँ तक विफल हुये हैं तो हम को मनुष्य की अल्पता में कुछ भी संशय नहीं रह जाता।

फिर आप संसार के विजेताओं पर दृष्टि डालिये। वे आरम्भ में कितने अल्प-शक्ति होते हैं। सिकन्दर आरम्भ में छोटासा बच्चा था। उसकी इच्छा हुई कि संसार को जीतूं। बहुत से शत्रुओं को परास्त किया। अभी युवा ही था कि संसार भर के राज्य की उत्कण्ठा उसके हृदय में उठ खड़ी हुई और उसे यह अनुभव होने लगा कि मुझे इस उद्देश्य की प्राप्ति में कुछ भी समय नहीं लगेगा। परन्तु शीघ्र ही उसको अपनी अल्प शक्ति की तुच्छता का पता चल गया, और वह बिना उद्देश्य की पूर्त्ति के ही यहां से चल बसा।

कार्थेज के प्रसिद्ध विजेता हानिबल (Hannibal) का भी यही हाल था। थोड़ी सी आयु में रोमन साम्राज्य के दांत खट्टे कर देना उसी का काम था। परन्तु संसार की शक्तियां उसको भी तमांचा लगाने के लिये तैय्यार थीं। जो नैपोलियन कहा करता था कि शब्द 'असम्भव' मूर्खों के ही कोष में मिलता है उसी नैपोलियन को न केवल राज्य करना ही किन्तु पेट भर कर रोटी खाना भी असम्भव हो गया। कैसी अद्भुत सृष्टि है और इसकी शक्तियां कैसी अपार हैं? मनुष्य

एक शक्ति को वश में करने की कोशिश करता है और सहस्रों शक्तियां न जाने किस ओर से निकल कर उसको वश में करने के लिये उद्यत हो जाती हैं और वह अवाक् रह जाता है। अभी कल की बात है कि १९१४ ई० में जर्मनी के सम्राट् क़ैसर ने दिग्विजय की ठानी। और इसके लिये हर प्रकार से तैय्यारियां कीं। यहां तक कि उसने शत्रुओं के नगरों में पहुंचने की तिथियां तक भी नियत कर दी थीं, मानो सारे संसार के प्रोग्राम का ठेका क़ैसर के ही हाथ में था। संसार के बड़े से बड़े वैज्ञानिक उसके साथ थे जिन्होंने अपने रोमांचकारी अन्वेषणों और आविष्कारों के द्वारा सहस्रों मनुष्यों को आन की आन में मक्खियों के समान भून दिया। यह प्रतीत होता था कि संसार में या तो क़ैसर ही रहेगा या वह लोग जिनको रहने की आज्ञा उसके दरबार से मिलेगी। परन्तु संसार की शक्तियां कुछ और ही सोच रही थीं। समय आया कि उसको अपनी अल्प शक्ति का पता लग गया और उसे अपने अभिमान के लिये पछताना पड़ा।

वैज्ञानिकों के आविष्कारों का भी यही हाल है। जिन्होंने टाइटनिक जहाज़ (The Titanic) की कहानी सुनी है वह इससे शिक्षा लिये बिना नहीं रह सकते। यह जहाज़ १९१२ ई० में इङ्गलैण्ड के सौथम्पटन बन्दर (Southampton Harbour) में बनाया गया। इससे पहले कोई जहाज़ इतना बड़ा नहीं बना था। इसके बनाने में तीन वर्ष व्यय हुये और कप्तान स्मिथ (Captain Smith) जिसकी अध्यक्षता में इसका निर्माण हुआ उस समय के सब से प्रसिद्ध और विलक्षण मल्लाहों में से था। इसकी लम्बाई १००० फुट थी

और यह समुद्र से १६४ फुट ऊँचा था। इसके निर्माताओं का यह दावा था कि यह कभी समुद्र में डूब नहीं सकता। १० अप्रैल १९१२ को जब वह जहाज़ सौथम्पटन पोतस्थल से न्यूयार्क को रवाना हुआ उस समय उसमें २३५८ पथिक उपस्थित थे। उनका हृदय गद्गद हो रहा था कि हम आज उस जहाज़ में बैठे हैं जो कभी डूब ही नहीं सकता। विज्ञान के वश में जो जो बातें थीं उन सब का प्रयोग किया जा चुका था। मनुष्य के अधिकार में जो कुछ साधन हो सकते थे उन सब के द्वारा परीक्षा की जा चुकी थी कि समुद्र में जहाज़ों को जो विघ्न घेर सकते हैं, टाइटनिक उन सब का सामना करेगा। तीन दिन चलते हो गये। न्यूयार्क पहुंचने में केवल २४ घण्टे की देर थी। जहाज़ रेल की गति से दौड़ रहा था। मुसाफिर शान्ति और निश्चय की नींद सो रहे थे। कप्तान और अधिकारियों के हृदय अभिमान से पूरित थे कि अमेरिका वाले भी जहाज़ की विशालता और दृढ़ता की प्रशंसा किये बिना नहीं रहेंगे। परन्तु वही लोकोक्ति ठीक हुई कि मनुष्य कुछ सोचता है और ईश्वर कुछ करता है। क्या जाने सृष्टि को यही दिखाना था कि मनुष्य का अभिमान टूट जाय। यकायक रात के समय एक ठेस सी लगी। वह ठेस इतनी छोटी थी कि किसी मुसाफिर को मालूम न हुई परन्तु कप्तान स्मिथ का माथा ठनका। उसे झट मालूम हो गया कि अब जहाज़ की ख़ैर नहीं है। वस्तुतः ऐसा ही हुआ। हर प्रकार की कोशिश की गई परन्तु पानी जहाज़ में बढ़ता ही आया। बात यह थी कि एक बर्फ़ का पहाड़ चुपके से समुद्र में इधर से उधर निकल गया। वह इतना

बड़ा था कि टाइटनिक जैसे विशाल जहाज़ में भी उसके छूने से ही एक बड़ा छेद हो गया ; कप्तान स्मिथ और अन्य अधिकारियों ने निकट में चलने वाले जहाज़ों को बेतार के साधनों द्वारा सूचना दी कि टाइटनिक डूब रहा है। शीघ्र आकर रक्षा करो। परन्तु कई घण्टे में केवल कारपेथिया (Carpathia) नामक जहाज़ आ सका। और केवल ७०३ मुसाफ़िरों की जानें बचा सका। कप्तान आदि ने बड़ी वीरता से स्त्री और बच्चों को बचाने का प्रयत्न किया और स्वयं डूब कर मर गये।

यह है टाइटनिक जहाज़ की कथा। जिस समय अमेरिका और इङ्गलैण्ड में यह सूचना छपी उस समय किसी को विश्वास नहीं हुआ। उनको कभी यह आशा न थी कि टाइटनिक जैसा जहाज़ पहली ही यात्रा में चकनाचूर हो जायगा। जब कि छोटे छोटे जहाज़ वर्षों चलते रहते हैं। परन्तु टाइटनिक केवल मनुष्य की परिमित शक्ति का फल था जो सृष्टि की अपार शक्ति के सन्मुख तुच्छ थी। टाइटनिक जहाज़ की बड़ी कहानी है। इसी प्रकार की छोटी छोटी घटनाएँ प्रति दिन और प्रति घड़ी आया करती हैं और मूर्ख से मूर्ख से लेकर बुद्धिमान से बुद्धिमान तक को उनका अनुभव है। हम मानवजाति के समस्त इतिहास को अंगरेज़ो की इस कहावत का कि 'Man proposes and god disposes" (मनुष्य कुछ चाहता है और ईश्वर कुछ करता है) वृहद् रूप पाते हैं। हर घड़ी हम को यह अनुभव होता है कि हमें जो बात करना चाहते थे उसमें कोई विघ्न पड़ गया। मानो किसी ऐसी शक्ति ने जो हम से कई गुणो बड़ी

है आकर हमारे हाथ को रोक दिया। हम फिर उठ खड़े हुये और दूसरी ओर चलने लगे। उधर भी फिर किसी ने रोका। इस प्रकार पग पग पर जो रुकावटें हमारे मार्ग में आती हैं वह उच्च स्वर से हमारी अल्पता की साक्षी दे रही हैं। तभी तो गीता में कहा है।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।

मनुष्य का केवल इतना ही अधिकार है कि प्रयत्न करता जाय। फल क्या होगा ?, उद्देश की पूर्त्ति होगी या नहीं ? जिस मार्ग का उसने अवलम्बन किया है उस में बाधा पड़ेगी या नहीं ? इनका अधिकार मनुष्य को है ही नहीं। वह भर सक इन बातों पर विचार कर सकता है और भावी आपत्तियों से बचने के लिये भी प्रयत्न ही कर सकता है परन्तु वह निश्चय रूप से यह नहीं कह सकता कि अवश्य ऐसा ही हो जायगा।

यहां कुछ लोग आक्षेप करेंगे कि मनुष्य की अल्पता का यह चित्र खींच कर तुम मनुष्य से उस साधन को ले लेते हो जिसके द्वारा वह काम कर सकता है। जब संचालन-शक्ति ही उसमें न रहेगी तो वह काम किसके आश्रय से करेगा और गीता के ऊपर दिये हुये आधे श्लोक का पहला भाग भी गलत हो जायगा। गीता में यह भी तो कहा है कि

संशयात्मा विनश्यति

तुम ने उसकी शक्ति को अल्प बता कर उसे संशय आत्मक बना दिया। जिस पुरुष को यह निश्चय नहीं कि जौ बोने से जौ उत्पन्न होंगे वह जौ क्यों बोने लगा ? यदि मनुष्य जाति

से ज्ञान की निश्चितता छीनली गई तो उसके पास कोई ऐसी वस्तु नहीं रह जायगी जिसके सहारे वह कार्य्य कर सके। गाय खेत में चरकर सायंकाल को घर में चली आती है इसीलिये कि उसे निश्चय है कि मेरे स्वामी के घर में मेरा बछड़ा बंधा हुआ है। हमारे समस्त कार्य्य आशा के सहारे चलते हैं। आशा निश्चितता की लड़की है। इसलिये यह कहना कि मनुष्य इतना अल्प है उसको निकम्मा बनाना है।

साधारणतया तो यह आक्षेप ठीक मालूम होता है परन्तु वस्तुतः इसका कोई आधार नहीं। प्रथम तो हम ने मनुष्य की अल्पता के जो दृष्टान्त दिये हैं वह ठीक ही है। वास्तविक बात का निषेध करना मूर्खता है। दूसरे आशा का होना ही बताता है कि मनुष्य को अपने सफलता का निश्चय नहीं है। जब हम कहते हैं कि मनुष्य का ज्ञान और पराक्रम अल्प है तो इससे हमारा कभी यह तात्पर्य नहीं होता कि मनुष्य को आशा भी नहीं करनी चाहिये। मनुष्य में आशा का होना उसकी अल्पता का विरोधी नहीं किन्तु पुष्टि करने वाला है। मनुष्य किसी काम के करने की या किसी कार्य्य में सफल होने की आशा क्यों करता है? इसलिये नहीं कि वह अल्प नहीं है किन्तु इस लिये कि उसे अपने से बड़ी एक ऐसी शक्ति पर विश्वास है जिसको वह अटल समझता है। एक छोटे बच्चे को विश्वास है कि मेरे पिता आज बाज़ार से अवश्य मेरे लिये मिठाई लायेंगे क्योंकि प्रति दिन लाया करते हैं। इस विश्वास और आशा से बच्चे की अल्पता का विरोध नहीं होता किन्तु बच्चे की शक्ति से बड़ी एक ऐसी शक्ति का परिचय

होता है जिसके अटल होने में बच्चे को विश्वास है, आशा और निश्चितता में विरोध है। गीता में जहाँ 'संशयात्मा' शब्द आया है। वहाँ भी उसका तात्पर्य अधिकतर दृढ़ता के अभाव से है। दृढ़ता का अभाव अविश्वास से उत्पन्न होता है। जब हम कहते हैं कि हम को पूर्ण आशा है कि हम अमुक कार्य्य में सफल हो जायेंगे तो इससे दो बातें प्रकट होती हैं। प्रथम तो यह कि भरसक यत्न करके हम ने वह सामग्री एकत्रित कर ली है जो अमुक कार्य्य के सम्पादन के लिये आवश्यक है, दूसरे यह कि हम को अपने से उच्च उस शक्ति पर विश्वास है जो अपने नियमों का भङ्ग नहीं करती; और उस शक्ति के सहारे पर हम कह सकते हैं कि अवश्य सफल होंगे। इन दोनों बातों से मनुष्य की अल्पता की सूचना होती है। जब हम कहते हैं कि 'अवश्य सफल होंगे' तो शब्द 'अवश्य' यहां 'पूर्ण निश्चय' का बोधक नहीं होता। प्रत्येक बड़े से बड़ा पराक्रमी और बुद्धिमान पुरुष जानता है कि भविष्य की उसको सूचना नहीं। जिस प्रकार कुहरा पड़ते समय हम अपनी आंखें फाड़ फाड़ कर आगे देखना चाहते हैं परन्तु धुंधले कुहरे के सिवाय कुछ दिखाई नहीं देता। इसी प्रकार भविष्य एक कुहरे के भीतर छिपा हुआ है। हम अपनी बुद्धि रूपी आंखें फाड़फाड़ कर आगे को देखते हैं और कुछ कुछ धुंधला ही दृष्टिगोचर होता है। हम कभी निश्चय पूर्वक ऐसा नहीं कह सकते कि अमुक कार्य्य हुये बिना नहीं रहेगा। जिन डाक्टरों या वैद्यों ने रोगियों को 'असाध्य' कह कर छोड़ दिया वह कभी कभी चंगे हो गये और जिनके अच्छा करने का वह बल पूर्वक

दावा करते रहे उनमें कोई न कोई ऐसी घटना उत्पन्न हो गई कि वह जीवित न रह सके। इसमें सन्देह नहीं कि जिस खेत में हमने गेहूं बोया है उसमें जौ उत्पन्न न होगा परन्तु गेहूँ उत्पन्न होने के लिये भी कितनी अन्य बातें चाहियें जिन पर मनुष्य का वश नहीं है। सम्भव है खेत में खाद कम हो। सम्भव है, इतना अधिक हो कि पौधों को कुपच हो जाय। सम्भव है अति वृष्टि हो, सम्भव है अनावृष्टि हो, सम्भव है चूहे, टीड़ियाँ या अन्य विघ्न लग जायं। इस लिये मनुष्य आने वाली आपत्तियों के लिये सदा कमर कसे खड़ा रहता है। वह निकटस्थ भविष्य को ही देख सकता है। इससे अधिक उसकी दृष्टि जाती ही नहीं। यद्यपि सृष्टि का समस्त ज्ञान और समस्त कार्य्य मनुष्य के लिये खुले हुये हैं, सृष्टि देवी पर्दा नहीं करती, सृष्टि की आज्ञा है कि मेरे ज्ञान और कार्य्यों को देख कर अपने कार्य्यों को सुधारो, परन्तु मनुष्य की अल्पता उसको इस ज्ञान अथवा पराक्रम का एक अंश ही देखने देती है। एक छोटा पुष्प बाग़ में खड़े हुए मनुष्य को पुकार पुकार कर कह रहा है कि मुझ में से ज्ञान प्राप्त कर। न जाने कितने विद्वान आये और चले गये और इस पुष्प की एक पंखड़ी का भी पूर्ण ज्ञान प्राप्त न कर सके। किसी ने कहा "मैं केवल इसके रंग की ही परीक्षा करूँगा और उसने रंग सम्बन्धी समस्त भौतिकी (Physics) और रसायन शास्त्र (chemistry) को खर्च कर दिया परन्तु उसको पूर्ण सन्तोष नहीं हुआ। किसी ने कहा 'मैं केवल इस बात का अन्वेषण करूंगा कि इस फूल का मनुष्यों के रोगों पर क्या प्रभाव पड़ता है।"

उसने और उसके पूर्वजों तथा उत्तराधिकारियों ने अपनी आयु व्यतीत करके भी उसके समस्त गुण जान न पाये। किसी ने कहा कि "हम यह जानने का यत्न करेंगे कि फूल किस प्रकार बढ़ता है, किस प्रकार फूलता है और किन कारणों से नष्ट हो जाता है"। इसके लिये वनस्पति शास्त्र का निर्माण हुआ और संसार के बड़े २ धुरन्धर मस्तिष्क लगे रहे। परन्तु उनको भी पूर्णता प्राप्त नहीं हुई। जिसने फूल को देखना चाहा, फूल ने उसके सामने अपने समस्त चमत्कार रख दिये। जिसने उसे तोड़ना चाहा उससे उसने विरोध नहीं किया। जिसने उसको सूंघना चाहा उस से उसने अपनी गन्ध नहीं छिपाई। जिसने उसको छूना चाहा उस से उसने मुख नहीं मोड़ा। फिर भी वह फूल, वह नन्हा सा फूल संसार भर के लिये एक अज्ञेय वस्तु ही रहा। सृष्टि की विचित्र गति है। किसी उर्दू के कवि ने कहा है:—

> क्या तमाशा है कि चिलमन से लगे बैठे हो!
> साफ़ छिपते भी नहीं सामने आते भी नहीं।

सृष्टि देवी किसी से परदा नहीं करती परन्तु उसके तेज को देखने के लिये आंखें भी तो चाहियें। अंगरेजी के महाकवि टैनिसन (Tennyson) ने इस सम्बन्ध में क्या अच्छा कहा है:—

> "Flower in the crannied wall,
> I pluck you out of the crannies;
> Hold you here, root and all, in my hand
> Little flower—but if I could understand

What you are, root and all and all in all,
I should know what God and man is."

हे दीवार के छिद्रों में उगे हुये फूल, मैं तुझे इन छिद्रों से तोड़ता हूं। और तुझे जड़ तथा अन्य अवयवों समेत अपने हाथ में लेता हूं। छोटे फूल! परन्तु यदि मैं यह समझ सकूं कि तू क्या है जड़ तथा अङ्गों समेत, तो मैं यह समझ लूं कि ईश्वर क्या है और मनुष्य क्या है।

इसमें सन्देह नहीं कि मनुष्य अल्प है उसकी शक्तियाँ परिमित हैं। परन्तु अपनी अल्पता के भाव से उसमें किसी प्रकार की त्रुटि उत्पन्न नहीं होती। यह अल्पता का भाव उसे निकम्मा नहीं करता किन्तु चतुर बनाता है और झूठे अभिमान से बचाता है। झूठा अभिमान न कभी किसी के लिये लाभदायक हुआ न हो सकता है। यदि मैं आज यह समझ लूं कि समस्त सूर्य्यमण्डल का स्वामी मैं हूं तो क्या सूर्य्यमण्डल अपने कार्य्य को मेरे वश में कर देगा? क्या मैं इतने समझने से ही ऐसा शक्तिशाली हो जाऊंगा कि जब मैं चाहूं तभी सूर्य्य निकले और जब मैं चाहूं तभी छिप जाय। मनुष्य यदि अपने में यह भाव उत्पन्न कर ले कि मैं अल्प हूं परन्तु एक महती शक्ति संसार भर में प्रसरित है जो मुझे सहायता देने के लिये उपस्थित है उसमें अनन्त ज्ञान और अनन्त पराक्रम है, यदि मैं अपनी अल्प शक्ति को उस महती शक्ति के अनुकूल लगा दूं तो वह अनन्त शक्ति मेरे उपयोगी हो सकती है, तो इसमें संशय नहीं कि उसको कभी विफलता प्राप्त नहीं होगी। प्रश्न यह नहीं है कि हम अल्प हैं या अनन्त। हम तो अल्प हैं ही। वह भी अल्प थे जिन्होंने अपने को अल्प माना और वह भी अल्प सिद्ध हुये जिन्होंने अपने को समस्त रूपेण परिपूर्ण

माना। परन्तु प्रश्न यह है कि सृष्टि की उन अनन्त शक्तियों में से जो संसार में दृष्ट या अदृष्ट-रूप से उपस्थित हैं हम किन २ से लाभ उठा सकते हैं। जिस भाप के द्वारा रेलवे ड्राइवर रेल चलाता है वही भाप उसको मार भी सकती है और बहुधा मार डालती है। भाप की शक्ति उस ड्राइवर की शक्ति नहीं है, वह केवल उस से लाभ उठा रहा है। भाप उसी समय तक उसके साथ है जब तक वह भाप का अनुयायी है। वस्तुतः हम वैभवरूपी सम्पत्ति के स्वामी नहीं किन्तु कोषाध्यक्ष हैं। जिस प्रकार एक सम्राट के महाकोष का कोषाध्यक्ष करोड़ों रुपयों को नित्य प्रति इधर उधर भेजता है परन्तु एक पाई भी बिना नियम के व्यय नहीं कर सकता इसी प्रकार हम इस अनन्त धन को जो सृष्टि ने हमारे लिये फैला रक्खा है उसी सीमा तक व्यय कर सकते हैं जो उसने हमारे लिये बांध रक्खी है। एक पाई इधर उधर हुई और कोषाध्यक्ष महाशय को जेल की हवा खानी पड़ी। यहाँ हम भी थोड़ा ही विचलित होने पर मारे गये। जो लोग कहते हैं कि अल्पता का अनुभव करके मनुष्य निकम्मा और दुर्बल हो जाता है वह मानवी इतिहास को यथोचित दृष्टिकोण से नहीं देखते। जितने पुरुष या जो २ जातियाँ संसार में बढ़ीं उन्होंने अपने को आरम्भ में कोषाध्यक्ष के समान ही समझा। और जिस दिन से उन में यह भाव उत्पन्न होने लगे कि "हमारे समान कोई नहीं, हम ही इस कोष के स्वामी हैं और जिस प्रकार चाहें इसको व्यय कर सकते हैं", उसी दिन से उनके पतन का सूत्रपात हुआ। जातियों और व्यक्तियों के विकास और क्षय के बीच में ऐसी भेदकभित्ति नहीं है जो हर एक मनुष्य

को दिखाई पड़ सके। केवल विलक्षण चक्षुयें ही उससे अभिज्ञ हो सकती हैं और इसी स्थान पर विशेष धोखा हो जाता है। जब हम किसी जाति को बढ़ता हुआ देखते हैं तो हम प्रायः उसकी सभी बातों को प्रशंसनीय समझने लगते हैं, और उसकी त्रुटियों को उसके गुणों से अलग नहीं करते। यही बात वस्तुतः हमारे क्षय का भी कारण हो जाती है। कभी २ वह जातियाँ भी अपनी त्रुटियों को अपनी महत्ता समझ बैठती हैं और उस समय पता लगता है जब कुछ बनाये नहीं बनती। प्राचीन आर्य्य जाति का पतन इसी कारण से हुआ। आज कल भी कई जातियों के पतन के चिह्न दिखाई पड़ रहे हैं। सहस्रों व्यक्तियों के उदाहरण हमारे सम्मुख हैं केवल देर इस बात की है कि हम अपनी आंखें खोलें और इनसे शिक्षा ग्रहण करें।

मनुष्य की अल्पता ही उसको इस बात की प्रेरणा करती है कि वह अपने से उच्च शक्ति पर विश्वास करे चाहे वह इस को किसी नाम से क्यों न पुकारे।

———

तीसरा अध्याय

सृष्टि रचना

शब्दों की व्युत्पत्ति अधिकतर पाठकों को रुचिकर नहीं होती। परन्तु बहुत सी बातें हैं जिन का ठीक २ पता शब्दों की व्युत्पत्ति से लग सकता है। संस्कृत के कई शब्द हम को सृष्टि रचना की अनेक मौलिक बातों का बोध कराते हैं। शब्द 'सृष्टि' को ही लीजिये। यह संस्कृत के 'सृज्' धातु से निकलता है जिस का अर्थ है बनाना। 'सृज्' धातु में 'क्तिन्' प्रत्यय लगकर सृष्टि शब्द बना जिसका अर्थ हुआ 'बनी हुई चीज़'। दूसरा शब्द है 'संसार' यह 'सृ' धातु से निकलता है जिस का अर्थ है 'बहना' या 'निकलना' अतः दूसरी बात यह मालूम होती है कि 'सृष्टि' 'निकली हुई' चीज़ है। तीसरा शब्द है 'जगत्' जो संस्कृत के 'गम्' धातु से निकला है जिसका अर्थ है 'चलना' इस से ज्ञात हुआ कि 'सृष्टि' चलती हुई वस्तु है। संस्कृत संसार की प्राचीनतम भाषा है इसलिये यह तो सिद्ध ही है कि अति प्राचीन काल से विद्वान् लोग 'सृष्टि' को रची हुई, निकली हुई या चलती हुई वस्तु मानते रहे हैं। परन्तु प्रश्न यह है कि प्राचीन पुरुषों के कथन को बिना परीक्षा के क्यों माना जाय, इसलिये यह भी देखना होगा कि आधुनिक विद्वानों के इस विषय में क्या विचार हैं।

बिना अधिक परिश्रम किये या बाल की खाल निकाले हुये भी यह तो शायद सभी मानते हैं कि जिन वस्तुओं या घटनाओं को हम संसार में देखते हैं उन सब का आरम्भ होता है, अर्थात् वह अनित्य हैं। कोई वस्तु ऐसी नहीं है जिस पर काल का प्रभाव न हो। पुराने से पुराने वृक्ष को लो। यह मानना पड़ेगा कि वह कभी उत्पन्न हुआ था। पुराने से पुराने पहाड़ को देखो। उसके आदि का भी पता लग ही जायगा। आज कल के विज्ञानवेत्ता अपने परीक्षालयों में इसी बात का अन्वेषण करते रहते हैं कि अमुक पदार्थ कैसे बना। ज्यालोजी (Geology) अर्थात् भूगर्भ विद्या ने पता लगाया है कि अमुक पर्वत या अमुक चट्टानें किस प्रकार और कब बनीं। जिस हिमालय पर्वत को हम समस्त पृथ्वीस्थ पदार्थों का पितामह कह सकते हैं वह भी कभी तो उत्पन्न हुआ ही होगा। भिन्न २ स्थानों की मिट्टी सृष्टि रचना की भिन्न २ अवस्थाओं का इतिहास मात्र है। एक वस्तु दूसरी की अपेक्षा नई है क्योंकि उसके बनने का एक काल नियत है। वृक्ष का फूल पत्ते से नया है। पत्ता जड़ से नया है। वृक्ष की जड़ उस मिट्टी से नई है जिसमें वह उत्पन्न हुआ है। मिट्टी उस चट्टान की अपेक्षा नई है जिस पर वह जमी हुई है। चट्टान पृथ्वी के तल की अपेक्षा नई है। पृथ्वी की भी कई अवस्थायें बताई जाती हैं। कहते हैं कि पहले यह एक आग का गोला था जो ठण्डा होते होते इस अवस्था में पहुंचा है। जिस प्रकार अङ्गार पर ठण्डा होने के समय सिकुड़न पड़ जाती है उसी प्रकार पृथ्वी का गोला जब ठण्डा होने लगा तो उसमें सिकुड़न पड़ गई। ऊंचे

स्थान पहाड़ हो गये और नीचे समुद्र बन गये। इसी प्रकार भौतिकी (physics) और रसायन शास्त्र (chemistry) के पण्डितों ने जल वायु आदि का भी विश्लेषण (analysis) किया और उनके उन तत्वों को अलग २ कर के दिखा दिया जिनके संयोग से वह बने थे। यह दूसरी बात है कि इन पदार्थों का आरम्भ काल हमारी आंखों के सामने नहीं है। परन्तु कुछ को तो हम अपनी आंख से नित्य प्रति बनते देखते हैं और दूसरों का बिश्लेषण करके यह जान सकते हैं कि वह कभी बने थे। वस्तुतः यदि किसी से पूछा जाय कि बेबनी हुई चीज़ कौन सी है तो वह न बता सकेगा। वह इन्द्रियां जिनसे हम ज्ञान प्राप्त करते हैं और वह पदार्थ जिन का ज्ञान प्राप्त किया जाता है यह दोनों ही बने हुये पदार्थ प्रतीत होते हैं। वैज्ञानिकों का विशेष प्रयत्न ही इसीलिये होता है कि उन मूल तत्वों का पता लगा लिया जाय जो स्वयं नहीं बने और जिनसे अन्य पदार्थ बने हैं। परन्तु दीर्घ काल के प्रयत्न से भी वह अपने इस काम में सफल नहीं हुये। जिन को पहले मौलिक तत्व समझा जाता था वह अब संयुक्त पदार्थ सिद्ध हो चुके हैं और जिनको आजकल मूल तत्व समझा जाता है उनके लिये भी निश्चय करके यह कहना कठिन है कि उनके माता पिता कोई दूसरे तत्व तो नहीं है। फिर यदि निश्चित भी हो जाय कि अमुक पदार्थ मूल तत्व है तो भी जिस अवस्था में वह हमारे सम्मुख है वह तो फिर भी बनी हुई ही वस्तु है क्योंकि वह अपने ही परमाणुओं से बना है। उदाहरण के लिये माना कि सोना तत्व है। परन्तु सोने की डली तोड़ी जा सकती है सोने के जिन अणुओं से

वह डेला बना है वह अवश्य किसी न किसी समय किसी न किसी साधन द्वारा संयुक्त हुये होंगे। जिस वस्तु को हम तोड़ सकते हैं उसके बना हुआ सिद्ध करने में क्या आपत्ति है ? और संसार में ऐसी कौन सी वस्तु है जो तोड़ी नहीं जा सकती ? वस्तुतः संसार की सभी वस्तुयें विश्लेषण (analysis) और संश्लेषण (Synthesis) नामक दो क्रियाओं द्वारा बनती हैं। या तो किन्हीं दो वस्तुओं को मिला कर नई चीज़ बना देते हैं जैसे फूलों के गुलदस्ते या पहले कुछ चीज़ों को तोड़ डालते हैं और उनके टुकड़ों को फिर जोड़ कर एक नई चीज़ बना देते हैं जैसे मकान का दरवाज़ा।

यहाँ एक बात कही जा सकती है। सायंस वेत्ता यह कह सकते हैं कि संसार की सभी वस्तुएं तत्वों से बनी हैं परन्तु वह तत्व किसी से नहीं बनें, अर्थात् विश्लेषण करते करते हम परमाणुओं की एक ऐसी अवस्था पर पहुंच सकते हैं जिस के आगे विश्लेषण हो ही नहीं सकता। इसलिये उन परमाणुओं का बनना सिद्ध नहीं हो सकता यह तो हो सकता है कि उन परमाणुओं के मिलने से दूसरी चीज़ें बन गईं। परन्तु यह कैसे माना जाय कि वह परमाणु भी किसी अन्य पदार्थ से बने हैं। यदि कभी यह सिद्ध भी हो गया कि जिनको हम परमाणु (परम + अणु) कहते हैं वह भी किन्हीं अन्य चीज़ों के मिलने से बने हैं तो हम इन बनी हुई वस्तुओं को परमाणु न कह कर दूसरों को परमाणु कहने लगेंगे। इस प्रकार अन्त को एक ऐसे स्थान पर अवश्य पहुंचना पड़ेगा जहाँ से आगे नहीं चल सकते। इसी आक्षेप को महाशय जे. एस. मिल (J. S. Mill) ने अपने

"धर्म सम्बन्धी तीन व्याख्यान" (Three Essays in Religion) में इस प्रकार वर्णन किया है:—

"There is in nature a permanent element, and also a changeable. The effects of previous changes, the permanent existences, so far as we know, are not effects at all. It is true we are accustomed to say not only of events, but of objects, that they are produced by causes, as water by the union of hydrogen and oxygen. But by this we only mean that when they begin to exist, their beginning is the effect of a cause. But their beginning to exist is not an object, it is not an event. If it be objected that the cause of a thing's beginning to exist may be said with propriety to be the cause of the thing itself, I shall not quarrel with the expression. But that which in an object begins to exist, is that in it which belongs to the changeable element in nature, the outward form and the properties depending on mechanical or chemical combinations of its component parts. There is in every object another and a permanent element viz., the specific elementary substance or substances of which it consists and the inherent properties. These are not known to us as beginning to exist: within the range of human know-

ledge they had no beginning, and consequently no cause. Though they themselves are cause or con-causes of everything that takes place. Experience, therefore, affords no evidence, not even analogies, to justify our extending to the apparently immutable, a generalisation grounded only on our observation of the changeable."

"सृष्टि में एक स्थायी तत्व है और एक अस्थायी। परिणाम सदा पहले परिणामों के कार्य रूप होते हैं। जहां तक हम को ज्ञात है स्थायी सत्तायें कार्य्य रूप हैं ही नहीं। यह सत्य है कि हम घटनाओं तथा पदार्थों दोनों को ही कारणों से बना हुआ कहा करते हैं जैसे पानी आक्सीजन और हाईड्रोजन से मिल कर बना है। परन्तु ऐसा कहने से हमारा केवल इतना तात्पर्य होता है कि जब इनका अस्तित्व आरम्भ होता है तो यह आरम्भ किसी कारण का कार्य्य रूप होता है परन्तु उनके अस्तित्व का आरम्भ पदार्थ नहीं है किन्तु घटना मात्र है। यदि कोई यह आक्षेप करे कि किसी वस्तु के अस्तित्व के आरम्भ का कारण ही उस वस्तु का भी कारण है तो मैं इस शब्द-प्रयोग के लिये इससे झगड़ा नहीं करता। परन्तु उस पदार्थ में वह भाग जिसके अस्तित्व का आरम्भ होता है सृष्टि के अस्थायी तत्व से सम्बन्ध रखता है। अर्थात् बाहिरी रूप तथा वह गुण जो अवयवों के संयोग अथवा संश्लेषण से उत्पन्न हो जाते हैं। प्रत्येक पदार्थ में इस से भिन्न एक स्थायी तत्व भी है अर्थात् एक या अनेक विशेष मौलिक सत्तायें जिन से वह पदार्थ बना है और उन सत्ताओं के अपने धर्म। हम

इनके अस्तित्व के आरम्भ को नहीं मानते। जहाँ तक मनुष्य के ज्ञान की सीमा है वहां तक यही सिद्ध होता है कि उनका आदि नहीं और इसलिये उनका कारण भी नहीं। हां यह स्वयं प्रत्येक होने वाली घटना के कारण या सहायक कारण अवश्य हैं।"

हम को मिल महोदय की यह बात मानने में कुछ भी संकोच नहीं है। हमारा भी वस्तुतः यही मत है कि संसार स्थायी तथा अस्थायी इन दो वस्तुओं के मेल से बना है। अस्थायी को संस्कृत की पुस्तकों में 'नाम और रूप' के नाम से पुकारा है और स्थायी को मूलतत्व। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि मूल तत्व और नामरूप से मिलकर ही जगत् बनता है। इसलिये जगत् का बनना अर्थात् कार्य्य होना सिद्ध है।

परमाणुओं के विषय में मौलिक विज्ञान वेत्ताओं में मत भेद है। सायंस सम्बन्धी अन्वेषण हो रहे हैं। कुछ लोग कहते हैं कि वस्तुतः परमाणु कोई चीज़ नहीं। और वह मूलतत्व जिस से संसार बना है केवल शक्ति के केन्द्र हैं। परन्तु हमें इस मत के अनुसार भी यह मानना पड़ेगा कि कोई न कोई समय ऐसा अवश्य होगा जब शक्ति के यह केन्द्र अपनी मौलिक अवस्था से चल कर जगत् की वर्तमान अवस्था तक पहुचे होंगे। अर्थात् यह सृष्टि रची गई होगी। यदि सृष्टि रची गई तो अवश्य इस को कार्य्य कहना पड़ेगा।

कुछ लोगों का यह भी कहना है कि सृष्टि के रचने के लिये परमाणुओ के परस्पर मिलने की आवश्यकता नहीं है सृष्टि में एक मूल तत्व है जिसको प्रकृति कहते हैं यही मूलतत्व परि-

णाम से सृष्टि के रूपमें हो जाता है जिस प्रकार पानी बर्फ़ हो जाता है। हम इन भिन्न मतों की मीमांसा नहीं करते। इस स्थान पर हमारा प्रयोजन यह नहीं है कि हम मूल तत्व के विषय में कोई आलोचना करें। हम तो केवल एक बात दर्शाना चाहते हैं वह यह कि सृष्टि का आरम्भ है। कोई समय है जब यह सृष्टि बनती है। परिणाम वादियों के मत में भी परिणाम का समय होता है। परिणाम भी एक प्रकार का कार्य्य ही है। माना कि बर्फ़ का मूलतत्व वही है जो पानी का है परन्तु पानी और बर्फ़ एक ही वस्तु नहीं है, न कोई इन दोनों से एक ही आशय समझता है। पानी से बर्फ बनने के लिये एक समय लगता है। बर्फ को हम कार्य्य और पानी को 'कारण' कह सकते हैं।

हाँ दार्शनिकों का एक मत है जो सृष्टि के कार्य्यत्व पर किसी अंश में आक्षेप करता है। यह हैं विवर्त्तवादी।

अतात्त्विको अन्यथा भावः विवर्त्त इतिउदीरितः।
जो वस्तु न हो और मालूम पड़े उसका नाम विवर्त्त है जैसे सांप नहीं है और मालूम पड़ता है। या जल नहीं है और प्रतीत होता है। कुछ दार्शनिकों का मत है कि संसार वस्तुतः एक भ्रमात्मक कल्पित वस्तु है या यों कहना चाहिये कि कल्पना मात्र है। स्वप्न में मनुष्य को हाथी, घोड़े, वृक्ष आदि सभी दिखाई देते हैं। आंख खुलने पर कुछ नहीं रहता। इसी प्रकार इस संसार को भी हम स्वप्न के समान देख रहे हैं। जब हमारी ज्ञान की आंख खुलती है तो यह स्वप्न झट हमारी आंख से लुप्त हो जाता है। इस मत के अनुयायियों की दृष्टि में

संसार कोई वस्तु ही नहीं फिर इसको कार्य्य कैसे माना जाय यहाँ स्थायी और अस्थायी का प्रश्न ही नहीं। इनका तो केवल यह कहना है कि जिसको हम व्यावहारिक बोल चाल में 'संसार' कहते हैं वह तात्त्विक दृष्टि से स्वप्न मात्र है। वस्तुतः संसार की यह भिन्न २ वस्तुयें जिनकी भिन्नता ही एक विचित्रता उत्पन्न कर रही है स्वप्न से अधिक और कुछ नहीं है, मूल तत्व एक है जिस को ब्रह्म कहते हैं।

हम यहाँ 'स्वप्नवाद' या 'एक ब्रह्मवाद' पर कुछ नहीं कहना चाहते। यह ठीक हो या ठीक न हो। परन्तु जो लोग संसार को स्वप्नमात्र मानते हैं उनको भी यह तो अवश्य ही मानना पड़ेगा कि यह स्वप्न किसी समय विशेष पर आरम्भ होता है। स्वप्न की साधारण घटना पर विचार कीजिये। स्वप्न स्वयं ही तो उत्पन्न नहीं हो जाते। स्वप्न भी तो किसी विशेष कारण के कार्य्य मात्र होते हैं। जो लोग कहते हैं कि ज्ञान की आंख खुलने पर स्वप्न नहीं रहता वह यह भी मानते हैं कि ज्ञान की आँख मुंदने पर स्वप्न आरम्भ हो जाता है। यह स्वप्न कैसे आरम्भ होता है यह प्रश्न नहीं है। प्रश्न तो केवल इतना है कि स्वप्न कार्य्य है। इसके कारण का पता लगाने को आवश्यकता है।

हमने इन पृष्ठों में यह दिखलाने का यत्न किया है कि संसार का आदि है। यह संसार कार्य्य रूप है। अर्थात् यह कभी न कभी बना है। इतना मानने में किसी बुद्धिमान पुरुष को कुछ आपत्ति नहीं हो सकती। वस्तुतः यह तो प्रत्यक्ष ही है।

अब यह देखना चाहिये कि इस कार्य्य रूप संसार में और क्या क्या बातें पाई जाती हैं।

पहली सब से विचित्र बात नियम (order) है। हम संसार की प्रत्येक घटना में एक विशेष नियम देखते हैं। वस्तुतः इसी नियम के आधार पर मनुष्य अपने कामों का निश्चय करता है। हम देखते हैं कि पृथ्वी में बीज पड़ता है, अंकुर निकलता है, वृक्ष बढ़ता है, पहले फूल आते हैं फिर उस पर फल लगते हैं। वनस्पतिशास्त्र का यह क्रम है जो समस्त वनस्पति जगत् पर शासन कर रहा है, इस क्रम का उल्लङ्घन कोई नहीं कर सकता किसी स्थान पर हम ऐसा नहीं पाते कि पहले फल निकले, फिर फूल। किसान या माली को यह नियम भली भाँति ज्ञात है और वह इसी के अनुसार अपना कार्य्य करता है। फिर दूसरी बात यह है कि विशेष बीज बोने से ही विशेष वृक्ष उगता है। नीम के वृक्ष का बीज बो देने से कभी यह आशा नहीं हो सकती कि आम उपज सकेगा। गेहूं बोने से कोई यह नहीं समझ सकता कि चना उगेगा। यह वनस्पति शास्त्र के नियम की बात है।

मनुष्य तथा अन्य प्राणियों की वृद्धि का भी नियम है। बच्चा उत्पन्न होकर पहले युवा होगा फिर वृद्ध। यह नहीं हो सकता कि पहले वृद्ध हो जाय फिर युवा। मूर्ख से मूर्ख माता भी यह जानती है कि बच्चे की संवृद्धि में कौन सी अवस्थायें आयेंगी। यह केवल इसी लिये होता है कि संसार में एक नियम है जिसका उल्लङ्घन कोई नहीं कर सकता। वैद्यक तथा शरीर विज्ञान का आधार इन्हीं नियमों पर है।

चिकित्सालयों में इन्हीं नियमों के आश्रय पर चिकित्सा की जाती है।

भौगोलिक संसार का भी यही हाल है। पहाड़ किस प्रकार उत्पन्न हो गये, पहाड़ों से नदियाँ कैसे निकलीं। यह नदियाँ एक विशेष दिशा में ही क्यों बहती हैं। गंगा हिमालय पहाड़ से निकल कर भारतवर्ष में क्यों आती है तिब्बत के उत्तर की ओर क्यों नहीं चली जाती। फिर भारतवर्ष में भी वह पूर्व की ओर ही क्यों बहती है पश्चिम की ओर क्यों नहीं बहने लगती। भारतवर्ष के तीन ओर समुद्र क्यों है चौथी ओर क्यों नहीं हो जाता। ब्रिटिश टापू टापू क्यों है प्रायद्वीप क्यों नहीं। समुद्र से जो हवायें उठती हैं वह एक ही ओर क्यों बहती हैं दूसरी ओर क्यों नहीं। इन सब के लिये नियम हैं। और भूगोल सम्बन्धी सभी घटनाओं को इन नियमों का पालन करना पड़ता है।

भूगर्भ विद्या के विद्वानों का भी यही निश्चय है। अमुक पर्वत की भिन्न २ तहें किस प्रकार बन गईं। अमुक टापू की मिट्टी किस किस समय में किस प्रकार बन गई अमुक स्थान पर किस समय पानी बह रहा था और किस समय पानी हट कर भूमि निकल आई। अमुक २ स्थानों की भूमि के भीतर क्या क्या वस्तुयें उपस्थित हैं इत्यादि इत्यादि प्रश्न भी उसी नियम बद्धता को प्रकट करते हैं जिस का हम ने ऊपर वर्णन किया है।

खगोल विद्या क्या कह रही है? पृथ्वी आदि ग्रह सूर्य्य आदि तारागण, चन्द्र आदि उपग्रह—क्या यह सब बिना नियम के चल रहे हैं? सूर्य्य नित्य ही प्रातः काल निकलता

और सायंकाल को डूब जाता है। यही निकलना और डूबना खगोल-सम्बन्धी एक घटना है जो नियम-पूर्वक हो रही है। यह नियम इतना अटल है कि तुम महीनों पूर्व बता सकते हो कि अमुक मास और अमुक तिथि को सूर्य्य अमुक समय पर निकलेगा। तुम्हारी घड़ी में भेद पड़ सकता है परन्तु सूर्य्य के उदय तथा अस्त होने में भेद नहीं पड़ सकता। वस्तुतः घड़ियों का क्रम भी सूर्योदय पर ही निर्भर है। इसी प्रकार चन्द्र भी एक ऐसे कठिन नियम सूत्र से बँधा हुआ है कि उसके निकलने, छिपने, बढ़ने और घटने में कुछ भी भेद नहीं पड़ता। अमुक दिवस इतनी घड़ी चन्द्र रहेगा, अमुक दिवस इतनी घड़ी, अमुक दिन चन्द्र दर्शन न होगा, अमुक दिन ग्रहण पड़ेगा। यह सब बातें ज्योतिर्विद कभी न बता सकते यदि कोई विशेष नियम न होता और ज्योतिषियों को उसका पता न होता।

सब से विलक्षण और दुर्ज्ञेय शास्त्र मनोविज्ञान है। संसार की सभी वस्तुओं के विषय में कुछ न कुछ ज्ञात हो जाता है, परन्तु मनुष्य का मस्तिष्क इतनी भिन्न २ रीतियों से कार्य्य करता है कि कभी २ यह सन्देह हो जाता है कि इसके लिये भी कोई नियम है या नहीं। मैं स्वयं नहीं जान सकता कि क्षण भर पीछे मेरे मन की क्या गति होगी। फिर दूसरों के मन की गति जानना तो और भी दुस्तर बात है। परन्तु यह नहीं समझना चाहिये कि मनोविज्ञान के लिये कोई नियम ही नहीं है। मनुष्य का मन कितना ही विलक्षण क्यों न हो इसकी गति के लिये भी अन्य वस्तुओं के समान नियम निर्धारित हैं जिनका पता प्राचीन तथा नवीन मनो-

विज्ञान-वेताओं ने बनाया हुआ है। आजकल भी अनेकों विद्वान इस शास्त्र के अन्वेषण में दत्त चित्त हो रहे हैं। मनोविज्ञान के नियमों पर ही वस्तुतः उन सब शास्त्रों का आधार है जो मनुष्य जीवन से सम्बन्ध रखते हैं, जैसे इतिहास शास्त्र, कलाशास्त्र, नाट्यशास्त्र, काव्य, व्याकरण, अर्थशास्त्र, समाज शास्त्र इत्यादि इत्यादि। साधारणतया मनुष्य समझता है कि इतिहास की भिन्न २ घटनायें एक दूसरे से सम्बन्ध नहीं रखतीं, अकबर का उत्पन्न होना, उसके पिता हुमायूं का पठानों के पंजों से भाग निकलना, पठानों का पुनरुत्थान, फिर उनका पराभव हुमायूं तथा अकबर की विजय-यह सब ऐसी बातें नहीं हैं जो अकस्मात ही हो गई हों और जिनका किसी नियम विशेष से सम्बन्ध ही न हो। इतिहास शास्त्र के पण्डितों ने पूर्ण अन्वेषण द्वारा इस बात का पता लगाया है कि मनुष्य का मस्तिष्क किन २ अवस्थाओं में किन किन रीतियों से काम करता है और इस का समस्त जाति या समस्त देश की गति पर क्या प्रभाव पड़ता है तथा उस प्रभाव से इतिहास में किस किस प्रकार के परिवर्तन होते हैं। वस्तुतः जिस प्रकार भिन्न २ शब्दों के एक साथ रख देने से व्याकरण शास्त्र नहीं बन जाता जब तक कि हम उन नियमों की शृङ्खला को न ढूंढ़ निकालें जो उन शब्दों में व्यापक हैं। इसी प्रकार किसी देश जाति या समाज की दस, बीस, या सौ, दो सौ घटनाओं को जान लेना ही इतिहास नहीं है। आवश्यकता उन नियमों के अन्वेषण की है जो उन घटनाओं पर शासन कर रहे हैं।

इस प्रकार हमको ज्ञात हो गया कि समस्त संसार में

नियम बद्धता पाई जाती है। सृष्टि की दूसरी मीमांसनीय बात एकता है। समस्त सृष्टि भिन्न २ रूप और भिन्न २ अवयव रखते हुये भी एक है, इसीलिये अंगरेजी में इसको Universe (यूनीवर्स) अर्थात् इकाई कहते हैं। जिस प्रकार हमारा शरीर सहस्रों छोटे बड़े अवयवों का बना हो कर भी उसमें एकता है उसी प्रकार संसार का हाल है। यों तो संसार के असंख्य अवयव हैं, भूमण्डल, सूर्य्यमण्डल आदि अनेकों मण्डल, इन मण्डलों के अलग अलग विभाग और फिर उन विभागों के उपविभाग, परन्तु यह सब एक ब्रह्माण्ड के अन्तर्गत आ जाते हैं।

इस एकता का अधिक परिचय उन नियमों पर विचार करने से लग सकता है जिनका हम ऊपर वर्णन कर चुके हैं। वस्तुतः नियम-बद्धता ही एकता का चिह्न है, क्योंकि नियम का क्या अर्थ है? यही न कि कई भिन्न २ वस्तुयें एक प्रकार से कार्य्य करती हैं अर्थात् उनमें एकता है? कल्पना कीजिये कि कृष्ण, गोपाल, राम, मोहन, सोहन आदि दो सौ लड़के नित्य १० बजे पर शाला में आया करते हैं। तो कहते हैं कि शाला में दस बजे आने का नियम है। क्योंकि इन सब विद्यार्थियों के काम में एकता पाई जाती है। परन्तु यदि मोहन ९ बजे आता है, सोहन १० बजे, गोपाल सवा दस बजे, कृष्ण साढ़े ग्यारह बजे, तो क्या कहेंगे? यही न कि शाला में आने का कोई नियम नहीं है चाहे कोई कभी आवे? इसी प्रकार हम देखते हैं कि

सोहन उत्पन्न हुआ और मर गया, मोहन उत्पन्न हुआ और मर गया, चन्द्र उत्पन्न हुआ और मर गया, बस ज्ञात हो गया कि संसार का एक नियम यह भी है कि जो उत्पन्न होता है वह मरता अवश्य है। क्योंकि हम प्रत्येक उत्पन्न होने वाले मनुष्य को मरते अर्थात् एक प्रकार से काम करते देखते हैं।

जिस प्रकार भिन्न २ वस्तुओं की एक-प्रकार-ता का नाम नियम है उसी प्रकार अनेक नियमों में भी एकता पाई जाती है। जैसे भिन्न २ मनुष्यों को मरते देखकर हम को निश्चय हो गया कि मनुष्य मरणधर्म है। इसी प्रकार पशुओं को देख कर भी यही ज्ञात हुआ कि पशु मरणधर्मा है, पक्षियों को देखकर भी यह बात मालूम हुई कि पक्षी मरणधर्मा हैं। अब यह तीन नियम हुये :—

(१) मनुष्य मरणधर्मा है।
(२) पशु मरणधर्मा है।
(३) पक्षी मरणधर्मा है।

कहने को तो यह तीन भिन्न २ नियम हैं परन्तु वस्तुतः इन तीनों नियमों में भी एक-प्रकार-ता है जिसको हम एक नियम द्वारा ही वर्णन कर सकते हैं अर्थात सभी प्राणी मरणधर्मा हैं। जहां पहले तीन नियम अपने अपने वर्ग की भिन्न २ व्यक्तियों में एकता सूचित करते थे वहां यह नियम तीनों वर्ग की सभी व्यक्तियों की एकता का द्योतक हो गया। यह बात ज्यामिति के एक उदाहरण से और स्पष्ट हो जायगी

ज्यामिति का एक नियम है कि त्रिभुज के तीनों कोण मिल-कर दो सम कोणों के तुल्य होते हैं। यह नियम केवल त्रिभुजों के लिये ही है, अर्थात् सभी त्रिभुजों में यह एकता पाई जाती है कि उनके तीनों कोणों का योग दो सम कोणों के बराबर हो। यह नियम त्रिभुजों में तो व्याप्त है परन्तु चतुर्भुजों में नहीं। क्योंकि चतुर्भुजों के चार कोणों का योग चार समकोणों के तुल्य होता है, अब यहां दो नियम हुयेः—

(१) त्रिभुजों के तीन कोणों का योग दो समकोण के बराबर होता है।

(२) चतुर्भुजों के चार कोणों का योग चार सम कोणों के तुल्य होता है।

ऊपरी दृष्टि से इन दोनों नियमों में कोई सादृश्य नहीं है। वह दोनों एक दूसरे से भिन्न २ दिखाई देते हैं। इसी प्रकार पंचभुज-क्षेत्र, षड्-भुजक्षेत्र या सप्त-भुज क्षेत्रों के कोणों को नापा जाय तो उनके लिये भी अलग अलग नियम मिलेंगे अर्थात् पंच भुज क्षेत्रों के सभी कोण ६ समकोणों के बराबर होंगे, षड्-भुज क्षेत्रों के आठ समकोणों के और सप्त-भुज क्षेत्रों के दस समकोणों के परन्तु इन नियमों में भी एक समता, एक-प्रकार-ता या एकता है जिसकी व्याप्ति सभी त्रिभुजों, सभी चतुर्भुजों सभी बहु भुज क्षेत्रों में पाई जाती है चाहे उनमें कितनी ही भुजायें क्यों न हों, अर्थात् कई भिन्न २ नियमों के स्थान में हम एक नियम दे सकते हैं कि किसी क्षेत्र के सब कोणों का योग उसकी भुजाओं की संख्या के दूने से चार कम समकोणों के बराबर होता है। इस प्रकार हमको ज्ञात हो गया कि जिस त्रिभुज और

चतुर्भुज को हम भिन्न २ जातियों वाला समझते थे उन में एक ऐसा समान नियम मिल गया जिसने त्रिभुज और चतुर्भुज को भिन्न २ जातियां के स्थान में एक जाति वाला सिद्ध कर दिया।

इसी प्रकार बीजगणित और अङ्कगणित में क्या भेद है? अङ्कगणित कुछ व्यक्तियों में व्यापक नियमों का वर्णन करती है। परन्तु बीजगणित उन सब नियमों की एक-प्रकार-ता या सादृश्य को ढूढती है। जो नियम ज्यामिति में केवल त्रिभुजों या चतुर्भुजों में ही व्यापक हैं वही नियम बीजगणित में त्रिभुजों या चतुर्भुजों में ही नहीं किन्तु संसार की अन्य वस्तुओं में भी लागू हो जाता है।

यह सम्बन्ध यहीं समाप्त नहीं हो जाता किन्तु बहुत आगे तक जाता है। कुछ नियम वनस्पति शास्त्र के हैं। कुछ प्राणि-शास्त्र के। परन्तु आगे चल कर यह दोनों जीवन-शास्त्र (Biology) में मग्न हो जाते हैं। इसी प्रकार रसायन शास्त्र, भौतिक, जीवन शास्त्र, गणित आदि भिन्न २ शास्त्र मिलकर एक ऐसा शास्त्र बन जाता है जिसके नियम संसार की सभी वस्तुओं पर लागू होते हैं। इसको दर्शन शास्त्र कह सकते हैं। यह बात कदापि नही हो सकती यदि संसार में एकता या एक-प्रकार-ता न पाई जाती। वस्तुतः जिस प्रकार चक्रवर्ती राजा और एक दरिद्र में एकता है उसी प्रकार मनुष्य, सुअर, कुत्ता, मच्छड़ आदि में एकता है। उसी प्रकार मनुष्य, पत्ता, पत्थर, मिट्टी आदि में एकता है उसी प्रकार मिट्टी के तुच्छ टुकड़े और प्रकाशवान सूर्य्य में एकता है।

तीसरी चीज़ जो संसार में दृष्टिगोचर होती है प्रयोजन है। वस्तुतः नियम और एकता व्यर्थ होते यदि प्रयोजन न होता। सब लड़कों के एक साथ शाला में आने का नियम व्यर्थ नहीं है। इसका प्रयोजन है। प्रयोजन ही इस कार्य्य को सार्थक बनाता है। संसार की सभी वस्तुओं और समस्त घटनाओं से किसी विशेष प्रयोजन की सूचना मिलती है। जहाँ कहीं भिन्नता है उससे भी प्रयोजन की ही सिद्धि होती है। यह प्रयोजन कभी मनुष्य की समझ में आता है और कभी नहीं आता। परन्तु प्रयोजन है अवश्य। समझने की तो यह बात है कि एक मनुष्य का प्रयोजन दूसरे मनुष्य की समझ में नहीं आया करता। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि कोई प्रयोजन है ही नहीं। एक समय एक यूरोप निवासी यात्री अरब के बद्दुओं के यहाँ महमान हुआ। एक दिन प्रातः काल वह उनके तम्बू के सामने टहलने लगा। बद्दू लोग उस को देख कर हँसने लगे। उन्होंने समझा कि कैसा मूर्ख है कि निष्प्रयोजन एक ओर से दूसरी ओर टहल रहा है। परन्तु उस यात्री का प्रयोजन स्पष्ट ही था। यही हाल संसार का है। यहाँ की सैकड़ों घटनाओं को हम अपने प्रयोजन से मिलाते हैं जो मिल जाती है उसको हम सार्थक कहते हैं और जो नहीं मिलती उसको व्यर्थ निरर्थक। वस्तुतः यही हमारी भूल है। यह जानना हमारे लिये कठिन है कि प्रयोजन क्या है। परन्तु संसार की गति ही बताती है कि प्रयोजन है अवश्य।

एक बड़ी मशीन की ओर दृष्टि डालिये। इसमें आपको सहस्रों पुर्ज़े मिलेंगे। कोई बहुत बड़ा कोई छोटा। कोई लम्बा

कोई गोल, कोई सीधा, कोई टेढ़ा। इन पुर्जों में परस्पर इतनी भिन्नता है कि किसी विशेष नियम या समानता का जानना कठिन है। परन्तु मशीन बनाने वाले के मस्तिष्क से पूछो। सब से पहले उसमें एक प्रयोजन था। बनाने वाला चाहता था कि अमुक काम की सिद्धि हो सके चाहे वह कपड़ा बुनना हो, चाहे पुस्तकें छापना और चाहे आटा पीसना। इस प्रयोजन ने कल के निर्माता को प्रेरणा की कि वह कई भिन्न २ पुर्जों को बनावें और उनको इस प्रकार मिलावे कि उसके प्रयोजन की सिद्धि हो सके। यह सब पुर्ज़े न तो बराबर हैं और न एक प्रकार के और न वे सब के सब एक साथ जुड़े हुये हैं। यदि ऐसा होता तो कल न बन सकता। असमान होने पर भी यह एक दृष्टि से समान हैं अर्थात् यह सब एक विशेष उद्देश्य की पूर्त्ति करते हैं। इनकी उपयोगिता कल की उपयोगिता पर है। कल का चलाना ही इनका उद्देश्य है। बहुत से पुर्जे इनमें छोटे और देखने में भद्दे लगते हैं। इनके स्थान पर बड़े और सुन्दर पुर्ज़े बनाये जा सकते हैं परन्तु उन सुन्दर पुर्जों का उपयोग ही क्या जो उस कल को चलाने में सहायता नहीं दे सकते। कल बनाने वाले से कहो कि हम अमुक पुर्जे के बदले बहुमूल्य, बड़ा तथा सुन्दर पुर्ज़ा देंगे। तो वह कहेगा कि मुझे न बहुमूल्य पुर्ज़ा चाहिये न सुन्दर। मैं तो उस पुर्ज़े को चाहता हूं जो मेरी कल को सुगमता से चला सके। मेरे लिये वही पुर्ज़ा सुन्दर, वही बड़ा और वही बहुमूल्य जो कल को चलाने रूप उद्देश्य की पूर्त्ति कर सके। जो दशा इस कल की है वही दशा समस्त ब्रह्माण्ड की है। यह जगत एक मुख्य प्रयोजन के लिये बनाया गया है। इसकी छोटी से

छोटी घटना भी निष्प्रयोजन नहीं है। इसमें बहुत सी वस्तुयें हैं जो लोगों को बुरी या भद्दी मालूम होती हैं। इसमें बहुत सी घटनायें हैं जिनको मनुष्य हानिकारक समझता है। परन्तु कारण यह है कि वह अपने कल्पित प्रयोजन को ही सृष्टि का भी प्रयोजन समझता है। इसलिये यदि कोई घटना उस प्रयोजन की सिद्धि नहीं करती तो वह समझता है कि जगत् का कोई प्रयोजन नहीं है। सृष्टि रचना की त्रुटियों को कई लोगों ने भिन्न २ प्रकार से वर्णन किया है। एक संस्कृत का कवि कहता है।

> गन्धं सुवर्णे फलमिक्षुदण्डे नाकारि पुष्पं खलु चन्दनेषु।
> विद्वान् धनाढ्यो नृप दीर्घजीवी धातुस्तदा कोऽपि न बुद्धिदोऽभूत् ॥

कि "सृष्टि के रचयिता को किसी ने इतनी बुद्धि भी नहीं दी कि वह सोने में गन्ध, ईख में फल और चन्दन में फूल लगाता या विद्वान को धनाढ्य और राजा को दीर्घायु बनाता"। ऐसे सोने में सुगन्ध ढूंढने वाले लोगों को याद रखना चाहिये कि यदि सोने में सुगन्ध होती तो धनाढ्य पुरुष सुन्दर पुष्पों का कब मान करते। सोने का रूप और पुष्पों की सुगन्ध यह दोनों अलग २ अपना कार्य्य करते हुये जगत् के प्रयोजन की सिद्धि करते हैं। रोबर्ट फ्लिण्ट महोदय (Robert Flint) अपनी आस्तिकता (Theism) नामी पुस्तक के पृष्ठ १२८ पर लिखते हैं:—

The system of which our earth is a member is vast, varied, and orderly, the planets and satellites of which it is composed being so adjus-

ted as regards magnitude and mass, distance, rate, and plane of direction &c., that the whole is stable and secure, while part ministers to part as organ to organ in an animal body. Our own planet, for example is so related to the sun and moon that seed-time and harvest never fail, and the ebb and flow of the tides never deceive us. And the solar system is but one of hundreds of millions of systems, some of which are incalculably larger than it, yet the countless millions of suns and stars thus "profusely scattered o'er the void immense" are so arranged and distributed in relation to one another, and in accordance with the requirements of the profoundest mathematics, as to secure the safety of one and all and to produce everywhere harmony and beauty. Each orb is affecting the orbit of every other, each is doing what, if unchecked, would destroy itself and the entire system, but so wonderously is the whole constructed that these seemingly dangerous disturbances are the very means of preventing destruction and securing the universal welfare, being due to reciprocally compensating forces which in given times exactly balance one another.

"जिस मण्डल का हमारी पृथ्वी एक अवयव मात्र है वह अति विशाल, विचित्र तथा नियमित है। जिन ग्रहों तथा उपग्रहों से यह बना हुआ है इनका परिमाण, इनका स्थूलत्व, इनकी दूरी, इनकी प्रगति तथा इनके मार्ग का तल यह सब इस प्रकार से मिलाये गये हैं कि समस्त मण्डल सुरक्षित और सुदृढ़ बन गया है और इसके अवयव एक दूसरे से इसी प्रकार व्यवहार करते हैं जैसे किसी प्राणी के शरीर के अवयव। उदाहरण के लिये हमारा अपना ही ग्रह (अर्थात् पृथ्वी) सूर्य्य और चन्द्र के साथ इस प्रकार सम्बद्ध है कि बीज बोने और खेत काटने के समयों में बाधा नहीं पड़ती। और समुद्र के ज्वार भाटे हम को कभी धोखा नहीं देते। फिर यह सूर्य्य मण्डल करोड़ों मण्डलों में से एक है। इनमें से बहुत से तो इस से असंख्य गुने बड़े हैं। फिर यह करोड़ों और अरबों सूर्य्य और तारा गण जो आकाश में इधर उधर बिखरे हुये हैं परस्पर इस प्रकार जुड़े हुये हैं और एक दूसरे से ऐसे सम्बद्ध हैं तथा गणित के गूढ़तम नियमों के इतने अनुकूल हैं कि उनसे प्रत्येक की रक्षा होती है और प्रत्येक स्थान में साम्य तथा सौन्दर्य दिखाई देता है। प्रत्येक ग्रह दूसरे के मार्ग पर प्रभाव डालता है। प्रत्येक कोई न कोई ऐसा कार्य्य कर रहा है जिसके बिना न केवल वही किन्तु समस्त मण्डल नष्ट हो सकता था। परन्तु यह समस्त मण्डल इतनी विलक्षणता से बना हुआ है कि जो घटनायें देखने में भयानक विघ्नरूप प्रतीत होती हैं वह वस्तुतः उसको नष्ट होने से रोकती तथा विश्व की दृढ़ता का साधन होती हैं क्योंकि वह परस्पर अपनी

शक्तियों को इस प्रकार व्यय करती हैं कि एक नियत समय में उनमें सहयोग हो जाता है।"

यह सहयोग ही वस्तुतः विशाल जगत् के विशाल प्रयोजन को सूचित करता है। इस विशाल प्रयोजन के अन्तर्गत बहुत से छोटे छोटे प्रयोजन भी हैं जिनको अलग अलग देखने से उन में कोई सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता। परन्तु जब हम उस विशाल प्रयोजन पर दृष्टि डालते हैं तो उन छोटे प्रयोजनों की उपयोगिता भी समझ में आ जाती है। जैसे मनुष्य की सांस से दुर्गन्ध वायु बाहर निकलता है। इस दुर्गन्ध वायु का मनुष्य के जीवन पर बुरा प्रभाव पड़ता है। अतः हम कह सकते हैं कि यदि हमारा शरीर इस प्रकार बना होता कि हम दुर्गन्ध वायु को बाहर न छोड़ते तो अच्छा होता। परन्तु इसी दुर्गन्ध वायु से वनस्पतियों की संवृद्धि होती है और यही वनस्पतियाँ हमारे शरीर की वृद्धि का कारण होती हैं। इस प्रकार जिस वस्तु को हम एक अपेक्षा से हानि कारक मानते हैं वह दूसरी अपेक्षा से लाभदायक सिद्ध हो जाती है। इस से सिद्ध होता है कि मनुष्य-शरीर से दुर्गन्ध युक्त सांस निकालने के समय यह भी विचार लिया गया था कि वनस्पतियों के लिये किस प्रकार भोजन सम्पादित होगा। एक छोटे से फूल की उपयोगिता का पता लगाना हो तो हम को संसार के कई विभागों की ओर देखना चाहिये। मनुष्य के दृष्टिकोण से वह फूल उसकी आंखों की तृप्ति करता है। यदि उसमें सुगन्ध है तो नासिका के लिये भी आह्लादकारी होता है। वैद्य लोग उसी फूल का औषधियों में प्रयोग करते हैं, चित्रकार उससे चित्रकारी सीखते हैं। रंगरेज़ उस से रंग

निकालते हैं। कवि अपने कविता कलाप में उस से सहायता लेते हैं। परन्तु मनुष्य के प्रयोजनों से भिन्न भी बहुत से प्रयोजन हैं जिनकी सिद्धि में वह फूल सहायक होता है। जैसा भौंरा उसका रस चूसता है। शहद की मक्खियां शहद निकालती हैं। तितलियाँ फूल पर बैठ कर आनन्द लेती हैं। फिर वही फूल इतने प्रयोजन की सिद्ध करने के अतिरिक्त अपने वृक्ष को सन्तति की रक्षा के लिये बीज उगाता है। यह एक छोटे से फूल का काम है। इसी प्रकार हम संसार की सभी वस्तुओं के विषय में सोच सकते हैं।

हमने यहाँ यह दिखलाने का यत्न किया है कि सृष्टि में हम को नियम-बद्धता, एक-प्रकार-ता और प्रयोजन दिखाई पड़ते हैं। परन्तु इनके अतिरिक्त एक और चीज़ है जिस पर ध्यान न देने से हम सृष्टि की रचना के विषय में अधिक न सोच सकेंगे। वह है इसकी **विशालता**। यह जगत् कितना विशाल है? इसका अनुमान हम लगा ही नहीं सकते। वस्तुतः यदि इसकी विशालता का अनुमान हम कर पाते तो इसको विशाल कहने के लिये कभी उद्यत न होते। शायद इसी लिये जगत् को ब्रह्माण्ड के नाम से पुकारा गया है। क्योंकि ब्रह्म नाम है बड़े का और अण्ड नाम है मण्डल का। यह विश्व मण्डल अत्यन्त बड़ा और विशाल होने से ही ब्रह्माण्ड कहलाता है।

जगत् की विशालता एक अपेक्षा से नहीं किन्तु सभी अपेक्षाओं से है। यदि लम्बाई चौड़ाई की दृष्टि से देखो तो हमारा मन भी उन गज़ों की कल्पना नहीं कर सकता जिनसे

सृष्टि नापी जा सके। मनुष्य ने समस्त पृथ्वी पर चक्कर लगा कर उसको नाप डाला। भूगोल वेत्ताओं का कथन है कि पृथ्वी की परिधि २५ हज़ार मील है। प्रथम तो २५ हज़ार मील की कल्पना करना भी कोई सुगम बात नहीं है। मनुष्य का अपना शरीर तो पांच छः फुट से बड़ा नहीं है। फिर इस की दृष्टि भी बहुत दूर तक नहीं पहुंचती। २५ हज़ार मील का अनुभव भी दुस्तर ही है। हां कुछ माप, कुछ अनुमान और कुछ कल्पना शक्ति से वह अपने भूमण्डल के एक अंश को जान सकता है। परन्तु फिर भी कौन कह सकता है कि यह पृथ्वी विशाल नहीं है। हिमालय पर्वत की तलहटी में खड़े होकर पर्वत की ओर दृष्टि डालिये। स्वयं अपनी ओर ध्यान दीजिये और फिर पर्वत से अपनी तुलना कीजिये। तुलना तो पीछे की जायगी। आंख उठाते ही मनुष्य के हृदय में पर्वत की विशालता के भाव उत्पन्न होने लगते हैं। कितना लम्बा, कितना चौड़ा, और कितना ऊंचा पहाड़ है। ओहो! आंख को चकाचौंध आती है। बुद्धि चकित हो जाती है और मस्तिष्क चकराने लगता है। यह है एक पहाड़ की विशालता परन्तु पृथ्वी पर अनेक पहाड़ ऐसे ही हैं। फिर जहाज़ में बैठ कर समुद्र पर जाइये। प्रथम तो जहाज़ भी कुछ कम विशाल नहीं है। इसकी विशालता पर मनुष्य को अभिमान है। परन्तु समुद्र के सामने जहाज़ क्या हैं। पहाड़ के सामने चींटी के समान भी तो नहीं। महीनों समुद्र पर यात्रा करते चले जाइये और पार नहीं मिलता। यह पृथ्वी के एक भाग की विशालता है। परन्तु क्या पृथ्वी संसार की विशाल तम वस्तु है? क्या इससे बड़ी चीज़ संसार में है ही नहीं?

यह बात नहीं। कल्पना कीजिये कि आप पृथ्वी के गोले को इस प्रकार तोड़ डालें जैसे बच्चा एक लड्डू को तोड़ता है। और पृथ्वी के समान १३ लाख गोलों को इसी प्रकार तोड़ते जायं। कुछ '१३ लाख' संख्या पर भी ध्यान रखिये क्योंकि '१३ लाख' संख्या भी कुछ कम विशाल नहीं है। अब इस विशाल पृथ्वी के समान १३ लाख विशाल गोलों को तोड़ कर एक गोला बनावें तो वह गोला आपके उस सूर्य्य के समान होगा जो प्रातःकाल आपको एक छोटे से वृत्त के समान दिखाई पड़ता है। फिर क्या एक ही सूर्य्य है ? खगोल विद्या विशारदों से पूछो। वह कहते हैं कि करोड़ों सूर्य्य हैं। करोड़ों सितारे हैं जो आकाश में छोटे २ दीपकों के समान प्रतीत होते हैं परन्तु वह पृथ्वी से बहुत बड़े हैं। और उनके प्रकाश की एक किरण को पृथ्वी तक पहुँचते हुये सैकड़ों वर्ष लग जाते हैं यद्यपि प्रकाश की चाल एक सेकंड में कई लाख मील है।

यह तो हुई लम्बाई चौड़ाई की बात। सूक्ष्मता की दृष्टि से भी संसार इतना ही विशाल है। वस्तुओं को तोड़ २ कर सूक्ष्म करते जाइये। एक ऐसी अवस्था आती है जहाँ हमारी कल्पना शक्ति भी थक जाती है और उसके आगे नहीं जा सकती। पानी को गर्म करते हैं तो उसके कण भाप या धुएं की आकृति में हमारे सामने नाचने लगते हैं। यदि अधिक गर्म किया जाय तो वह कण भी दृष्टि से अतीत हो जाते हैं। इस प्रकार हमको पता नहीं चलता कि कितनी सूक्ष्म वस्तुयें संसार में उपस्थित हैं। जहाँ बड़े से बड़े जन्तु को देख कर हम चकित होते हैं वहाँ अति छोटे जन्तु को देख कर भी हमें

उतना ही आश्चर्य होता है। चींटी हाथी से कुछ कम प्रभाव-उत्पादक वस्तु नहीं है।

नियमों की विशालता भी विलक्षण ही है। यदि आप किसी एक शास्त्र को उठा लें तो उसी में अनेकों नियमों का वर्णन मिलेगा। फिर असंख्य शास्त्र हैं उनके नियम भी असंख्य ही हैं। विज्ञानवेत्ता इन नियमों को खोजने और उनका वर्गीकरण करने में अति प्राचीन काल से लगे हुये हैं और अब भी बहुत से नये नये नियम निकलते आते हैं। इससे सिद्ध होता है कि सृष्टि एक विशाल वस्तु है।

कुछ लोग शायद कहने लगें कि कई छोटी छोटी वस्तुओं के मिलने से ही एक बड़ी वस्तु बन जाती है। जैसे पहाड़ क्या है? मिट्टी के बहुत से छोटे छोटे कणों का एक समूह है। समुद्र क्या है? पानी के छोटे छोटे बिन्दुओं का एक कोष है। इसलिये विशालता पर इतना बल क्यों दिया जाय? परन्तु यह उनकी भूल है। यदि विचार पूर्वक देखा जाय तो मनुष्यों के मस्तिष्क पर विशालता का प्रभाव ही कुछ अन्य पड़ता है। इस में सन्देह नहीं कि जल के बहुसंख्य बिन्दुओं से मिल कर ही समुद्र बनता है। परन्तु समुद्र सामूहिक रूप में वस्तु ही कुछ और है, यदि समुद्र विलक्षण वस्तु न होती तो वह मनुष्य पर इतना प्रभाव क्यों डालती। पृथ्वी के छोटे छोटे कणों का वह प्रभाव नहीं पड़ सकता जो एक महान् पर्वत का पड़ता है, यदि तुम एक सहस्र मनुष्यों की सेना को देखो तो और प्रभाव पड़ेगा और यदि उसी सेना के एक एक मनुष्य को अलग अलग देखो तो और। इसलिये यह कहना ठीक नहीं है कि विशालता कुछ कम ध्यान देने योग्य

वस्तु है। वस्तुतः संसार की विशालता इतनी ही विलक्षण है जितनी उसकी एकता या नियम बद्धता या प्रयोजन। यदि विशालता को संसार से निकाल लिया जाय तो अन्य गुण भी उतने विलक्षण नहीं रहते। मनुष्य की बनाई हुई अद्भुत वस्तुओं और सृष्टि को अद्भुत वस्तुओं में एक बड़ा भेद यह पाया जाता है कि सृष्टि की वस्तुयें मनुष्य कृत वस्तुओं की अपेक्षा हर एक बात में विशाल हैं।

कभी कभी मनुष्यकृत वस्तुयें भी हम को चकित कर देती हैं। जैसे बिजुली की रोशनी हम को चन्द्रमा की रोशनी से अधिक आश्चर्य जनक प्रतीत होती है। मनुष्य का बनाया हुआ एक काग़ज़ का तोता असली तोते से अधिक अद्भुत प्रतीत होता है। मनुष्य के बनाये हुये आकाशयान (Aero-plane) को देखकर हम अधिक आश्चर्यमय होते हैं। परन्तु यह आश्चर्य हम को मनुष्यकृत वस्तुओं की विशालता के कारण नहीं होता किन्तु मनुष्य की बुद्धि की अल्पता के कारण होता है। यदि एक दो वर्ष की आयु का बालक किसी प्रौढ़ व्याख्याता के समान या उससे आधा या दशवां भाग भी व्याख्यान देने लगे तो हम चकित रह जायंगे, इसलिये नहीं कि वह बालक प्रौढ़ व्याख्याता से बढ़ गया। किन्तु केवल इसलिये कि इतने अल्पवयस्क बालक से इतने व्याख्यान की आशा न थी। यही हाल मनुष्यकृत वस्तुओं का है। मनुष्य की बुद्धि की अल्पता का विचार करके बिजुली की रोशनी एक आश्चर्य जनक पदार्थ मालूम होती है। वस्तुतः वह चांद की रोशनी से अधिक विशाल नहीं और न वायु यान ही पक्षियों के शरीरों से अधिक विशाल हैं। गम्भीर

दृष्टि से देखा जाय तो बुद्धिमान से बुद्धिमान मनुष्य की कारीगरी सृष्टि की कारीगरी की सहस्रांश भी नहीं है, जो सम्बन्ध गागर का सागर से है वही मनुष्यकृत वस्तुओं का सृष्टि की अमानुषी वस्तुओं से है।

चौथा अध्याय

सृष्टि कर्त्ता।

त अध्याय में हम बता चुके हैं कि सृष्टि म नियम-बद्धता, एकता, प्रयोजना तथा विशालता पाई जाती है इससे पूर्व हमने यह सिद्ध किया था कि सृष्टि एक कार्य है। इसका आरम्भ है अर्थात् एक समय था जब सृष्टि न थी, फिर एक समय आया कि सृष्टि उत्पन्न हुई। अब प्रश्न होता है कि क्या इस सृष्टि का कोई कर्त्ता है। यदि सृष्टि किसी ने बनाई है तब तो आस्तिकता सिद्ध है। यदि नहीं बनाई तो आस्तिकवाद केवल कल्पना मात्र है।

इस विषय में चार प्रकार के मत हैं:—

(१) सृष्टि स्वभाव से बन गई। इसका बनानेवाला कोई नहीं, बिना बनाने वाले के ही यह अनादि काल से बनती और बिगड़ती चली आती है।

(२) कुदरत या नेचर ही सृष्टि का कारण है।

(३) सृष्टि की यह रचना आकस्मिक है।

(४) सृष्टि के रचने वाली एक ज्ञानमय सत्ता है जो किसी प्रयोजन विशेष की सिद्धि के लिये सृष्टि बनाती और बिगाड़ती है।

पहले तीन मत नास्तिकवाद से सम्बन्ध रखते हैं चौथा आस्तिकों का मत है। इस चौथे मत की भी भिन्न २ शाखायें हैं। परन्तु उन सब का आदि मूल सृष्टि का कार्य्यत्व हो है।

हम यहाँ क्रमपूर्वक एक एक को लेते हैं।

यह तो निस्सन्देह बात है कि प्रत्येक कार्य्य के लिये कारण चाहिये और कारण भी एक नहीं किन्तु तीन। एकघड़े को लीजिये। इसका उपादान कारण मिट्टी है क्योंकि मट्टी का परिवर्त्तित रूप ही घड़ा है। निमित्त कारण कुम्हार है जो मिट्टी को घड़े के रूप में बनाता है। तीसरा साधारण कारण चाक, समय तथा देश हैं जिनके द्वारा या जहाँ घड़ा बनता है। इनमें समय, देश आदि तो सभी घटनाओं में सामान्य हैं क्योंकि जब हम किसी घटना का विचार करते हैं तो उसके साथ साथ यह बात स्वयं ही विचार में आ जाती है कि वह घटना अमुक देश अथवा अमुक काल में हुई होगी। परन्तु करण अर्थात् वह साधन जिनसे क्रिया की जाती है (जैसे घड़े के लिये चाक) कभी २ निमित्त कारण से इतर होते हैं और कभी नहीं, जैसे लिखने के लिये तो मुझे लेखनी की आवश्यकता है, परन्तु किसी को मारने के लिये मेरा हाथ ही पर्य्याप्त है। यहाँ हाथ ही करण होगा यद्यपि हाथ मेरे शरीर का अर्थात् मेरा ही एक अङ्ग है। कहने का तात्पर्य्य

यह है कि यदि निमित्त कारण में बिना विशेष करण को प्रयोग किये हुये क्रिया करने की शक्ति है तो उसके लिये अलग से कोई करण नहीं चाहिये केवल निमित्त कारण की शक्ति ही करण का भी काम देगी।

मिल महोदय का जो कथन हमने गत अध्याय में उद्धृत किया है उसके अनुसार सृष्टि एक रचा हुआ पदार्थ है अर्थात् सृष्टि रचना एक प्रकार की घटनाओं या असंख्य क्रियाओं का समूह है जो समय समय पर हुआ करती हैं। यह क्रियायें अनेक हैं एक नहीं, जिसको हम एक क्रिया कहते हैं वह भी अनेक क्रियाओं की शृङ्खला मात्र है। जैसे हम कहते हैं कि "राम लखनऊ से आया है", यहाँ आना, साधारण दृष्टि से तो एक क्रिया है परन्तु गम्भीर दृष्टि से असंख्य क्रियायें हैं जिनको हम ने 'आने' इस एक नाम से पुकारा है "लखनऊ से आने" के लिये कितनी क्रियाओं की आवश्यकता हुई होगी ? प्रथम मन में प्रेरणा का उत्पन्न होना, फिर मन का इस प्रेरणा पर विचार करना, फिर निश्चय करना, फिर उठना, फिर एक पैर बढ़ाना, फिर दूसरा, फिर तीसरा, इत्यादि। जब एक साधारण काम में इतनी क्रियायें सम्मिलित हैं तो इस विशाल सृष्टि की एक एक क्षण में होने वाली क्रियायें भी असंख्य ही होंगी। 'नदी बहती है', या "हवा चलती है" यह एक क्रिया नहीं है। नदी के बहने के लिये असंख्य जल बिन्दुओं को एक क्षण में न जाने कै बार गति करनी पड़ती है। इसी प्रकार वायु के परमाणुओं की दशा है।

अब प्रश्न यह उठता है कि इस विशाल क्रिया-जाल का कोई कर्त्ता है या नहीं। अर्थात् क्या इसका कोई निमित्त

कारण भी है जैसे घड़े का कुम्हार होता है। आस्तिकों और नास्तिकों में इस विषय में भिन्न २ मत हैं। सृष्टि में जितना क्रिया-जाल पाया जाता है उसके दो मुख्य विभाग किये जा सकते हैं एक वह क्रियायें जिनको चेतन प्राणि किया करते हैं, जैसे पुस्तक लिखना, मकान बनाना, घोंसला बनाना, रोना, हंसना, चलना, दौड़ना, इत्यादि। इन क्रियाओं के निमित्त कारण हम को कहीं तो प्रत्यक्ष दीखते हैं और कहीं हम उनका अनुमान कर लेते हैं। जैसे मेरे सामने एक कुम्हार घड़ा बना रहा है। यहाँ घड़े के निर्माता के विषय में कोई शंका ही नहीं रहती। क्योंकि "प्रत्यक्षं किं प्रमाणम्"। परन्तु जो घड़ा मैंने बाज़ार से मोल लिया है उसको प्रत्यक्ष बनते नहीं देखा। इसके लिये मैं अनुमान कर लेता हूं कि जिस प्रकार मैंने पहले प्रत्यक्ष किया था कि घड़ा बनाने के लिये कुम्हार चाहियें इसी प्रकार इस घड़े का निर्माता भी कोई न कोई कुम्हार होगा। यदि वृक्ष पर हम कोई घोंसला देखते हैं तो उसके विषय में भी हमारा यही अनुमान होता है कि इस को किसी न किसी पक्षी ने बनाया है।

कुछ लोग जैसे चारवाक मतानुयायी "अनुमान प्रमाण" को ही नहीं मानते। वह कहते हैं कि।

"अविनाभावस्य दुर्बोधतया नानुमानाद्यवकाशः। धूमादि ज्ञानानन्तर मग्न्यादिज्ञानेप्रवृत्तिः प्रत्यक्षमूलतया भ्रान्त्या वा युज्यते"॥

(सर्वदर्शन संग्रह चार्वाक दर्शनम्)

अर्थात् जिस व्याप्ति के आधार पर अनुमान प्रमाण माना गया है वही सिद्ध नहीं होती तो अनुमान को प्रमाण कैसे माना

जाय। "जहाँ धुआं है वहां अग्नि है" यह हेतु और साध्य का साहचर्य नियम सिद्ध नहीं होता। जहाँ "अग्नि है वहाँ धुआं है" बात हमने एक बार दो बार दस बार देखी है। परन्तु इसका हमारे पास क्या प्रमाण है कि भूत या भविष्य में इसका अपवाद नहीं मिलेगा (तस्य संप्रयुक्तविषयज्ञानजनकत्वेन भवति प्रसरसंभवेऽपि भूतभविष्यतोस्तद संभवेन सर्वो पसंहारवत्या व्याप्तेर्दुर्ज्ञात्वात्—सर्वदर्शनसंग्रह) । इस विषय में हम इस स्थान पर यही कहते हैं कि प्रथम तो चारवाकों के पास "अनुमान प्रमाण न मानने" रूप अपने कथन के लिये कोई प्रमाण ही नहीं है। क्योंकि अनुमान, उपमान, शब्द आदि अन्य प्रमाण तो वह मानते नहीं केवल प्रत्यक्ष मानते हैं। अकेले प्रत्यक्ष के आधार पर उनका कथन सिद्ध नहीं होता दूसरे चारवाकों के व्यवहार से भी यही सिद्ध होता है कि उनका मस्तिष्क उनको 'अविनाभाव' मानने के लिये मजबूर करता है जब वह कहते हैं कि।

अङ्गनालिङ्गनाजन्यसुखमेव पुमर्थता।

अर्थात् "स्त्री गमन से उत्पन्न हुआ सुख ही पुरुषार्थ है" तो प्रश्न यह होता है कि 'सुख' और 'स्त्री गमन' का अविनाभाव सम्बन्ध उनको माननीय है या नहीं। यदि माननीय नहीं और यदि भूत या भविष्य में उसका अपवाद संभव है तो उनका यह उपर्युक्त कथन असिद्ध हुआ। यदि माननीय है तो फिर 'अविनाभाव' मानने के पश्चात् अनुमान प्रमाण मानने में आपत्ति ही क्या रह जाती है? प्रत्येक पुरुष चाहे वह चारवाक हो या अन्य कोई। अपनी जीवन यात्रा के सभी कार्यों को अनुमान ही के आश्रय पर करता है। चारवाका-

नुयायियों के घर में रोटी इसीलिये पकती होगी कि उन्होंने अनुमान से यह जान लिया है कि भूख अवश्य लगेगी और इस के लिये रोटी की आवश्यकता है। 'रोटी खाने' और भूख निवारण होने में जो व्याप्ति सम्बन्ध है वह भूत और भविष्य के लिये भी इतना ही ठीक है। और न केवल दूसरों के लिये किन्तु चारवाकों के लिये भी। मनुष्य या किसी प्राणी को कार्य्य करने में प्रेरणा भी तभी होती है जब वह अनुमान को प्रमाण मानकर निश्चय कर ले कि अमुक क्रिया का अमुक फल होगा। अनुमान के न मानने से प्रत्यक्ष की भी उपयोगिता नहीं रहती। प्रत्यक्ष की यही उपयोगिता है कि अनुमान का सहायक हो। क्योंकि प्रत्यक्ष तो वर्त्तमान काल में होता है। और उसके आधार पर भविष्य की स्कीम बनाई जाती है। अतः अनुमान प्रमाण मानना न केवल आस्तिकवाद के लिये किन्तु प्रत्येक कार्य्य के लिये आवश्यक है।

अनुमान की प्रामाण्यता का प्रश्न उठाने से पूर्व हम कह रहे थे कि मनुष्य कृत या अन्य प्राणिकृत वस्तुओं या क्रियाओं को देखकर हम अवश्य अनुमान कर लेते हैं कि इनका कर्त्ता कोई है। इस विषय में आस्तिकों और नास्तिकों में कोई मत भेद नहीं है। जिस प्रकार एक आस्तिक किसी मेज़ को देख कर समझता है कि इसे किसी न किसी बढ़ई ने अवश्य बनाया है इसी प्रकार नास्तिक का भी यही विचार होता है। अब केवल वह पदार्थ या क्रियायें रह जाती हैं जिनका बनाना किसी प्राणी द्वारा सम्भव नहीं है जैसे वृक्ष का उगना, सूर्य्य का निकलना, भूकम्प का आना इत्यादि। प्रश्न यह है कि इन का कोई कर्त्ता माना जाय या नहीं। यह सब क्रियायें साध्य

कोटि में हैं। पहले प्रकार की क्रियायें सिद्ध कोटि में हैं। अर्थात् पहले प्रकार की क्रियाओं के विषय में यह सिद्ध हो चुका है कि उनका बनाने वाला अवश्य है। दोनों पक्षों को यह बात स्वीकृत है। दूसरे प्रकार की क्रियाओं के विषय में मतभेद है। आस्तिकों की युक्ति यह है कि जिस प्रकार पहले प्रकार की सभी क्रियाओं के लिये कर्त्ता की आवश्यकता है उसी प्रकार दूसरे प्रकार की क्रियाओं के लिये भी कर्त्ता की आवश्यकता होनी चाहिये। पहले प्रकार की क्रियाओं और उनके कर्त्ताओं का अविनाभाव सम्बन्ध निश्चित है। यह प्रत्यक्ष से सिद्ध कर लिया गया है। प्रश्न यह है कि क्या इस युक्ति को दूसरे प्रकार की वस्तुओं या क्रियाओं पर घटाया जाय। मेरी समझ में कोई ऐसा कारण नहीं है कि यह युक्ति घटाई न जा सके। जब हम को यह सिद्ध हो गया कि प्रत्येक क्रिया के लिये कर्त्ता की आवश्यकता है तो भूकम्प आदि सृष्टि रचना सम्बन्धी जितनी क्रियायें हैं उनके लिये भी कर्त्ता की आवश्यकता है। नास्तिक कहते हैं कि पहली प्रकार की क्रियाओं के लिये तो कर्त्ता की आवश्यकता है परन्तु दूसरे प्रकार की क्रियाओं के लिये नहीं। अर्थात् मेज़ के लिये तो बढ़ई की आवश्यकता है परन्तु पर्वत के लिये नहीं। लोटे के लिये ठठेरे की ज़रूरत है परन्तु तड़ाग या नदी या समुद्र के लिये नहीं। हम उनसे पूछते हैं कि इसके लिये तुम्हारे पास कोई दृष्टान्त है। तो वह 'साध्य कोटि' की क्रियाओं में से ही कुछ दृष्टान्त देदेते हैं। परन्तु याद रखना चाहिये कि जब समस्त संसार की क्रियाओं के दो वर्ग हो गये एक 'प्राणिकृत' जो "सिद्धकोटि" में हैं। दूसरे 'अप्राणिकृत' जो 'साध्य कोटि'

में हैं। तो सिद्ध कोटि की वस्तुयें तो दृष्टान्त का काम दे सकती हैं परन्तु साध्य कोटि को नहीं। किसी पक्ष को यह अधिकार नहीं है कि 'साध्यकोटि' की किसी वस्तु को दृष्टान्त के रूप में उपस्थित कर सके। न्याय का यह नियम है कि

लौकिक परीक्षकाणां यस्मिन्नर्थे बुद्धिसाम्यं स दृष्टान्तः।

अर्थात् दृष्टान्त वही है जो दोनों पक्षों को माननीय हो। नास्तिकों के पास अपने पक्ष के सिद्ध करने के लिये कोई दृष्टान्त है ही नहीं। अधिक स्पष्ट करने के लिये सोचना चाहिये कि साध्य यह है कि "सूर्य्य आदि का भी कोई कर्त्ता अवश्य है।" आस्तिक इसके लिये हेतु देता है कि जिस प्रकार "मेज़ के लिये बढ़ई की आवश्यकता है" उसी प्रकार सूर्य्य के लिये भी कर्त्ता की आवश्यकता है। यहाँ मेज़ का दृष्टान्त नास्तिक और आस्तिक दोनों को माननीय है। परन्तु नास्तिक कहता है कि "सूर्य्य आदि के लिये कर्त्ता की आवश्यकता नहीं" जैसे कि "नदी के बहने के लिये बहाने वाले की आवश्यकता नहीं"। यहाँ नदी का दृष्टान्त जो नास्तिक ने दिया वह 'सिद्ध कोटि' में नहीं किन्तु साध्यकोटि में है क्योंकि उसको आस्तिक नहीं मानता। आस्तिक के लिये तो 'नदी का बहना', और 'सूर्य्य का निकलना' यह दोनों एक ही कोटि में हैं। इस लिये यह दृष्टान्त ठीक नहीं बैठता।' नास्तिक सिद्धकोटि से दृष्टान्त लेना नहीं चाहता क्योंकि सिद्धकोटि के जितने दृष्टान्त हैं वह उस के मत के घातक हैं पोषक नहीं। 'साध्यकोटि' से दृष्टान्त लेने का उसे अधिकार नहीं। सिद्धकोटि अर्थात प्राणि-कृत क्रियायें और 'साध्यकोटि' अर्थात् अप्राणिकृत क्रियायें इन दोनों वर्गों के बाहर नास्तिक को कोई दृष्टान्त मिल ही नहीं सकता।

अतः स्पष्ट है कि नास्तिकों का पक्ष निर्बल है। यदि वह यह मानते हैं कि बिना घड़ी साज़ के घड़ी नहीं बन सकती या बिना बढ़ई के मेज़ नहीं बन सकती तो उनको यह भी मानना अवश्य चाहिये कि बिना चेतन सत्ता के पहाड़ और नदियां तथा सूर्य्य और चांद भी नहीं बन सकते।

कुछ लोगों ने कारण और कार्य्य के सम्बन्ध में आपत्ति की है। वह कहते हैं "कारण क्या है? दो घटनाओं में जो पहली घटना है उसे कारण और पिछली को कार्य्य कहते हैं? इससे अधिक कार्य्य और कारण का कोई सम्बन्ध ही नहीं।" यदि कार्य्य और कारण का सम्बन्ध सिद्ध नहीं होता तो आस्तिकता की भित्ति धम से नीचे आ पड़ती है। इस विषय में एक महाशय लिखते हैं:—

John Stuart Mill taking up and extending an old argument of Humes* tried very hard to persuade us that it really meant nothing more than 'coming always before.' He said that if one thing always happened just before another, they got so closely associated in our mind that we began to think of the first as the cause of the second."

((God and the Soul by R. A. Armstrong p. 35)

* "Our idea of necessity and causation arises entirely from the uniformity observable in the operations of nature where similar objects are constantly conjoined together and the mind is determined by custom to infer the one from the appearance of the other." (Hume's An Enquiry Concerning Human Understanding.)

अर्थात् "जोन स्टुअर्ट मिल ने ह्यूम की एक पुरानी युक्ति को लेकर और बढ़ा कर हमें यह निश्चय कराने का यत्न किया है कि कारण का इससे अधिक और कोई अर्थ नहीं कि 'सदा पहले होने वाला'। वह कहते हैं कि यदि एक घटना सदा दूसरी घटना के ठीक पहले होती है तो वे दोनों हमारे मन में इस प्रकार सम्बद्ध हो जाती हैं कि हम पहली को दूसरी का कारण समझने लगते हैं"।

परन्तु यदि ध्यानपूर्वक विचार किया जाय तो यह मनोविज्ञान सम्बन्धी एक बहुत बड़ी भूल है। शिक्षित और अशिक्षित, बाल और वृद्ध, सभी के मन में कारण और कार्य के भाव हैं। और यह भाव केवल पूर्वापर सम्बन्ध से ही उत्पन्न नहीं होते। एक बच्चा मा को रोटी बनाते देखता है और वह झट समझ लेता है कि 'मा' 'रोटी' का निमित्त कारण है। वह 'कारण' और 'कार्य्य' शब्दों से सर्वथा अनभिज्ञ है परन्तु कार्य्य-कारण सम्बन्ध का भाव उसके हृदय में विद्यमान है। यह स्वाभाविक है। मा के रोटी बनाने और रोटी के बच्चे तक पहुंचने के बीच में कई घटनायें हो जाती हैं। परन्तु वह उन घटनाओं को रोटी का कारण नहीं समझता। जैसे वह कभी नहीं समझता कि चूल्हा रोटी का कारण है या तवा रोटी का कारण है। उसको स्वभावतः ही यह भान हो जाता है कि रोटी की बनाने वाली सत्ता उसकी मा है। बच्चे के स्वच्छ हृदय में जो दार्शनिक प्रश्नों के पक्षपात से सर्वथा मुक्त है और जिसको आस्तिकता, नास्तिकता के झगड़ों से कुछ सम्बन्ध नहीं कारणकार्य्य-सम्बन्ध का ज्ञान

कैसे हो गया ? मिल और ह्यूम के विषय में तो यह कहा जा सकता है कि वह अपने विशेष मत की स्थापना करना चाहते थे अतः उन्होंने बाल की खाल निकालने का यत्न किया। परन्तु बच्चा इन बातों से रहित है। इसी प्रकार कार्य्य-कारण का भाव अशिक्षित जंगली मनुष्यों में भी पाया जाता है। उनका व्यावहारिक जीवन बताता है कि वह सदा एक दूसरे के पश्चात् होने वाली वस्तुओं या घटनाओं को ही कार्य्य-कारण नहीं मानते किन्तु इसके अतिरिक्त उनके हृदय में कारण और कार्य्य का भिन्न भाव होता है। इस भाव को किन शब्दों में वर्णन किया जाय और इसके क्या लक्षण किये जायं यह दूसरी बात है। परन्तु कार्य्य-कारण सम्बन्ध और पूर्वापर सम्बन्ध यह दोनों भिन्न २ सम्बन्ध हैं और जो मनुष्य निष्पक्ष भाव से अपने मन या दूसरों के मन का अध्ययन करेगा उस पर यह बात अवश्य विदित हो जायगी। मैं तो समझता हूँ कि मनुष्य ही नहीं किन्तु बहुत से पशु पक्षियों के हृदयों में भी कारण और कार्य्य का भाव विद्यमान होता है। पालू कुत्ते, तोते और मैनाओं के बहुत से व्यवहार इस बात की पुष्टि करते हैं। कभी २ ऐसा होता है कि लोग भूल या भ्रम से पूर्वापर सम्बन्ध को ही कारण-कार्य्य सम्बन्ध समझ लेते हैं और व्यवहार में धोखा खा जाते हैं। कभी कभी तो वह कह भी उठते हैं कि हम ने धोखे से पहली घटना को दूसरी का कारण समझ लिया और इस लिये हानि हो गई। इससे भी यही सिद्ध होता है कि पूर्वापर सम्बन्ध और चीज़ है और कारण-कार्य्य सम्बन्ध और चीज़। मिल महोदय के "coming always before" (सर्वदा पहले आने वाली)

वाक्य में उनका 'सर्वदा' (always) शब्द ही सिद्ध करता है कि उनका पक्ष ठीक नहीं है। किसी घटना का दूसरी घटना से सदा पूर्व होना, कभी पीछे न होना, कारण का केवल एक चिह्न है। अर्थात् कारण की एक पहचान यह भी है कि वह कार्य्य से सदा पूर्व होगा। परन्तु केवल पूर्व होने से ही हम एक घटना को दूसरी का कारण नहीं कह बैठते। जिन आर्मस्ट्रांग (Armstrong) महाशय का कथन हमने ऊपर उद्धृत किया है वह हमारी इसी बात को इस प्रकार स्पष्ट करते हैं।

"Monday always comes before Tuesday, yet I never heard any one call Monday the cause of Tuesday...Darkness always comes before sunrise, yet darkness is not the cause of sunrise" (p. 35).

"सोमवार सर्वदा मंगल के पहले आता है, परन्तु मैंने कभी किसी को यह कहते नहीं सुना कि सोमवार मंगल का कारण है।......अन्धेरा सदा सूर्य्योदय के पूर्व होता है परन्तु अंधेरा सूर्य्योदय का कारण नहीं है" (पृ० ३५)

यही महाशय निमित्त कारण की इस प्रकार व्याख्या करते हैं :—

"Dr. Ward gives us the very best and clearest example of cause that we can have—" the influx of a man's mental volitions into his bodily acts" (p. 35)

" It not only follows *after*. It follows *from*. It is its result, its effect. The act of will is its cause." (p. 36)

अर्थात् " डाक्टर वार्ड ने कारण का सब से अच्छा उदाहरण दिया है—मनुष्य की इच्छा शक्ति की उसके शारीरिक व्यापार में प्रविष्टि ," (पृ० ३५)

" (कार्य्य) न केवल (कारण से) पीछे होता है किन्तु कारण के द्वारा होता है। यह उसका कार्य्य या परिणाम है। इच्छा शक्ति की क्रिया कारण है। " (पृ० ३६)

वार्ड से भी अच्छा लक्षण अन्नंभट्ट ने अपनी तर्क संग्रह की तर्कदीपिका में दिया है।

उपादानगोचरापरोक्षज्ञानचिकीर्षाकृतिमत्त्वं कर्तृत्वम् ।

(Bombay Sans. Series Edition. पृ० १३)

अर्थात् कर्त्ता या निमित्त कारण वह है जिसमें नीचे लिखी तीन बातें हों :—

(१) उपादानगोचर–अपरोक्ष-ज्ञान अर्थात् उपादान कारण का अपरोक्ष-या निकटतम ज्ञान जैसे कुम्हार को मिट्टी का।

(२) चिकीर्षा या काम करने की इच्छा।

(३) कृति अर्थात् क्रिया या प्रयत्न।

ज्ञान, चिकीर्षा तथा कृति में भी कारण कार्य्य का सम्बन्ध है। क्योंकि कोई क्रिया विना इच्छा के नहीं हो सकती और जब तक उस वस्तु का ज्ञान न हो जिस पर कर्त्ता की क्रिया पड़ती है उस समय तक उसमें इच्छा भी नहीं हो सकती। एक प्रकार से इच्छा शक्ति को भी कर्त्तृत्व का विशेष लक्षण मान सकते हैं क्योंकि जहां इच्छा है वहां ज्ञान पहले अवश्य रहा होगा और वहीं क्रिया के भी होने की सम्भावना है।

इस प्रकार इच्छा शक्ति का 'कारणत्व' से विशेष सम्बन्ध है। जिस घटना में इच्छा-शक्ति विद्यमान नहीं होती उसको हम कारण नहीं कहते चाहे वह घटना दूसरी घटना से पूर्व एक बार देखी गई हो अथवा कई बार। कल्पना कीजिये कि हम छत की कड़ी से लगातार सैकड़ों बार मिट्टी गिरते देखते हैं। परन्तु हमारा कभी यह विचार भी नहीं होता कि मिट्टी गिराने का निमित्त कारण छत की कड़ी है। परन्तु यदि एक बार भी हम किसी मनुष्य को छत से मिट्टी गिराते देखते हैं तो झट कहने लगते हैं कि मिट्टी इस मनुष्य ने गिराई है। क्योंकि पहले उदाहरण में इच्छा-शक्ति उपस्थित नहीं है और दूसरे में उपस्थित है।

प्रत्येक कार्य्य के लिये निमित्त कारण की आवश्यकता, और निमित्त कारण के लिये इच्छा-शक्ति की आवश्यकता, यह दोनों बातें मनुष्य के मस्तिष्क में आरम्भ से इस प्रकार जमी हुई हैं कि इनसे मुक्ति पाना दुस्तर ही नहीं किन्तु असम्भव है। आजकल जब दर्शन-शास्त्र का आधार मानवी ज्ञान के नियमों (Theory of knowledge) पर रक्खा जाता है और इस बात पर अधिक बल दिया जाता है कि तत्वज्ञान की प्राप्ति के लिये ज्ञान-तत्व की प्राप्ति आवश्यक है उस समय हम उन नियमों को सर्वथा उपेक्षा की दृष्टि से नहीं देख सकते जो मनुष्य के मस्तिष्क पर प्रत्येक युग और प्रत्येक देश में शासन करते रहे हैं। वस्तुतः प्रत्येक क्रिया के साथ किसी इच्छा शक्ति का सम्बन्ध जोड़ना मनुष्य के लिये इतना स्वाभाविक है कि जहाँ उसको इच्छा शक्ति का प्रकट रूप दिखाई नहीं देता वहां वह कोई न कोई कल्पित रूप मानने लगता है। जैसे जब वह

किसी पहाड़ से आग निकलती देखता है और आग जलाने वाले को नहीं देखता, तो कल्पना कर लेता है कि एक अदृष्ट देवी या देवता है जो इस अग्नि को निकाल रही है। यदि हम प्रत्येक देश के भिन्न २ देवी देवताओं की कहानियों पर विचार करें और यह पता लगावें कि अमुक मनुष्य या अमुक जाति ने उनकी कल्पना किस लिये की तो हम को इस विश्वास का मूल कारण यही मिलेगा कि वह विशेष घटनाओं को किसी न किसी इच्छा-शक्ति से सम्बन्ध करना चाहते थे। मानवी मस्तिष्क की गति ही उनको ऐसा करने के लिये अनुरोध करती थी। उनको कभी यह बात सूझ ही नहीं सकती थी कि एक घटना हो जाय और उसका कोई ऐसा निमित्त कारण न हो जो इच्छा-शक्ति-सम्पन्न हो।

जिस प्रकार आगरे का ताजमहल देखकर विद्वान से विद्वान और मूर्ख से मूर्ख पुरुष भी उस इच्छा-शक्ति का विचार किये विना नहीं रह सकता जिसको "शाहजहां बाद्-शाह" अथवा 'उसके एजएटों', के नाम से पुकारा जाता है। इसी प्रकार ताजमहल के तालाब में उगा हुआ कमल का फूल देखकर जिसकी एक एक पंखड़ी कई ताजमहलों के सौन्दर्य से भी सहस्र गुणा सौन्दर्य रखने वाली है कैसे हो सकता है कि किसी न किसी इच्छा-शक्ति तक हमारा ध्यान न जा सके भेद केवल इतना है कि जिस वस्तु को कभी कभी देखते हैं उसका थोड़ा सा सौन्दर्य भी हमको अधिक आकर्षित करता है और जिसको प्रति दिन या प्रति घड़ी देखते हैं उसके विषय में हमारा मस्तिष्क कम सोचता है। ताजमहल में नित्य रहने वाले मनुष्यों के आत्मा पर ताजमहल के निर्माता की बुद्धि

का इतना प्रभाव नहीं पड़ता जितना कि पहले पहल देखने वाले की आत्मा पर पड़ता है परन्तु इस प्रभाव की जागृति थोड़े से ही विचार से हो सकती है। कणाद मुनि का यह मत कि,

कारणाभावात् कार्य्याभावः ।

"बिना कारण के कार्य्य हो नहीं सकता" प्रत्येक पुरुष प्रत्येक अवस्था में किसी न किसी अंश में मानता रहा है।

कुछ लोगों का कहना है कि संसार में बहुत सी घटनायें अकस्मात् हुआ करती हैं। उनका कोई विशेष कारण नहीं होता। इसी प्रकार क्यों न मान लिया जाय कि यह सृष्टि भी अकस्मात् (by chance) उत्पन्न हो गई। यहां देखना चाहिये कि 'अकस्मात्' शब्द का क्या अर्थ है। हम बाज़ार जा रहे थे। अकस्मात् हमारी एक मित्र से भेंट हो गई। यहां अकस्मात् से क्या तात्पर्य है? यही न कि हम बाज़ार जा रहे थे। मित्र को देखने नहीं जा रहे थे। यह आशा न थी कि मित्र भी आता होगा। परन्तु आ गया। क्या इस स्थान पर "हमारा और मित्र का मिल जाना" बिना किसी निमित्त कारण के है। कदापि नहीं 'मित्र के आने' का निमित्त कारण मित्र की इच्छा-शक्ति है और 'हमारे जाने का निमित्त कारण' हमारी इच्छा-शक्ति है। हम इस भेंट को 'आकस्मिक' इसलिये कहते हैं कि यद्यपि यह दोनों घटनायें अर्थात् 'मित्र का आना' और 'हमारा जाना' इच्छा शक्तियों के द्वारा हुआ तथापि इन दोनों इच्छा-शक्तियों में पहले से कोई परामर्श नहीं हुआ था। यहां दो स्वतंत्र और असम्बद्ध इच्छा-शक्तियों द्वारा उत्पन्न हुई घट-

नाओं के मिल जाने का नाम 'आकस्मिक' है। यदि पूर्व परामर्श होकर हम दोनों मिलते तो यह भेंट कदापि आकस्मिक न कहलाती। इससे सिद्ध होता है कि आकस्मिक घटनायें भी वस्तुतः आकस्मिक नहीं हैं। वे अकस्मात् (बिना कारण) नहीं होती किन्तु "कस्मात्-अपि" अर्थात् कारण से ही होती हैं। जो लोग सृष्टि की रचना को आकस्मिक बताते हैं उनसे हम पूछते हैं कि ऐसा कहने से तुम्हारा क्या तात्पर्य है? क्या तुम सृष्टि-रचना को उसी अर्थ में आकस्मिक मानते हो जिस अर्थ मे हमारी और हमारे मित्र की उपर्युक्त भेंट आकस्मिक थी? यदि ऐसा मानोगे तो इसका अर्थ यह होगा कि सृष्टि की भिन्न २ घटनायें भिन्न २ स्वतंत्र तथा असबद्ध इच्छा शक्तियों द्वारा उत्पन्न होकर परस्पर मिल गईं। अर्थात् एक शक्ति नदी बना रही थी। दूसरी शक्ति पहाड़ बनाने में मग्न थी। तीसरी बादल बना रही थी। चौथी वायु मण्डल तैय्यार कर रही थी। यह शक्तियां स्वतंत्र और असम्बद्ध थीं। इन्होंने परस्पर मिलकर कोई परामर्श नहीं किया था कि मैं पहाड़ बनाती हूं तुम नदी बनाना। उनको ज्ञान भी नहीं था कि अन्य शक्तियाँ कुछ बना रही हैं। जब वस्तुयें तैय्यार हो गईं तो बिना किसी कारण के 'अकस्मात्' इनका मेल होगया।

ऐसा मत रखने वाले इच्छा-शक्ति रूपी निमित्त कारणों का निषेध नहीं करते। केवल इन कारणों के परस्पर सम्बन्ध का निषेध करते हैं या यों कहिये कि एक ईश्वर का निषेध करने के लिये वह सहस्रों ईश्वरों के मानने पर

उत्पन्न हो जाते हैं। यह नास्तिकता नहीं किन्तु विशिष्ट आस्तिकता है।

यदि 'आकस्मिक' का अर्थ यह है कि इन घटनाओं का किसी इच्छा-शक्ति से भी सम्बन्ध नहीं। तो यह ऐसी बात है जो इन लोगों की कल्पना मात्र है। ऐसी आकस्मिक घटना कभी देखी या सुनी नहीं गई और न मनुष्य की भाषा में इस का प्रयोग ही होता है। इस विषय में फ्लिएट महोदय ने बहुत ही उत्तमतापूर्वक लिखा है। हम उसी को यहां उद्धृत करते हैं :—(Flint's Theism p. 184, 185, 186).

"There can be no chance where there is no law. Chance or accident is what occurs when two or more independent series of phenomena meet, without their meeting having been premeditated and proved. For when one series of causes leads a man to pass a house at a given moment of a given day, and another series of causes, coexistent with but wholly independent of the former series, determine that a heavy body shall fall from the roof of that house at that moment of that day and kill that man, the consequence—his death—is what may be properly called an accident, or matter of chance. One who believes, indeed, in the omniscience and universal foreordination and government of God,

will hold that even in such a case the accident or chance is merely apparent; but he will not deny the right of the atheist to speak of chance or accident in this way, or to explain as matters of chance whatever he can. The word chance, or accident, can have no intelligible sense, unless however, there be such independent series of phenomena-unless there be mental and material existences, mental and material laws. Chance cannot be conceived of, even by the atheist, as the origin of existence—(p. 184.)

"Besides, how could matter of itself produce order, even if it were self-existent and eternal? It is far more unreasonable to believe that the atoms or constituents of matter produced of themselves, without the action of a supreme mind, this wonderful universe, than that the letters of the English alphabet produced the plays of Shakespeare, without the slightest assistance from the human mind known by that famous name. These atoms might, perhaps now and then, at great distance and long intervals, produce, by a chance contact, some curious collocation or compound; but never could they produce order or organsation, on an extensive scale or of a durable charac-

ter, unless ordered, arranged, and adjusted in ways of which intelligence alone can be the ultimate explanation. To believe that there fortuitous and undirected movements could originate the universe, and all the harmonies and utilities and beauties which abound in it, evinces a credulity far more extravagant than has been ever displayed by the most superstitious of religionists. Yet no consistent materialist can refuse to accept this colossal chance-hypothesis. All the explanations of the order of the universe which materialists, from Democritus and Epicurus to Diderot and Lange, have devised, rest on the assumption that the elements of matter, being eternal, must pass through infinite combinations, and that one of these must be our present world—a special collection among the countless millions of collections, past and future. Throw the letters of the Greek alphabet, it has been said, an infinite number of times and you must produce the Illiad and all Greek books. The theory of probabilities, I need hardly say, requires us to believe nothing so absurd. Throw letters together, without thought, through all eternity, and you will never make them express thought.

All the letters in the Illiad might have been tossed and jumbled together from morning to night by the hands of the whole human race, from the beginning of the world until now, and the first line of the Illiad would have been still uncomposed, had not the genius of Homer been inspired to sing the worth of Achilles and the war around Troy. But what is the Illiad to the hymn of creation, and the drama of Providence? Were these glorious works composed by the mere jumbling together of atoms, which were not even prepared before hand to form things, as letters are to form words, and which had to shake themselves into order without the help of any hand? They may believe that who can. It seems to me that it ought to be much easier to believe all the Arabian Night." (p. 187.)

वह लिखते हैं कि "आकस्मिक घटना हो ही नहीं सकती जब तक नियम न हो। यदि दो या अधिक स्वतंत्र घटनायें बिना पूर्व परामर्श या पूर्व प्रबन्ध के आपस में मिलती हैं तो इस मेल को आकस्मिक घटना कहते हैं। जब कारणों की एक श्रृङ्खला से प्रेरित होकर कोई मनुष्य नियत दिवस को नियत घड़ी में एक घर से होकर गुज़रता है और कारणों की दूसरी श्रृङ्खला जो पहली श्रृङ्खला के समकालीन परन्तु स्वतंत्र है प्रेरणा करती है कि उसी घर की छत से उसी

समय कोई भारी वस्तु गिर पड़े और उस आदमी की मृत्यु हो जाय तो इस परिणाम अर्थात् मृत्यु को आकस्मिक घटना कहेंगे। जिस मनुष्य को ईश्वर के सर्वज्ञत्व, सर्वनियन्तृत्व, तथा प्रबन्धकत्व पर विश्वास है उसका तो यही मत होगा कि ऊपर कही हुई घटना का भी 'आकस्मिकत्व' नाम मात्र ही है। परन्तु वह यह नहीं कहता कि नास्तिक को इस घटना के आकस्मिक कहने या किसी अन्य घटना को अकस्मात् शब्द से व्याख्या करने का अधिकार नहीं है। परन्तु 'आकस्मिक' शब्द निरर्थक है जब तक कि दृश्यों की स्वतंत्र श्रृङ्खला न हो। अर्थात् जब तक भौतिक और मानसिक सत्तायें या भौतिक और मानसिक नियम न हो"।

(पृ० १८४)

'इसके अतिरिक्त, यदि प्रकृति को स्वयंभू और अनादि भी माना जाय तो भी प्रकृति स्वयं ही 'प्रबन्ध' को कैसे उत्पन्न कर सकती है? यह मानना कि प्रकृति के परमाणुओं ने परमात्मा की क्रिया के बिना स्वयं ही इस विचित्र सृष्टि की रचना की इस बात के मानने से अधिक युक्तिशून्य है कि अंगरेज़ी भाषा के अक्षरों ने उस मानवी मस्तिष्क की थोड़ी सी सहायता के बिना भी जिस को शेक्सपियर के प्रसिद्ध नाम से पुकारते हैं शेक्सपियर के नाटक बना डाले। सम्भव है कि कभी २ या कहीं कहीं दूर देशों या दीर्घकाल में यह परमाणु परस्पर मिल कर किसी चीज़ को मिला सकें परन्तु वह कभी इतना बड़ा और इतना सुदृढ़ प्रबन्ध नहीं रच सकते, जब तक कि उनको रीति द्वारा क्रम पूर्वक रक्खा न जाय जैसा केवल बुद्धि द्वारा ही हो सकता

है। यह मानना कि इन परमाणुओं ने स्वयं ही बिना क्रम या बुद्धि की प्रेरणा के ऐसी सृष्टि रच दी जिसमें इस प्रकार की उत्तम, लाभ दायक तथा सुन्दर वस्तुयें उपस्थित हैं अन्ध विश्वास की उस सीमा का भी उल्लङ्घन करना है जो आज तक बड़े से बड़े अन्धविश्वासी मतमतान्तर वालों ने दिखाई है। तथापि कोई सच्चा नास्तिक [प्रकृतिवादी] (जो अपने सिद्धान्तों को परस्पर विरोध के दोष से बचाना चाहता है) इस भयानक 'अकस्माद्-वाद से इनकार भी नहीं कर सकता। सृष्टि-प्रबन्ध की जो व्याख्यायें डिमाक्रीटस और ऐपीक्यूरस से लेकर डीडरट और लैंग आदि नास्तिकों (प्रकृतिवादियों) ने की है, उन सब का आधार इस एक बात पर है कि प्रकृति के परमाणु जो नित्य हैं असंख्यों प्रकार से परस्पर संयुक्त होते रहते हैं और भूत तथा भविष्य में जो करोड़ों और अरबों प्रकार के संयोग हुये हैं या होने वाले हैं उन्हीं में से एक हमारी वर्त्तमान सृष्टि है। कहा जाता है कि यूनानी भाषा के अक्षरों को अनन्त बार उछालो और तुम इलियड तथा समस्त यूनानी पुस्तकें बना डालोगे। मुझे यह कहने की आवश्यकता नहीं कि "संभव" वाद में इससे अधिक निर्मूल या निरर्थक बात कभी नहीं मानी गई। अक्षरों को बिना विचार के अनन्त समय तक उछालते जाओ और तुम कभी उनके विचार को प्रकट न करा सकोगे। इलियड के समस्त अक्षरों को यदि समस्त मनुष्य जाति संसार के आरम्भ से आज तक प्रातःकाल से रात्रिकाल तक उछालती रहती तो कभी इलियड की पहली पंक्ति तक न बन सकती यदि होमर ने एकीलीज़ के क्रोध तथा ट्राय के युद्ध

की काव्य में वर्णन करने की इच्छा न की होती। परन्तु सृष्टि रूपी काव्य तथा ईश्वरीय नाटक के सम्मुख इलियड की क्या तुलना है? जो परमाणु पहले से ऐसी वस्तुओं को बनाने के लिये भी उद्यत न थे जैसे अक्षरों से शब्द बनते हैं उनके परस्पर यकायक मिलने से और बिना किसी विशेष हाथ की सहायता के उछलते रहने से क्या इतनी विशाल सृष्टि रची की जा सकती है। जो ऐसा विश्वास कर सकता हो वह करे। मैं तो यह समझता हूं कि अलफलैला की सब कहानियों को मान लेना अधिक सुगम है।"

(पृ० १८७)

वस्तुतः जो मनुष्य यह मानता है कि प्रकृति के परमाणुओं के अकस्मात् इस प्रकार मिलने से संसार को वह बड़ी से बड़ी वस्तुयें बन गई जिनके समझने के लिये संसार के बड़े से बड़े पण्डित और विशेषज्ञ असमर्थ हैं ऐसे मनुष्य के लिये किसी ऊंट पटांग बात को मान लेना सरल है। जो मनुष्य आंख से देखता हुआ नहीं देखता और कान से सुनता हुआ नहीं सुनता उसके लिये कोई उपाय नहीं है। कहावत है कि वहम की दवा लुकमान के पास भी नहीं। इसी प्रकार अकस्मादवादियों का भी हाल है। क्या हम को संसार में अकस्मात् रचना के उदाहरण मिलते हैं? तुम कहते हो कि ग्रीक भाषा के अक्षरों को बिना नियम के उछालते २ घुणाक्षर न्याय से कभी न कभी इलियड बन जायगा। परन्तु घुणाक्षर भी तो घुण के द्वारा बनता है। अक्षरों का उछालने वाला भी तो कोई होना चाहिये। यूनानी भाषा के अक्षर बीसियों शताब्दियों से चले आते हैं जिस इलियड को होमर ने थोड़े

से दिनों के परिश्रम से बना दिया उसी प्रकार की अन्य इलियडें अब तक अक्षरों के स्वयं उछलने से क्यों नहीं बन गईं। फिर इन प्रकृतिवादी नास्तिकों से कोई पूछे कि तुम्हारे घर में गेहूं स्वयं मिल कर रोटी क्यों नहीं बना देते। मिट्टी के कण स्वयं मिलकर ईंटों को क्यों नहीं बना देते तथा ईंटे स्वयं उठ कर मकान क्यों नहीं बना देतीं। परमाणुओं में अकस्मात् खलबल उत्पन्न हो जाना और उनका अकस्मात् ही सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी आदि के रूप धारण कर लेना यह एक ऐसी बात है जो किसी बुद्धिमान मनुष्य की समझ में नहीं आ सकती और कोई व्यवहारिक मनुष्य उस पर विश्वास नहीं कर सकता। यदि परमाणुओं के अकस्मात् मिलने से जाज्वल्यमान सूर्य उत्पन्न हो सकता है तो छोटा सा दीपक क्यों नहीं हो सका। यदि बड़ी से बड़ी नदी हो सकती है तो छोटा सा कुंआं क्यों नहीं हो सकता, यदि बड़े से बड़े पर्वत बन सकते हैं तो छोटा सा झोंपड़ा क्यों नहीं बन सकता। यदि रहस्य मय मनुष्य का शरीर बन सकता है तो एक छोटा सा चरखा क्यों नहीं बन सकता। यदि कहा जाय कि अकस्मात् का अर्थ ही यह है कि जो वस्तुएँ बन गईं वह बन गईं सभी थोड़ा ही बन सकती हैं, तो हम यह पूछते हैं कि तुम्हारे पास अकस्माद्वाद के लिये प्रमाण ही क्या है ? तुम पहाड़ को देख कर तो मान लेते हो कि यह अकस्मात् बन गया परन्तु ताजमहल को देख कर भी ऐसा विश्वास क्यों नहीं कर लेते। पुरातत्ववेत्ताओं के तो सब प्रयत्न ही विफल हो जांयगे यदि अकस्माद्वाद को मान लिया जाय। क्योंकि पृथ्वी में गढ़े हुए प्राचीन भवनों को देख कर उनका

ऐतिहासिक मनुष्यों की बुद्धि से सम्बन्ध ढूढ़ने की आवश्य-कता नहीं। केवल इतना मान लो कि अकस्माद् परमाणुओं के मिलाप से यह भवन बन गये होंगे।

कुछ लोगों का कथन है कि संसार का बनाने वाला कोई नहीं। जो कुछ होता है वह कुदरत या नेचर (nature) से होता है। पहाड़ कुदरत बनाती है। सूर्य्य कुदरत निकालती है और बादल कुदरत के द्वारा बनते हैं। कुदरत का हम संस्कृत या हिन्दी में अनुवाद नहीं कर सकते। क्योंकि इस आशय का कोई शब्द हमको ज्ञात नहीं। "सृष्टि नियम" एक शब्द है जो इस अर्थ को कुछ कुछ प्रकट करता है। वस्तुतः यह कहना कठिन है कि कुदरत या नेचर वादियों का इन शब्दों से क्या तात्पर्य्य है। यदि कुदरत या नेचर कोई बुद्धि तथा पराक्रम वाली सत्ता है जो सृष्टि की रचना करती रहती है तो आस्तिकों और नास्तिकों के मत में केवल शब्दों का भेद है। जिसको आस्तिक ईश्वर कहते हैं उसी सत्ता को नास्तिक नेचर या कुदरत कहते हैं। नाम मात्र के लिये झगड़ा उठाना ही व्यर्थ है।

परन्तु यदि कुदरत से उनका तात्पर्य्य "सृष्टि-नियम" से है तो सृष्टि-नियम को सृष्टिकर्त्ता बनाना वैसी ही भूल है जैसे व्यापार-सम्बन्धी नियमों को "व्यापारी" बताना। मैं तो समझता हूं कि कुदरत-वादी कभी यह भी विचार नहीं करते कि उनका इन शब्दों से क्या तात्पर्य्य है। वह एक विचित्र भ्रम में हैं और इसी भ्रम में रहना भी चाहते हैं।

पहले देखना चाहिये कि कुदरत किसको कहते हैं? यदि कुदरत किसी शक्ति विशेष या पुरुष विशेष का नाम नहीं तो

वह क्या चीज़ है? और किस प्रकार सृष्टि रूपी कार्य्य का कारण हो सकती है? प्रायः हम देखते हैं कि लोग 'कारण' शब्द का बिना विचारे ही प्रयोग किया करते हैं। पर्य्यायवाची शब्द देने को कारण नहीं कह सकते। पर्य्यायवाची शब्द किसी बात की व्याख्या कर सकते हैं परन्तु उसका कारण नहीं बता सकते। इस शब्द का बहुत बड़ा दुरुपयोग हम को वैद्यों के यहाँ मिलता है। यदि किसी से पूछा जाय कि अमुक पुरुष क्यों मर गया तो कहते हैं कि उसके हृदय की गति बन्द हो गई (His heart failed)। प्रश्न कर्त्ता मृत्यु का कारण पूछना चाहता था। उत्तरदाता ने मृत्यु का पर्य्यायवाची शब्द दे दिया। क्योंकि हृदय की गति बन्द होना और मृत्यु होना दोनों एक ही बात है। मृत्यु होगी तो हृदय की गति बन्द होगी। हृदय की गति बन्द होगी तो मृत्यु होगी। ऐसा नहीं हो सकता कि एक बात हो दूसरी न हो। मृत्यु नाम ही उस अवस्था का है जब हृदय की गति बन्द हो जाय। इसी प्रकार जब नास्तिकों से पूछते हैं कि सृष्टि रचना का कारण क्या है तो वह कहते हैं "कुदरत"। उनसे पूछो, "कुदरत क्या है?" तो कहते हैं "सृष्टि नियम"। इसका तात्पर्य्य हुआ कि "सृष्टि रचना" का कारण "सृष्टि नियम" हैं। यदि पूछा जाय कि सृष्टि नियम" किसे कहते हैं तो कहेंगे कि "यदि कई घटनायें एक ही प्रकार से हों तो उसको नियम कहते हैं"। हम फिर पूछते हैं कि उन घटनाओं के एक ही प्रकार से होने का क्या कारण है तो उलट फेर कर वही उत्तर मिलता है कि "सृष्टि-नियम"। इस प्रकार हमारी युक्ति कोल्हू के बैल के समान एक ही घेरे में चक्कर लगाती रहती है। वस्तुतः सृष्टि की घटनाओं और

सृष्टि नियम में कुछ भेद नहीं है वह तो प्रायः पर्य्यायवाची ही है। उनमें से एक को दूसरे का कारण कह देना बहुत बड़ी भूल है।

फ्लिएट महोदय ने इस विषय में क्या अच्छा कहा है :-

To ascribe the origination of order to law is a manifest evasion of the real problem. Law is order. Law is the very thing to be explained. The question is—Has law a reason, or is it without a reason ? The unperverted human mind cannot believe it to be without a reason. 'The existence of a law connecting and governing any class of phenomena implies a presiding intelligence which has preconceived and established the law. The regulation of events by precise rules of time and space, of number and measure is evidence of thought and mind.' So says Dr. Whewell, and the statement is amply justified by the fact, that all laws and rules in the universe imply that existences are related to one another in a way of which intelligent adjustment alone is the adequate and ultimate explanation. The existence of a law uniformly involves the coexistence of several conditions, and that is a phenomenon which, whenever the conditions and law are physically ultimate, and consequently physically inexplicable, clearly pre-

supposes mind. Laws, in a word, are not the causes but the expressions of order. They are themselves the results of delicately accurate adjustments, which indicate the operation of a divine wisdom. There are chemical laws, for example, simply because there are chemical elements endowed with affinities, attractions, or forces the most diverse, yet so balanced and harmonised as to secure the welfare of the world. Besides, laws do not act of themselves. No law produces of itself any result. It is the agents which act according to the law that produce results, and the nature of the result produced depends on the number and character of the agents, and how each is situated and circumstanced If the agents oppose each other or are inappropriately distributed, they bring about disorder and disaster in conformity to law. There is no calamity, no evil, no scene of confusion, in the known world, which is not the result of the action of agents which operate in strictest accordance to law. The law of gravitation might rule every particle of matter, and yet conflict and confusion and death would prevail throughout the entire solar system, were harmony and stability and life not secured by

very special arrangements. Matter might have all its present inherent and essential laws, and yet remain for ever a chaos. Apart from a designing and superintending intelligence, the chances in favour of chaos and against cosmos, even allowing matter to have uncreated properties and laws, were incalculable. The obvious inference is that which Professor Jevons expresses in these words; "As an unlimited number of atoms can be placed in unlimited space in an unlimited number of modes of distribution, there must, even granting matter have had all its laws from eternity, have been at some moment in time, out of the unlimited choices and distributions possible, that one choice and distribution which yielded the fair and orderly universe that now exists. Only out of rational choice can order have come." (p. 189).

"सृष्टि-प्रबन्ध का कारण सृष्टि-नियम को बताना वस्तुतः टाल मटाल करना है। नियम ही प्रबन्ध है। नियम का ही तो कारण बताना है। प्रश्न यह है कि क्या नियम ज्ञानयुक्त है या ज्ञान-रहित ? बुद्धिमान पुरुष कभी नहीं मान सकता कि यह ज्ञान-शून्य है। डाक्टर ह्वेविल (Whewell) कहते हैं कि किन्हीं घटनाओं में सम्बन्ध बताने वाले या उन पर शासन करने वाले नियम का अस्तित्व ही प्रकट करता है कि शासन

करने वाली एक ज्ञान मय शक्ति है जो पहले से सोचकर नियम स्थापित करती है। भिन्न २ घटनाओं को देश काल तथा संख्या और परिमाण के नियमों में बांधना ही विचार तथा बुद्धि का सूचक है। डाक्टर हैविल के इस कथन की पुष्टि इस बात से भी होती है कि सृष्टि के नियमों का अर्थ ही यह है कि सब वस्तुयें परस्पर इस प्रकार संगठित हों कि ज्ञान-युक्त प्रबन्ध द्वारा ही इसकी पर्य्याप्त तथा अन्तिम मीमांसा हो सके। किसी नियम के अस्तित्व के साथ साथ कई अन्य अवस्थायें भी होनी चाहियें। जब जब यह अवस्थायें और नियम साथ २ होंगे और भौतिक नियमों द्वारा उनकी व्याख्या न हो सकेगी तो अवश्य मानना पड़ेगा कि कोई चेतन शक्ति काम कर रही है। सारांश यह है कि नियम प्रबन्ध के कारण नहीं किन्तु सूचक है। नियम स्वयं यथा तथा प्रबन्ध के परिणाम है और उनसे ईश्वरीय बुद्धि के काम की सूचना मिलती है। उदाहरण के लिये रसायन सम्बन्धी नियमों को लीजिये। वे किस लिये हैं ? इसीलिये कि रसायन सम्बन्धी तत्वों को ऐसी समानता, आकर्षण तथा शक्ति मिली हुई है कि चाहे वह भिन्न २ भी क्यों न हों तो भी वह इस प्रकार सम्बद्ध हैं कि संसार का उपकार हो रहा है। दूसरी बात यह है कि नियम स्वयं कुछ काम नहीं करता। कोई नियम स्वयं कुछ नहीं बनाता। नियम के अनुसार काम करके परिणाम उत्पन्न करना "कर्त्ता" का काम है। यह परिणाम कैसा हो यह बात भी कर्त्ताओं की संख्या उनके स्वभाव और उनकी परिस्थिति पर निर्भर है। यदि कर्त्ता परस्पर विरुद्ध हुये अथवा उनका काम उचित रीति से विभक्त न हुआ तो वह नियमों के अनु-

कूल चल कर भी कुप्रबन्ध और आपत्ति का कारण होंगे। इस ज्ञात संसार में कोई आपत्ति कोई बुराई और कोई गड़बड़ ऐसी नहीं है जिसका कारण ऐसे कर्त्ता न हों जो नियमानुसार काम करते रहे हों। पृथ्वी की आकर्षणशक्ति चाहे प्रत्येक परमाणु पर शासन करती रहे तो भी जब तक सहयोग सुदृढ़ता और जीवन की स्थिति के लिये विशेष प्रबन्ध न किया जायगा उस समय तक समस्त सौर्यमण्डल में विपत्ति नाश और मृत्यु का ही आधिक्य रहेगा। प्रकृति में वर्त्तमान आवश्यक नियमों के रहते हुये भी सदा गड़बड़ रह सकती है। यदि प्रबन्धकर्त्ता तथा शासन कर्त्ता शक्ति को अलग रख दें तो चाहे प्रकृति के परमाणुओं में स्वयं ही बिना किसी के दिये हुये गुण या नियम हों तो भी प्रबन्ध के विरुद्ध और गड़बड़ के पक्ष में अधिक संभावना है। परिणाम वही है जिस को प्रोफेसर जेवन्स ने वर्णन किया है अर्थात् "चूंकि अनन्त परमाणु अनन्त देश में अनन्त प्रकार से मिलाये जा सकते थे इसलिये यदि यह भी स्वीकार कर लिया जाय कि प्रकृति के अनादि काल से स्वयं अपने ही नियम स्थित हैं तो भी कोई न कोई समय अवश्य ऐसा हुआ होगा जब अनन्त प्रकार के संयोगों में से वह विशेष संयोग चुना गया जिसके द्वारा हमारी सुन्दर और सुप्रबन्धयुक्त वर्त्तमान सृष्टि बन गई। वस्तुतः ज्ञान युक्त चुनाव से ही सुप्रबन्ध उत्पन्न हो सकता है" (पृ० १८६)

अब स्वभाववादियों के सिद्धान्त की भी मीमांसा करनी चाहिये। सर्वसिद्धान्तसंग्रह में लिखा है :—

शिखिनश्चित्रयेद् को वा कोकिलान्कः प्रकूजयेत्।
स्वभाव व्यतिरेकेण विद्यते नात्र कारणम्॥

(लोकायतिकपक्षप्रकरणम्। श्लोक ५)

मोर के पंखों को कौन रंगता है और कोयल को मधुर स्वर कौन देता है? स्वभाव को छोड़कर और कोई कारण नहीं दीखता। अथवा

अग्निरुष्णो जलं शीतं समस्पर्शस्तथानिलः।
केनेदं चित्रितं तस्मात् स्वभावात् तद् व्यवस्थितिः।

(सर्व दर्शन संग्रह चार्वाक दर्शन)

अर्थात् आग गर्म है जल ठण्डा है। वायु न ठण्डा है न गर्म। इस सब को किसने बनाया? यह सब व्यवस्था स्वभाव से ही है।

स्वभाववादियों और कुदरतवादियों में कुछ भेद है। कुदरत वादियों का तो ऐसा मत है कि सृष्टि में जो कुछ होता है वह सृष्टि नियमों द्वारा होता है। ईश्वर उन नियमों का नियन्ता नहीं है। परन्तु स्वभाववादी कहते हैं कि सृष्टि के परमाणुओं में किसी अन्य शक्ति का न दिया हुआ स्वयं अपना एक स्वभाव है उसी स्वभाव से प्रेरित होकर वह विशेष रीति से संयुक्त या वियुक्त होते रहते हैं। जैसे आग का स्वभाव ही जलना है। जल का स्वभाव ही मिलाना है। वायु का स्वाभाव ही उड़ना या किसी वस्तु को उड़ाना है। इसके लिये ईश्वर की कोई आवश्यकता नहीं है।

यहाँ प्रश्न यह उठता है कि प्रकृति के अनन्त परमाणुओं में से प्रत्येक का अलग अलग स्वभाव है अथवा कुछ परमाणु

एक स्वाभाव के हैं और कुछ दूसरे के ? और फिर क्या उन परमाणुओं का स्वभाव अलग अलग होने पर और रहता है और संयुक्त होने पर और ? या संयुक्त अवस्था में भी उनका स्वभाव एक ही रहता है ? जैसे स्वभाववादी कहते हैं कि जल का एक विशेष स्वभाव है। प्रश्न यह है कि क्या जल का वही स्वभाव है जो आक्सीजन और हायड्रोजन का अलग अलग था ? यह तो सर्वतंत्र सिद्धान्त है कि आक्सीजन और हायड्रोजन दो भिन्न २ पदार्थ हैं। यदि उनका एक ही स्वभाव होता तो वह दो पदार्थ ही क्यों होते और यह भी सर्वतंत्र सिद्धान्त ही है कि जो आक्सीजन या हायड्रोजन का स्वभाव है उससे भिन्न जल का है। जो काम हम जल से लेते हैं वह आक्सीजन या हायड्रोजन से नहीं ले सकते। अब प्रश्न यह है कि जब आक्सीजन में एक विशेष स्वभाव था और हायड्रोजन में एक अन्य स्वभाव। और जल विद्यमान न था इस लिये जल में कुछ स्वभाव न था। तो फिर हायड्रोजन और आक्सीजन प्रथम तो स्वयं मिले कैसे और दूसरे इनमें मिलकर जल का स्वभाव कैसे उत्पन्न हो गया ? यह मान भी लिया जाय कि हायड्रोजन में एक विशेष स्वभाव है और आक्सीजन में एक अन्य स्वभाव। तो यह किस चीज़ का स्वभाव है जो इन दोनों को मिला देता है ? यदि कहा जाय कि आक्सीजन और हायड्रोजन में स्वयं मिलने का भी स्वभाव है अर्थात् आक्सीजन और हायड्रोजन में कुछ ऐसा स्वभाव है कि जब वह दोनों एक दूसरे के पास आते हैं तो मिल जाते हैं। तो पहला प्रश्न तो यह होगा कि उनको एक दूसरे के पास कौन लाता है ? यदि वह दोनों दूर देशों से आकर मिल

जाया करें तो अलग २ अवस्था में उनको प्राप्ति ही न हो सका करे। दूसरा प्रश्न यह है कि यदि हायड्रोजन और आक्सीजन में स्वयं मिलने का स्वभाव होता तो वह कभी मिलकर वियुक्त न होते। परन्तु ऐसा नहीं होता। हम कभी तो आक्सीजन और हायड्रोजन को पानी के रूप में मिला हुआ देखते हैं कभी उसी पानी के आक्सीजन को अपने पुराने मित्र हायड्रोजन से अलग होकर लोहे आदि के साथ मिलता हुआ पाते हैं। फिर विचित्र बात यह है कि यदि आक्सीजन का विशेष परिमाण हायड्रोजन के विशेष परिमाण से मिलता है तो पानी बन जाता है। यदि कम या अधिक हुआ तो नहीं बनता।

(१) पहले तो उन दोनों पदार्थों का मिलना,

(२) दूसरे एक विशेष परिमाण में मिलना,

(३) तीसरे मिल कर एक नया स्वभाव उत्पन्न कर देना,

(४) चौथे न केवल मिला ही रहना किन्तु अलग भी हो जाना,

(५) पांचवें अलग होकर फिर मिल जाना और फिर अलग हो जाना।

इनसे स्पष्ट सिद्ध होता है कि हायड्रोजन और आक्सीजन के आन्तरिक स्वभाव ही इन सब घटनाओं को मीमांसा करने के लिये पर्य्याप्त नहीं हैं जब तक किसी ऐसी चेतनशक्ति के अस्तित्व को न माना जाय जो अपनी बुद्धि और इच्छा के अनुसार कभी उनको मिलाती और कभी अलग कर देती है।

स्वामी दर्शनानन्द ने स्वभाववादियों के खण्डन में यह युक्ति दी है कि यदि परमाणुओं में मिलने का स्वभाव है तो

वह कभी अलग न होंगे, मिले रहेंगे, यदि उनमें अलग अलग रहने का स्वभाव है तो वह कभी मिलेंगे नहीं इस प्रकार कोई वस्तु न बन सकेगी। यदि उनमें से कुछ का स्वभाव मिलने का है और कुछ का अलग रहने का, तो जिन परमाणुओं का आधिक्य होगा उन्हीं के अनुकूल कार्य्य होगा अर्थात् यदि मिलने के परमाणुओं का प्राबल्य है तो वह सृष्टि को कभी बिगड़ने न देंगे। यदि अलग २ रहने वाले परमाणुओं का प्रबल्य होगा तो वह सृष्टि को कभी बनने न देंगे। यदि दोनों बराबर होंगे तो भी सृष्टि न बन सकेगी क्योंकि दोनों ओर से बराबर खींचातानी होगी और किसी पक्ष को दूसरे पर विजय प्राप्त करनी कठिन होगी।

वस्तुतः सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय तीनों अलग अलग तथा सब मिल कर यही सिद्ध करती हैं कि इनका कारण एक चेतनशक्ति है। व्यास मुनि ने वेदान्त दर्शन में इसी लिये कहा है कि

जन्माद्यस्ययतः ॥ १ । १ । २

अर्थात् सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का कारण "ब्रह्म" है। यदि संसार एक अवस्था में रहता होता तो हम शायद कह सकते थे कि परमाणुओं के आन्तरिक स्वभावों से ऐसा होता है। परन्तु जहाँ वस्तुयें क्षण क्षण पर अपना रूप परिवर्त्तित करती रहती हों वहाँ केवल स्वभाव को इनका कारण बतलाना पहले दर्जे का अन्ध विश्वास है। जड़ और चेतन में क्या भेद है? प्रथम तो जड़ वस्तु काम ही नहीं कर सकती, दूसरे यदि चेतन के सहारे से कुछ करेगी भी तो एक

ही प्रकार का कार्य्य करती रहेगी। चेतन का स्वभाव ही यह है कि वह काम को करे, न करे और उलटा भी करे (कर्तुं, अकर्तुं, अन्यथा कर्तुं)। घड़ी की सुइयों को लीजिये। वह स्वयं नहीं चल सकतीं। घड़ी साज़ उनको विशेष प्रकार से मिला कर उन में कूक भर देता है। तब वह सुइयाँ चलती रहती हैं। जब तक कूक रहती है उनमें भी गति रहती है। जब कूक बन्द हुई तो सुइयाँ भी बन्द हो गईं। परन्तु कभी ऐसा नहीं होता कि सुइयाँ पीछे को भी चलने लगें। यदि सुई को पीछे घुमाना हो तो फिर घड़ी साज़ या किसी अन्य मनुष्य की आवश्यकता होगी। इसी प्रकार सृष्टि का हाल है।

एक उदाहरण और लीजिये। हलवाई की दुकान पर शक्कर, घी, भिन्न २ अनाजों के आटे तथा मेवायें उपस्थित हैं। उनमें से हर एक पदार्थ का अपना निज का स्वभाव है। शक्कर मीठी है, घी चिकना है, काली मिर्च कड़वी है इत्यादि इत्यादि। हम हलवाई की दुकान पर इन्हीं पदार्थों के बने हुये बीसियों प्रकार के पकवान देखते हैं। क्या बड़े से बड़े स्वभाव-वादी का यह विचार होता है कि शक्कर, घी, आटा इत्यादि स्वयं अपने स्वभावों से प्रेरित होकर इन पकवानों के रूप में मिल गये होंगे? क्या यह सम्भव है कि एक घड़े में से आटा स्वयं उठा हो, दूसरे में से घी चल पड़ा हो तीसरे में से शक्कर बाहर निकली हो और उन तीनों ने मिलकर लड्डू या जलेबी का रूप धारण कर लिया हो? यदि यह नहीं हो सकता तो भला यह कब सम्भव हो सकता है कि पानी स्वयं समुद्र या तालाब से उठे, पृथ्वी स्वयं किसी

रेगिस्तान से चल पड़े, और आग स्वयं कहीं से आजाय और वह सब मिलकर कभी गुलाब के फूल का रूप ग्रहण कर लें कभी आम के वृक्ष का और कभी तोतर के शरीर का। जिस प्रकार हलवाई की दूकान की सब मिठाइयों का नाम रूप हलवाई का दिया हुआ है वास्तव में वह सब एक ही पदार्थों की बनी हुई हैं इसी प्रकार आग, पानी, पृथ्वी, हवा आदि से ही बनी हुई वस्तुओं के भिन्न २ नाम और रूप ईश्वर के दिये हुये हैं लड्डू और जलेबी के भिन्न होने का कारण केवल इतना है कि हलवाई ने अपनी बुद्धि तथा इच्छा के अनुसार घी, शक्कर तथा आटे आदि को भिन्न २ भागों में मिलाया है। किसी में आटा कम, घी अधिक, किसी में घी कम शक्कर अधिक इत्यादि। इसी प्रकार सृष्टि के सभी पदार्थ एक ही भौतिक तत्वों के बने होकर भी भिन्न परिमाणों के कारण भिन्न २ नाम और रूप वाले हो गये हैं। और भिन्न २ परिमाणों में मिलने का कारण बुद्धि और इच्छा वाली वह शक्ति है जिसको आस्तिक लोग ईश्वर कहते हैं।

——

पांचवां अध्याय

सायंस और आस्तिकवाद

कहा जाता है कि सायंस और आस्तिकवाद में पूर्व और पश्चिम का अन्तर है। वह दोनों इकट्ठे नहीं रह सकते। आस्तिकवाद का उसी समय तक शासन था जब सायंस का अभाव था। अब सायंस का युग आ गया इसलिये आस्तिकवाद को अपना टाट कमण्डलु उठा कर सदा के लिये लुप्त हो जाना चाहिये। प्रकाश में अंधेरे का क्या काम ?

परन्तु यदि विचार दृष्टि से देखा जाय तो पूर्व और पश्चिम भी मिल सकते हैं और सायंस और आस्तिकता भी परस्पर इकट्ठी हो सकती हैं। सच पूछिये तो अनादि काल से ही सच्ची आस्तिकता और सच्ची सायंस एक दूसरे के साथ रही हैं। सायंस नियम बताती है और आस्तिकता उन नियमों का नियन्ता के साथ सम्बन्ध ढूंढती है। बिना नियमों का नियन्ता कैसा और बिना नियन्ता के नियम कैसे ?

सायंस और आस्तिकवाद की शत्रुता बहुत पुरानी नहीं है। प्राचीन आस्तिकवादी सृष्टि के नियमों का अवलोकन कर के ही ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करते थे। शंकराचार्य्य ने वेदान्त के दूसरे सूत्र "जन्माद्यस्य यतः" के भाष्य में लिखा है।

अस्य ॰गतो नामरूपाभ्यां व्याकृतस्यानेककर्तृभोक्तृसंयुक्तस्य प्रति नियतदेश कालनिमित्तक्रियाफलाश्रयस्य मनसाप्यचिन्त्यरचनारूपस्य जन्मस्थितिभङ्ग यतः सर्वज्ञात् सर्वशक्तेः कारणाद्भवति तद् ब्रह्मेति वाक्य शेषः"

अर्थात् इस विचित्र सृष्टि की रचना, स्थिति तथा प्रलय का कारण ब्रह्म है।

परन्तु कुछ दिनों पश्चात् सायंस और आस्तिकता में झगड़ा हो गया, आस्तिकवादी समझने लगे कि ईश्वर को सृष्टि रचना से क्या सम्बन्ध। उन्होंने मनमाने गुण ईश्वर में आरोपण करने आरम्भ किये। ज्ञान मार्ग का अन्त हुआ। भक्ति मार्ग चला। भक्तिमार्ग ने अन्धविश्वास को बढ़ाया। इसी के साथ सायंस का भी ह्रास हुआ। सायंस का पुनरुत्थान पश्चिम में हुआ। उस समय वहां आस्तिकवाद तो न था, हाँ उसी का नामधारी अन्ध विश्वास अवश्य था। अंध विश्वास और सायंस में ऐसा ही विरोध है जैसा आस्तिकता और अज्ञान में। प्राचीन भारतवर्षी तो ज्ञान को ईश्वर प्राप्ति तथा मोक्ष का साधन समझते थे। नवीन काल में सायंस या विज्ञान को अनीश्वरवाद का चिह्न समझने लगे।

सायंस और धर्म का झगड़ा यूरोप से आरम्भ हुआ। सायंस के पुनरुत्थान के समय वहाँ ईसाई धर्म का राज्य था ईसाई धर्म का अर्थ ही यह था कि पोप जो कह दे वही सत्य है। प्रत्येक पुरुष को आंख कान खोल कर चलने की आज्ञा न थी। इसलिये जब कुछ लोगों ने आंख कान खोल कर सृष्टि का अवलोकन करना आरम्भ किया तो धर्माध्यक्षों ने उनका विरोध किया। वह समझते थे कि तर्क करते ही लोग ईश्वर तथा धर्म से विमुख हो जायंगे। इसलिये गैलीलियो

(Galilio) आदि को स्वतंत्र विचारों और अन्वेषणों के लिये कड़ी कड़ी यंत्रणायें दीगई। यह लड़ाई का आरम्भ था। और इस वैमनस्य ने सब से पहला प्रभाव जो सायंस-वेत्ताओं के हृदय पर डाला वह यह था कि हमारे अत्याचारों का कारण आस्तिकवाद है। जितना २ आस्तिकवादी अपने कल्पित ईश्वर के निराधार सिंहासन को सायंस के पंजे से बचाने का यत्न करते थे उतना उतना सायंस वालों को आस्तिकवाद की निर्मूलता का विश्वास होता जाता था। इस में भूल दोनों ओर से थी। परन्तु अधिक भूल धर्माध्यक्षों की थी। यदि धर्माध्यक्ष समझते कि सायंसवेत्ता केवल उन नियमों का अन्वेषण करने में लगे हुये हैं जिनके नियन्ता को आस्तिकवादी पूजा करते हैं तो सायंस धर्म से विरुद्ध न होकर सच्चे आस्तिकवाद की महत्ता को दर्शाने में संलग्न होती। सायंस वालों को यह सोचना चाहिये था कि आस्तिवाद केवल उन्हीं सिद्धान्तों का नाम नहीं है जो अन्धविश्वासियों ने प्रचलित कर रक्खे हैं। परन्तु जब आस्तिकवाद के नाम पर सायंस वालों के प्राण लिये जाने लगे और उनको देखने सुनने तथा सोचने की आज्ञा न रही तो 'मरता क्या न करता'। उन्होंने खुले मैदान लड़ना आरम्भ किया। यह युद्ध यहाँ तक बढ़ा कि सायंस वालों को 'आस्तिकवाद' नाम से घृणा हो गई और वह घृणा अब तक चली आती है।

यह बात नहीं है कि सायंस वाले सभी उसी पुराने पक्षपात में हों। सायंस की वर्त्तमान उन्नति ने सायंस वालों को भी इस बात का निश्चय करा दिया है कि चाहे विशेष प्रकार का आस्तिकवाद झूठ और निर्मूल भी हो तथापि सायंस के

नियमों के लिये किसी न किसी नियन्ता की आवश्यकता है। परन्तु यह भाव केवल उन्नतशील सायंस वेत्ताओं का है। जो अनुयायी मात्र हैं वह पुरानी लकीर को ही पीटते चले जाते हैं। जिस प्रकार धर्म में अन्ध विश्वासी होते हैं उसी प्रकार सायंस में भी अन्ध विश्वासी हैं। कितने ऐसे हैं जो स्वतंत्र विचार करते हों? आधिक्य तो उन्हीं लोगों का है जो यह कह कर आस्तिकवाद से पीछे छुड़ा लेते हों कि "हम सायंस वेत्ता हैं। हमको ईश्वर से क्या सम्बन्ध?"

वस्तुतः यदि विचार किया जाय तो सायंस और आस्तिकवाद एक दूसरे से विरुद्ध नहीं हैं?। सायंस क्या है? सृष्टि की घटनाओं का भली भांति निरीक्षण करना, निरीक्षण करके यह सिद्ध करना कि यह अनियमित नहीं हैं किन्तु नियमित हैं। फिर उन नियमों का वर्गीकरण करना। इसी का नाम सायंस है। जितनी उन्नति सायंस करती जाती है उतना ही उसको संसार के वर्त्तमान नियमों का अधिक पता लगता है। इन नियमों का पता लगा कर इसके आगे न बढ़ना और यह मान लेना कि वह नियम स्वयं ही विना किसी बुद्धि तथा इच्छा वाली शक्ति के काम करते रहते है सायंस के मौलिक नियमों का स्वयं खण्डन करना है। जो सायंस वेत्ता अन्वेषण आरम्भ करता है वह यह सोचकर करता है कि संसार की घटनायें एक दूसरे से असम्बद्ध नहीं हैं किन्तु वह नियम रुपी सूत्रों में प्रोई हुई हैं। यदि ऐसा न होता तो सायंस वालों को आगे बढ़ने का साहस भी न होता और सायंस एक पग भी उन्नति न कर सकती। जैसे एक सायंस वेत्ता ने एक शीशी भर पानी का विश्लेषण करके यह पता

लगाया कि शीशी का उतना जल हायड्रोजन और आक्सीजन से मिलकर बना है। अब उनको यह भी विश्वास है कि जो नियम इस शीशी भर पानी में काम करता है वही नियम संसार के अन्य जलों में भी कार्य्य कर रहा है।

इस प्रकार समस्त सायंस का मूलाधार यह सिद्धान्त है कि संसार की घटनायें असम्बद्ध नहीं किन्तु नियम-बद्ध है। यह सिद्धान्त उस समय भी था जब सायंस छोटा सा बच्चा था और अब भी है जब सायंस इतनी उन्नति कर गई है और आगे भी रहेगा। सायंस केवल इतना ही नहीं मानती कि संसार की घटनायें नियम बद्ध हैं किन्तु वह इससे आगे चल कर यह मानती है कि यह नियम भी स्वयं एक और सूक्ष्म नियम द्वारा सूत्रित हैं। और यह सूक्ष्म नियम सूक्ष्मतर नियमों द्वारा बंधे हुये हैं। जब सायंस ने इतना मान लिया तो फिर उन नियमों के लिये चेतनता अर्थात् ज्ञान और इच्छाशक्ति की आवश्यकता न समझना सायंस वेत्ताओं को शोभा नहीं देता इसी लिये बड़े सायंस वेत्ता अब या तो किसी चेतन शक्तिपर बिश्वास करते हैं या केवल यह कहकर सन्तुष्ट हो जाते हैं कि हमारी गति केवल इन्हीं नियमों तक है। इससे आगे हम बढ़ना नहीं चाहते। कुछ कह रहे हैं कि सायंस का अधिकार भौतिक नियमो तक ही है अभौतिक संसार इसकी सीमा से बाहर है। उनका यह उत्तर भी प्रकट करता है कि वह नास्तिक नहीं हैं केवल अस्तिकवाद के सिद्धान्तों से अनभिज्ञ हैं।

एक और मत है जिस को अज्ञेयवाद या एग्नोस्टीसिज़म (Agnosticism) कह सकते हैं। उनका कथन यह है कि संभव

है ईश्वर हो सम्भव है न हो। हमारी बुद्धि से वह बहुत परे हैं अतः हमको व्यर्थ इस जटिल प्रश्न की मीमांसा ही क्या करनी। कुछ भी हो आस्तिकवाद की ओर सायंस का वही व्यवहार नहीं है जो हक्सले आदि के समय था। अब वह यह असम्भव नहीं समझते कि एक मनुष्य सायंस वेत्ता भी हो और सच्चा आस्तिक भी। परन्तु एक बात अभी ज्यों की त्यों उपस्थित है। कालिजों और विश्वविद्यालयों के विद्यार्थीगण अभी उसी धुन में मस्त हैं। उनके वृद्ध पुरुषों ने तो अपना व्यवहार बदल दिया है। परन्तु सायंस के साधारण अनुयायी सायंस अध्ययन का आरम्भ करते ही यह समझ लेते हैं कि सायंस पढ़ने के लिये नास्तिक होना आवश्यक है। कम से कम फ़ैशन तो यही हो गया है और फ़ैशन की कड़ी शृङ्खलाओं को तोड़ना साधारण पुरुषों का काम नहीं है। जिन लोगों ने सायंस का अध्ययन नहीं किया वह भी इसी फ़ैशन में जकड़े प्रतीत होते हैं। और सबसे भयानक बात यह है कि फ़ैशन के लिये सायंस का नाम बदनाम किया जारहा है।

सायंसवेत्ताओं का यह कर्त्तव्य नहीं है कि सायंस के घेरे को सदा के लिये संकुचित कर दें और कह दें कि सायंस इतना ही मानती है, इससे अधिक नहीं मान सकती। मनुष्य का ज्ञान अल्प है परन्तु उसमें वर्धनशक्ति है। सायंस कभी एक ही स्थान पर नहीं रह सकती। जिन नियमों को सौ वर्ष पहले ठीक माना जाता था उनमें अब बहुत परिवर्त्तन हो गया है। प्रति दिन नये नये नियम खोजे जा रहे हैं और नये नये तत्वों का पता लग रहा है। इस लिये यदि एक सायंस वेत्ता नास्तिक भी हो या एक समय के सभी सायंसवेत्ता

नास्तिक हों तो भी सायंस और नास्तिकता को एक समझ लेना सायंस के उज्ज्वल नाम पर धब्बा लगाना है। सायंस वेत्ता स्वयं कहते हैं कि सायंस अपूर्ण है और सदा अपूर्ण रहेगी। अर्थात् कभी ऐसा समय नहीं आने का जब मनुष्य यह कह सके कि "मैं सब बातें जान गया। अब मेरे उत्तराधिकारियों को कुछ जानना शेष नहीं रहीं रहा"। अथवा "जो मैं जानता हूं वह सब ठीक है। इसमें कोई त्रुटि नहीं है न परिवर्त्तन सम्भव है।"

कुछ लोग कहेंगे कि हम संकुचित विचार के नहीं हैं परन्तु अब तक जितना सायंस ने अन्वेषण किया है उससे आस्तिकवाद का खण्डन ही होता है। इसलिये हम यहां वह देखने का प्रयत्न करते हैं कि वस्तुतः सायंस की अब तक की खोज आस्तिकवाद का कहां तक खण्डन करती है। पहले सायंस के साधारण सिद्धान्तों को लीजिये। इस विषय पर महाशय आर्मस्ट्रोंग (Armstrong) ने बहुत अच्छा लिखा है :—

"Let us ask science what she can tell us of the story of the Universe......' In the beginning', that is, before there was any organised universe at all, there was a thin fluid evenly diffused throughout space, no suns, no planets, no moons, but everywhere this evenly diffused fluid. Then at certain centres this fluid became thickened, while outside those centres it was further rarified and the thickening of these centres produced a rot-

atory motion, till each one of them became a globe revolving on its axis with immense velocity and at a prodigious heat. The rotatory motion led to smaller masses, being flung off from each central sun, and these, though first forming rings, like the present ring of Saturn, gradually also became globular with motion round their own axes as well as motion round the central Sun. These again in many cases flung off further films which formed into moons, having a treble motion rotation on their axes, motion round their planets, and with their planets motion round the central sun...... .... Science can only guess whether there is actual life on other globes, but it knows that there is on this. It sees atoms of matter shifting into such combinations as at last to constitute protoplasm, the physical basis of life; though why just this combination of atoms should suddenly put on that entirely new set of characteristics which we call 'life' science can form no sort or kind of guess," (God and the Soul p. 50).

" Some philosophers; trying to get rid of the will power in the universe ....tell us that the laws of motion impressed on all the molecules

of matter as part of their very nature at the beginning of all things could not but work out as they have worked out." (p. 51)

"Suppose that unconscious matter is itself endowed with certain energies and forces which act automatically without the presence of will. (Then) what about the start ? An evenly diffused fluid everywhere and then a thickening here and there. What or who brought about that thickening ?......how did the evenness turn to uneven ness ? You must have some power there to start the evolution. Evenly spread fluid that had been lying evenly spread from all eternity .... could not by sudden spasm gather into knots and nuclei, unless some power or other than itself were applied to it." (pp. 51-52).

"Stamp matter, then; with what endowments you will, there are these three points where you can by no possibility get rid of the divine will force the beginning of the whole evolution (if there ever was a beginning), the beginning of life, and the beginning of consciousness." (p. 53)

(If) " this new world of consciousness in bird or beast, and in man himself, is but the brighter blaze in higher organisms of the dim conscious-

ness which stirs even in the humblest atoms of inorganic matter...(then) we should still have to recognise what I have called a hitch......The necessity, that is, of the application of some power other than and above the inherent properties of the universe, in the first rise of self consciousness, appearance of one who is a *person* consciously distinct from all the universe round and saying to himself 'I am I". (p. 54).

तात्पर्य यह है कि "पहले देखना चाहिये कि सृष्टि उत्पत्ति के विषय में सायंस क्या कहती है। सृष्टि-उत्पत्ति से पूर्व एक सूक्ष्म द्रव समस्त आकाश में फैला हुआ था—न सूर्य्य थे न उपग्रह न चांद। हर जगह यही द्रव एक सार फैला हुआ था। तदनन्तर यह द्रव विशेष केन्द्र स्थानों में गाढ़ा हो गया। और इन केन्द्रों में एक प्रकार की गति उत्पन्न हो गई। होते होते हर एक केन्द्र एक गोला बन गया और अपनी कीली पर बहुत बड़े वेग से घूमने लगा। घूमने के कारण उन गोलों में से छोटे छोटे भाग उछिट कर अलग हो गये। पहले तो इनकी शनिश्चर ग्रह के समान चूड़ियां सी बन गईं। तत्पश्चात् उनके भी छोटे छोटे गोले बन गये। यह गोले अपनी कीली पर भी घूमने लगे और बड़े गोलों अर्थात् सूर्यों के चारों ओर भी। इन छोटे गोलों में से अलग टुकड़े हुये और इस प्रकार चांद बने जिनमें तीन प्रकार की गतियां हो गईं एक अपनी कीली पर, दूसरी उपग्रहों की चारों ओर, तीसरी उपग्रहों के साथ साथ केन्द्रीभूत सूर्य्य के

चारों ओर......सायंस यह नहीं जान सकती कि दूसरे गोलों में प्राणी हैं या नहीं। परन्तु यह तो जानती है कि पृथ्वी पर प्राणी अवश्य हैं। सायंस को यह तो मालूम है कि प्रकृति के परमाणु इस प्रकार संयुक्त हो गये हैं कि वीर्य-कोष्ठ (प्रोटोप्लाज़्म) अर्थात् प्राणियों के शरीर का मूलाधार बन गया। परन्तु सायंस यह नहीं बता सकती कि यह परमाणु इस प्रकार कैसे मिल गये कि सर्वथा भिन्न वस्तु अर्थात् चेतनता उत्पन्न हो जाय.........

कुछ दार्शनिक लोग इच्छा-शक्ति को संसार से बहिष्कृत करने के प्रयोजन से ऐसा कहने लगते हैं कि गति के नियमों का परमाणुओं पर ऐसा प्रभाव पड़ता है कि वह अन्यथा कार्य्य कर ही नहीं सकते। यदि यह मान भी लिया जाय कि जड़ प्रकृति में कुछ स्वाभाविक शक्तियाँ ऐसी हैं जो बिना इच्छा-शक्ति के स्वयं कार्य्य करती रहती हैं तब भी प्रश्न यह है कि आरम्भ कैसा हुआ। पहले सूक्ष्म द्रव एक सार फैला हुआ था। फिर वह गाढ़ा कैसे हुआ—एक सारता नष्ट होकर असमानता कैसे आई? विकास के आरम्भ के लिये कोई न कोई शक्ति तो अवश्य चाहिये। जो द्रव अनादि काल से एक सार फैला हुआ था वह अपने से अलग किसी विशेष शक्ति की प्रेरणा के बिना स्वयं स्थूल केन्द्र कैसे बना सकता था। ....

प्रकृति के परमाणुओं में तुम चाहे कितने ही गुणों की कल्पना क्यों न करलो तीन बातें ऐसी हैं जिनमें तुम को अवश्य ईश्वरी इच्छा शक्ति को मानना पड़ेगा। अर्थात् विकास का आरम्भ, जीवन का आरम्भ और चेतनता का

आरम्भ.........यदि यह मान भी लिया जाय कि पशु पक्षियों तथा मनुष्य की चेतनता उस सूक्ष्म और अव्यक्त चेतनता का विकास मात्र है जो परमाणुओं के भीतर विद्यमान है तो भी चेतनता तथा अहङ्कार के अनुभव के आरम्भ के लिये कोई न कोई ऐसी शक्ति अवश्य माननी पड़ेगी जो इन परमाणुओं से इतर है।"

वस्तुतः सायंस सृष्टि-उत्पत्ति का प्रकार बताती है न कि कारण। प्रकार को कारण का स्थानापन्न समझ लेना ऐसी बड़ी भूल है जो संसार के सभी नास्तिक करते चले आये हैं। कल्पना कीजिये कि मेरे पास एक घड़ी रक्खी है, मैं इसकी उत्पत्ति का कारण जानना चाहता हूं। एक पुरुष उसका विश्लेषण करके मुझ से कहता है कि पहले लोहे के कण मिट्टी में मिले हुये पृथ्वी के भीतर विद्यमान थे। खान से वह कण लाये गये और बड़ी २ भट्टियों में उनको मिट्टी से अलग करके छोटी छोटी शलाकाओं का रूप दिया गया। फिर इन शलाकाओं के छोटे छोटे टुकड़े गलाकर किसी स्थान में कमानियां, किसी स्थान में पहिये, किसी स्थान में ढक्कन, किसी स्थान में डायल बोर्ड, किसी स्थान में सुइयाँ आदि बनाई गईं। फिर इन सब के मिलने से घड़ी बन गई।" तो यह घड़ी की उत्पत्ति का प्रकार है। उसका कारण नहीं। मैं यदि उससे पूछूं कि "भाई मैं प्रकार नहीं पूछता, मैं जानना चाहता हूं कि घड़ी किसने बनाई" और वह कहे कि "किसी ने नहीं। मैंने तुम को घड़ी की उत्पत्ति तो बता दी। अब क्या चाहते हो?" तो यह वैसा ही उत्तर होगा जैसा कि नास्तिक सायंसवेत्ता दिया करते हैं। सच पूछिये तो डार्विन

का विकासवाद भी आस्तिकता का खण्डन नहीं करता। वह भी एक रीति से सृष्टि-उत्पत्ति का प्रकार ही बताता है चाहे वह ठीक हो चाहे बेठीक। इससे यह सिद्ध नहीं होता कि यदि विकासवाद ठीक हो तो उस विकास को संयम में रखने के लिये किसी ज्ञानमयी इच्छाशक्ति की आवश्यकता नहीं।

पाश्चात्य नास्तिक डार्विन के विकासवाद पर फूले नहीं समाते। वह समझते हैं कि डार्विन ने उनके हाथ में ऐसा शस्त्र दे दिया है जिसके सहारे वह ईश्वर को मनुष्य मात्र के मस्तिष्क से निकाल कर फेंक देंगे और धर्म के ढकोसले से संसार को पवित्र करके ही छोड़ेंगे। उनका तो यहाँ तक विचार है कि यदि प्राचीन काल में सचमुच ईश्वर ही सृष्टि बनाता होगा तो डार्विन के विकासवादी राज्य के पश्चात् वह अपना टाट कमण्डलु लेकर उन प्रदेशों को भाग जायगा जहाँ विकासवाद का अन्वेषण नहीं हो सका। हम यहां प्रसिद्ध सायंसवेत्ता हक्सले (Huxley) के ले समर्न्स (Lay Sermons) अर्थात् साधारण व्याख्यानों से एक युक्ति उद्धृत करते हैं जो उसने आस्तिकवाद के खण्डन में पेश की हैः—

The teleological argument runs thus:—an organ or organism (*a*) is precisely fitted to perform a function or purpose (*b*); Therefore it was specially constructed to perform that purpose In Paley's famous illustration, the adaptation of all the parts of the watch to the function or purpose of showing the time, is held to be evidence

that the watch was especially contrived to that end, on the ground that the only cause we know of competent to produce such an effect as a watch which shall keep time, is a contriving intelligence, adapting the means directly to that end. Suppose, however, that any one had been able to show that the watch had not been made directly by any person but that it was the result of the modification of another watch which kept time but poorly, and that this, again, had proceeded from a structure which could hardly be called a watch at all, seeing that it had no figure on the dial, and the heads were rudimentary, and that, going back and back in time, we come at last to a revolving barrel as the earliest traceable rudiment of the whole fabric. And imagine that it had been possible to show that all these changes had resulted first from a tendency in the structure to vary indefinitely, and secondly from something in the surronnding world which hepled all variations in the direction of an accurate timekeeper and checked all those in other directions, then it is obvious that the force of Paley's argument would be gone. For it would be demonstrated that an apparatus thoroughly well adapted

to a particular purpose might be the result of a method of trial and error worked by unintelligent agents; as well as of the direct application of the means appropriate to that end by an intelligent agent."

"हेतुवाद-सम्बन्धी युक्ति यह है:—'अ' नामक वस्तु 'ब' नामक प्रयोजन को ठीक ठीक सम्पादन करने के उपयुक्त है। अतः वह इसी प्रयोजन के सिद्ध करने के लिये बनाई गई थी। पैले (Paley) का प्रसिद्ध उदाहरण यह है कि घड़ी के सब पुर्ज़े इस प्रकार संयुक्त हुये हैं कि वह समय बताते हैं। इस से प्रसिद्ध है कि घड़ी बनाने का प्रयोजन ही समय बताना है। इस प्रयोजन की सिद्धि के लिये केवल एक ही ज्ञात साधन है अर्थात् एक बुद्धिमती शक्ति ने घड़ी के पुर्ज़े को इस प्रयोजन के दृष्टि में रखते हुये विशेष प्रकार से जोड़ दिया है। कल्पना करो कि कोई यह सिद्ध करदे कि घड़ी को किसी पुरुष विशेष ने नहीं बनाया। यह घड़ी किसी दूसरी घड़ी का परिवर्त्तित रूप है जो समय तो बताती थी परन्तु भली प्रकार नहीं। और यह दूसरी घड़ी किसी तीसरी चीज़ का परिवर्तित रूप थी जिसको घड़ी कह ही नहीं सकते थे क्योंकि उसके मुंह पर कोई अङ्क न थे और सुइयाँ भी आरम्भिक अवस्था में ही थीं। इसी प्रकार पीछे को लौटते लौटते हम यहाँ तक सिद्ध कर सके कि यह घड़ी आरम्भ में एक घूमती हुई नलिका मात्र थी। यह भी कल्पना करो कि यदि यह सिद्ध हो जाय कि इन सब परिवर्त्तनों का कारण प्रथम तो उस नलिका के पुर्ज़ों का आन्तरिक स्वभाव है जिसके कारण

वह अनेक रूप धारण करते हैं। दूसरे परिस्थिति का उन पर ऐसा प्रभाव पड़ता है कि जो परिवर्त्तन होते हैं वह इसी दिशा में होते हैं कि समय-बताने का काम दे सकें। संसार की परिस्थिति उनको दूसरी किसी दिशा में जाने ही नहीं देती तो यह स्पष्ट है कि पैले की युक्ति युक्तिशून्य हो जायगी। क्योंकि यह सिद्ध हो जायगा कि एक ऐसी कल जो किसी विशेष प्रयोजन को भली भांति सिद्ध कर सके बुद्धि-शून्य साधकों के बिना प्रयोजन को दृष्टि में रक्खे हुये निरन्तर तजर्बा करते करते भी बन सकती है और प्रयोजन को दृष्टि में रखनेवाली बुद्धियुक्त सत्ता द्वारा भी बनाई जा सकती है।"

(पृ० ३२०, ३२१).

हक्सले के इस कथन से यह बात सिद्ध होती है कि कभी कभी ऐसा होता है कि एक निर्बुद्धि मनुष्य किसी एक वस्तु को बनाता है। वह नहीं जानता कि मैं क्या बना रहा हूं। जब वह वस्तु बन जाती है तो वह यह सोचता है कि इससे तो एक और वस्तु बन सकती है। अब वह इस वस्तु को बनाता है। फिर दूसरी वस्तु किसी और बात को सुझाती है। इस प्रकार होते होते अन्त में एक बहुत अच्छी वस्तु बन जाती है जो एक विशेष प्रयोजन को भलीभांत सम्पादित कर सकती है। यदि किसी विशेष प्रयोजन को सम्पादन करनेवाली वस्तु के बनाने के लिये पहले से सोच विचार की आवश्यकता नहीं तो सृष्टि की उत्पत्ति के लिये ऐसे ईश्वर की आवश्यकता क्यों मानी जाय जो पूर्व से ही विशेष प्रयोजन को दृष्टि में रखकर सृष्टि की रचना करता हो? क्योंकि

जिस प्रकार एक साधारण नलिका में परिवर्त्तन होते होते अच्छी घड़ी बन जाना सम्भव है उसी प्रकार प्राणियों के तुच्छ शरीरों में परिवर्त्तन होते होते ही मनुष्य जैसे विचित्र शरीर बन गये हैं। यदि ईश्वर प्रयोजन को दृष्टि में रखकर बुद्धि-पूर्वक मनुष्य का शरीर बनाता तो वह मनुष्य शरीर सीधा ही क्यों न बनाता इतने परिवर्त्तनों की क्या आवश्यकता थी। यदि ईश्वर सर्वज्ञ या पूर्णज्ञ था तो उसे छोटे छोटे तजर्बे करने की क्या आवश्यकता थी।

डार्विन और उसके अनुयायी ऐसा सिद्ध करते हुये प्रतीत होते हैं कि समस्त सृष्टिक्रम बिना किसी प्रयोजन के स्वयं ही स्वाभाविक शक्तियों द्वारा उत्पन्न हो गया है। और इसके लिये ज्ञान-पूर्ण शक्ति की आवश्यकता नहीं है। वह कहते हैं कि सृष्टि में यह नियम काम करते रहते हैं:—(१) पितृ-नियम (Law of Heredity) अर्थात् एक वस्तु से उसी के समान वस्तु उत्पन्न होती है। (२) परिवर्त्तन का नियम (Law of Variability) अर्थात् उपयोग तथा अनुपयोग के कारण चीजों में परिवर्त्तन हुआ करता है। (३) अधिक उत्पत्ति का नियम (Law of over-production) अर्थात् इतनी वस्तुयें उत्पन्न हो जाती हैं कि उनमें अपने अस्तित्व की स्थिति के लिये युद्ध (Struggle for existence) होने लगता है (४) योग्य-विजय (Survival of the fittest) या स्वाभाविक-चुनाव (Natural Selectian) का नियम जिस के द्वारा जो वस्तुयें सब से योग्य होती हैं वही जीवित रह जाती हैं अन्य सब नष्ट हो जाती हैं। हम यहां विकास-वाद के नियमों या सिद्धान्तों की मीमांसा नहीं करते। न

इस बात का अन्वेषण करने का प्रयत्न करते हैं कि मनुष्य आरम्भ से मनुष्य के रूप में ही बनता आया या छोटे छोटे शरीरों का परिवर्त्तित रूप ही मनुष्य का वर्त्तमान शरीर है। हम यहां थोड़ी देर के लिये माने लेते हैं कि डार्विन के सिद्धान्त ठीक हैं। फिर भी प्रश्न यह है कि क्या इन नियमों को ठीक ठीक चलाने के लिये किसी नियन्ता की आवश्यकता है या नियम स्वयं ही बिना अधिष्ठात्री शक्ति के संसार में काम करते रहते हैं।

There is a law of heredity :—like produces like. But why is there such a law ? Why does like propuce like ? Why should not all nature have been sterile ? Why should there have been any provision for the propagation of life in a universe ruled by a mere blind force ? And why should producer and produced be like ? Why should offspring not always be as unlike their parents as tadpoles are unlike frog ? The offsprings of all the higher animals pass through various embryological stages in which they are extremely unlike their parents. Why should they ever become like to them ? Physical science cannot answer these questions, but there is no reason why they should not be both asked and answered. I can concieve of no other intelligent answer being given to them than that there is a God of

wisdom, who designed that the world should be for ages the abode of life."

(Flint's Theism p. 201).

"पितृ-नियम यह है कि समान से समान वस्तु उत्पन्न होती हैं। परन्तु ऐसा नियम क्यों है? समान से समान ही क्यों उत्पन्न होता है? समस्त सृष्टि बन्ध्या क्यों नहीं? अचेतन-शक्ति द्वारा शासित सृष्टि में सन्तानोत्पत्ति के लिये प्रबन्ध ही क्यों है? फिर पैदा करने वाली और पैदा हुई वस्तुयें समान ही क्यों हैं? बच्चे हमेशा अपने पिताओं के इतने ही असमान क्यों नहीं उत्पन्न होते जितना मेंडक से मेंडक का बच्चा होता है? बड़े जानवरों के बच्चे भी उत्पत्ति के समय कई ऐसी श्रेणियों से गुज़रते हैं जो उनके मा बाप से भिन्न होती हैं। फिर यह क्यों उनके समान हो जाते हैं? भौतिक सायंस इन प्रश्नों का उत्तर नहीं दे सकती। परन्तु इस का यह अर्थ नहीं है कि ऐसे प्रश्न न किये जायं और उनका उत्तर न दिया जाय। मेरी समझ में तो इन प्रश्नों का केवल एक ही उत्तर दिया जा सकता है वह यह कि एक सर्वज्ञ ईश्वर है जिसने ऐसा प्रबन्ध रच रक्खा है कि संसार दीर्घकाल तक जीवन का आधार बना रहे।"

मनुष्य का बच्चा जब मा के गर्भ में पड़ता है तो उसकी मनुष्य के समान आकृति नहीं होती। गाय, ख़रगोश, सुअर और मनुष्य के बच्चों की आकृति गर्भ के पहले मास में एक सी होती है। कई महीनों पश्चात् उनमें भेदक चिह्न बनने आरंभ होते हैं। परन्त उत्पत्ति के समय वह स्पष्ट रीति से भिन्न २ हो

जाते हैं। इस उदाहरण में यदि हक्सले महोदय की वह युक्ति भिड़ाई जाय जो उन्होंने पैले के घड़ी के उदाहरण में दी थी तो उसकी असारता शीघ्र ही स्पष्ट हो जाती है। स्त्री के पेट का एक मास का गर्भ आगे चलकर गाय का रूप क्यों नहीं धारण करता और मनुष्य का ही क्यों धारण करता है? इस से तो यही प्रकट होता है कि यद्यपि गाय और स्त्री दोनों के गर्भ के पहले मास के लोथड़े देखने में एक से थे तथापि नियन्ता ने विचार-पूर्वक ऐसा प्रबन्ध किया था कि स्त्री का बच्चा मनुष्य की आकृति धारण करे और गाय का गाय की। सुनार कड़े और हार दोनों के लिये एक ही प्रकार सोना पिघलाता है। आरम्भ में सोने की शलाका भी एक ही प्रकार की होती है। देखने वाला समझता है कि दोनों शलाकायें एक सी हैं। परन्तु सुनार जानता है कि एक शलाका से हार बनाना है और दूसरी से कड़ा। इस लिये आगे चल कर वह भेद कर देता है। यही हाल जानवरों के बच्चों का है। पितृ-नियम आस्तिकवाद का खण्डन नहीं करता।

"Then, the so called law of variability is the expression of a purpose which must have reason at its beginning, middle and end. There is in no organism an absolutely indefinite tendency to vary. Every variation of every organism is in some measure determined by the constitution of the organism. 'A whale,' as Dr. Huxley says, "does not tend to vary in the direction of pro-

ducing feathers, nor a bird in the direction of producing whalebone.' But a tendency to definite variation is an indication of *purpose*. If a man could make a revolving barrel and with a tendency to develop into a watch, he would have to be credited with having designed both the barrel and watch, not less than if he had contrived and constructed the two separately........ variation, according to the Darwinians, has taken place in one direction and not in another ; it has been forword, not backward ; it has been a progression, not a retrogression. Why, only because of a continuous adjustment of organisms to circumstances tending to brings this about."

(Flint's Theism p. 203).

इसके अतिरिक्त परिवर्त्तन के नियम से भी एक प्रयोजन सूचित होता है जिसके आदि, मध्य, तथा अन्त में बुद्धि की आवश्यकता है। किसी वस्तु में ऐसा स्वभाव नहीं पाया जाता कि उसमें परिवर्त्तनों का अन्त ही न हो। प्रत्येक वस्तु में परिवर्त्तन उस की बनावट के अनुसार होता है। डाक्टर हक्सले के कथनानुसार 'ह्वेल में ऐसा परिवर्त्तन कभी नहीं होता कि उसके पर निकल आवें और न चिड़ियों में ऐसा परिवर्त्तन होता है कि उनमें ह्वेल की हड्डी बन सके'। नियत परिवर्त्तन से स्पष्टतया प्रयोजन सूचित होता

है। यदि कोई मनुष्य ऐसी घूमती हुई नलिका बना सके जो आगे चल कर घड़ी के रूप में विकसित हो सके तो इन दोनों वस्तुओं को एक साथ बनाने के लिये उसकी बुद्धि की उतनी ही प्रशंसा करनी पड़ेगी जितनी अलग अलग नलिका और घड़ी बनाने के लिये। डार्विन के अनुयायियों के मतानुसार परिवर्त्तन एक निश्चित मार्ग में हुआ है इससे विरुद्ध नहीं। यह आगे को ही चलता है पीछे को नहीं। इससे उन्नति ही होती है अवनति नहीं। क्यों? केवल इसी लिये कि चीज़ों की मिलावट इस बुद्धिमता के साथ की गई हैं कि उससे नियत परिणाम निकल सके।"

"Again, there is a law of overproduction, we are told, which gives rise to a struggle for existence. Well, is this law not a means to an end worthy of Divine Wisdom? In it we find the reason why the world is so wonderfully rich in the most varied forms of life. What is called over-production is a productivity which is in excess of the means of subsistence provided for the species itself; but no species exists merely for itself. The ratio of the production of life is probably none too high for the wants of all the creatures which have to be supplied with food and enjoyment. And the wants of all creatures are what have to be taken into account; not the wants of any single species, not the wants of man

alone. If we adequately realised how vast is the number of guests which have constantly to be fed at the table of nature, we would, I have no doubt, acknowledge that there is little, if any, real waste of life in the world. Then, the struggle to which the rate of production gives rise is, on the showing of the Darwinians themselves, subservient to the noblest ends. Although involving privation, pain and conflict, its final result is order and beauty. All the perfections of sentient creatures are represented as due to it. Through it the lion has gained its strength, the deer its speed, the dog its sagacity. The inference seems natural that these prefections were designed to be attained by it; that this state of struggle was ordained for the sake of the advantages which it is actually seen to produce. The suffering which the conflict involves may indicate that God has made even animals for some higher end than happiness, that he cares for animal perfection as well as for animal enjoyment; but it affords no reason for denying that the ends which the conflict actually serves, it was also intended to serve. Besides, the conflict is clearly not a struggle for bare existence; it is,

even as regards the animals, a struggle for the largest amount of enjoyment which they can secure, and for the free and full exercise of all their faculties. It thus manifests, not only indirectly but also directly, what its ends are. They are ends which can only be reasonably conceived of as having been proposed by an intelligence, and which are eminently worthy of a Divine Intelligence."

(Flint's Theism pp. 203-205).

अब अधिक उत्पत्ति के नियम को लीजिये जिसके कारण अस्तित्व के लिये युद्ध करना पड़ता है। क्या इस नियम से यह सूचित नहीं होता कि बुद्धिमान ईश्वर ने ऐसी रचना रची है जिससे विशेष प्रयोजन सिद्ध हो सके? इसी से तो पता चलता है कि संसार में इतने भिन्न २ प्रकार के और इतने अधिक जीव क्यों हैं? जिसको उत्पत्ति का आधिक्य कहते हैं वह आधिक्य उस एक जाति के अपने अस्तित्व की आवश्यकताओं की अपेक्षा से ही है। परन्तु कोई जाति स्वयं अपने लिये ही नहीं जीती। यदि उन सब प्राणियों का हिसाब लगाया जाय जिनको भोजन तथा सुख पहुंचाना है तो शायद उत्पत्ति इतनी अधिक न सिद्ध होगी। वस्तुतः सभी प्राणियों की आवश्यकता पर विचार करना चाहिये केवल एक जाति या केवल मनुष्य को आवश्यकता पर नहीं। यदि हम इस बात का हिसाब लगा सकें कि संसार

में कितने महमानों को निरन्तर खाना पहुंचाने का प्रबन्ध करना पड़ता है तो यह मानना पड़ेगा कि सृष्टि में किसी प्रकार का अपव्यय नहीं होता। फिर इस बात को तो डार्विन के अनुयायी भी मानते हैं कि इस अस्तित्व के युद्ध का परिणाम अच्छा ही होता है। दुःख, वेदना तथा वैमनस्य भी अन्त में प्रबन्ध तथा सौन्दर्य के लिये ही हैं। बुद्धि वाले प्राणियों में जो पूर्णतायें विद्यमान हैं उन सबका कारण यही युद्ध है। इसी के द्वारा सिंह को शक्ति, हिरण को तेज़ी और कुत्ते को बुद्धि मिलती है। इससे स्वभावतः यही अनुमान होता है कि यह सब पूर्णतायें इसी युद्ध द्वारा होने को थीं। और इस अस्तित्व-युद्ध की योजना भी इसी प्रयोजन के लिये हुई थी। इस युद्ध से जो वेदना होती है उससे भी यही प्रकट होता है कि ईश्वर ने जीवों को केवल सुख के लिये ही नहीं बनाया किन्तु इससे उच्च प्रयोजन के लिये भी। अथवा ईश्वर को प्राणियों की उन्नति का उतना ही ध्यान है जितना उनके सुख का। परन्तु इससे इस बात का खण्डन नहीं होता कि जो प्रयोजन इस युद्ध से निकल रहा है उसके लिये उसकी योजना नहीं हुई थी, फिर दूसरी बात यह है कि यह युद्ध केवल अस्तित्व के लिये हो नहीं है। किन्तु अत्यन्त सुख और अपनी शक्तियों के अत्यन्त और स्वतंत्रता-पूर्वक विकास के लिये भी है। यह ऐसे प्रयोजन हैं जो केवल बहुत बड़ी बुद्धि द्वारा ही निर्मित हो सकते हैं और इनसे दैवी बुद्धि के कार्य्य का बड़ी उत्तमता से प्रकाश होता है।"

But what of the law, or so-called law, of natural selection? In itself, and so far as physical science can either prove or disprove it, it is simply an expression of the alleged fact, that in the struggle of life, any variation, however caused which is profitable to the individuals of a species, will tend to their preservation, will have a chance of being transmitted to their offspring, and will be of use to them likewise, so that they will survive and multiply at the expense of competitors which are not so well endowed. Some might even hold that design cannot be conceived of as realised in any other natural way; that if not thus realised, it could only be miraculously realised. But Mr. Darwin, and many of those who call themselves his followers, tell us not only that there is natural selection, but that blind forces and mechanical laws alone bring it about, that intention and intelligence have nothing to do with it. What proof do they give us? Alas, the painfull thing is that they give us none. They point out the blind forces and the mechanical laws by which the selection is effected and its results secured; they show how they are adapted to accomplish their work: and then they

assert that these forces and laws explain the whole matter; that no underlying and all embracing reason has prepared, arranged, and used them. They see physical agencies and the physical process by which order and beauty have been attained; they do not see intelligence and design; and because they do not see them, they conclude that they have no existence. They describe the mechanism which their senses apprehend, and affirm it to have made itself, or at least to have been unmade, and to work of itself, because the mind which contrived it and directs it is inaccessible to sense. All their reasoning resolves itself into a denial of what is spiritual because it is unseen.

The only instances of natural selection which have been adduced to show that blind forces may bring about results as remarkable, and of the same kind, as those which are accomplished by intelligent agents, are manifestly irrelevant. They are of such a nature that every teleologist must hold them to imply what they are intended to disprove. When Professor Huxley points to the winds and waves of the Bay of Biscay as carefully selecting the particles of sea

sand on the coasts of Brittany, and heaping them, according to their size and weight, in different belts along the shore: to a frosty night selecting the hardy plants in a plantation from among the tender ones; and to a hurricane transporting sapling to a new seat in the soil, he completely mistakes what the problem before him is. Fire and water can produce wonderful effect in a steam engine, but the man who should infer, from there being no intelligence in the fire and water themselves, that intelligence must have had nothing to do with their effect when they were brought into contact in a steam engine would deserve no great credit for his reasoning. It is precisely Professor Huxley's reasoning. He looks at the fire and water separately, and completely ignores the engine. Because in a world which is a system of order and law a certain collocation and combination of physical condition and forces will produce an orderly result, he infers that design and intelligence are not needed to produce such a result. I submit that is illegitimate and irrelevant reasoning. It resolves itself into a dinial of Divine and intelligent agency, because the senses apprehend merely

physical elements and a physical process. It assumes a selected adaptation, which presupposes intelligence in order to get rid of intelligence. It begs the whole question.

"अब रहा स्वाभाविक चुनाव (Natural Selection) जिसको नियम कहना भी संदेहात्मक है। जहां तक कि इसका सम्बन्ध भौतिक सायंस से है अर्थात् जहां तक भौतिक सायंस इस का खण्डन या मण्डन कर सकती है वहां तक तो इस नियम का केवल यही तात्पर्य है कि जो परिवर्त्तन, किसी भी कारण से उत्पन्न होकर किसी जाति के व्यक्तियों के लिये लाभकारी हैं वह उनको अवश्य लाभ पहुंचाता रहेगा और उनकी सन्तान को भी लाभ पहुंचाने का अवसर पा सकेगा जिससे उन (सन्तानों) को जीवित रहने और फलने फूलने का सौभाग्य प्राप्त हो सके और वह शत्रु जिनमें इतनी शक्ति नहीं है नष्ट हो जायं। परन्तु यह स्वाभाविक चुनाव रचना (design) के विरुद्ध नहीं है। यह तो उलटा इस बात को प्रकट् करता है कि यही रीति है जिस के द्वारा प्रबन्ध का सम्पादन हो सकता है। सम्भव है कुछ लोगों का ऐसा भी मत हो कि प्रबन्ध के सम्पादन का और कोई मार्ग भी नहीं है। यदि इस प्रकार न हो सके तो केवल मौज़िज़े (चमत्कार) द्वारा ही हो सकता है। डार्विन महाशय और बहुत से वह लोग जो अपने को डार्विन के अनुयायी कहते हैं यह बताते हैं कि 'न केवल स्वाभाविक चुनाव का ही नियम है किन्तु यह स्वाभाविक चुनाव होता भी केवल जड़

शक्तियों और अचेतन नियमों द्वारा ही है। इच्छा शक्ति या बुद्धि का इसमें कुछ काम नहीं। इसका वह क्या प्रमाण देते हैं ? शोक तो यह है कि कोई प्रमाण नहीं देते हैं ? वे केवल उन जड़ शक्तियों और बुद्धि शून्य नियमोंकी ओर संकेत कर देते हैं जिन के द्वारा यह चुनाव होता है और उसका परिणाम निकलता है। उनसे तो केवल यही प्रकट होता है कि वह अपना काम किस प्रकार करते हैं। इस पर भी वह यह मानते हैं कि इन्हीं शक्तियों और नियमों द्वारा समस्त सृष्टि की व्याख्या हो सकती है और कि इनमें कोई ऐसी सर्व-व्यापी बुद्धि का प्रवेश नहीं है जिसने इनको सोचकर क्रमशः रक्खा हो या इनसे काम लिया हो। भौतिक साधन और भौतिक उपाय जिनके द्वारा प्रबन्ध और सौन्दर्य का सम्पादन होता है उनकी आंख के सामने हैं। बुद्धि तथा विचार उनको दिखाई नहीं देता, अतः वह समझते हैं कि इनका अस्तित्व भी नहीं ! वे उस कल की व्याख्या कर देते हैं जो उनकी इन्द्रियों द्वारा जानी जा सकती है और कह देते हैं कि यह स्वयं बन गई या वे बनी हुई है और स्वयं ही चल रही है क्योंकि जिस मस्तिष्क ने उसे बनाया और जो उसे चला रहा है वह मस्तिष्क उनको दिखाई नहीं पड़ता। इस सब युक्ति का यही अर्थ है कि चूंकि आत्मा दिखाई नहीं देता अतः वह है भी नहीं।

स्वाभाविक चुनाव के जो उदाहरण यह सिद्ध करने के लिये दिये गये हैं कि जड़ शक्तियां ही काम करती रहती हैं और उनसे वही फल निकल सकता है जो चेतन शक्तियों द्वारा काम करने से निकलता है। वह सब अप्रासंगिक हैं।

वे इस प्रकार के हैं कि उनसे आस्तिकों के विचारानुसार उन्हीं बातों का मण्डन होता है जिनके खण्डन करने के लिये वह पेश की जाती हैं। प्रोफ़ेसर हक्सले ने उदाहरण दिये हैं कि विस्के की खाड़ी की लहरें और हवायें ब्रिटनी के तट पर समुद्र की रेणु को बड़ी सावधानी से चुनकर परिमाण और संख्या के अनुसार भिन्न २ आकारों में लगा देती हैं। या रात का पाला बाग़ में से मज़बूत पौधों को छांट लेता है और कमज़ोरों को मार डालता है, तूफान एक पौधे के अंकुर को एक स्थान से लेजाकर दूसरे स्थान में लगा देता है। परन्तु हक्सले बिल्कुल भूल जाता है कि उसे सिद्ध क्या करना है? भाप के इंजन में आग और पानी अद्भुत काम कर सकते हैं। परन्तु उस मनुष्य की तर्क-बुद्धि के लिये क्या कहा जावे जो यह मान लेता है कि चूंकि आग और पानी जड़ हैं इसलिये उनसे विशेष कार्य्य लेने के लिये बुद्धि की भी आवश्यकता नहीं है। प्रोफ़ेसर हक्सले की भी युक्ति इसी प्रकार की है। उसकी दृष्टि आग और पानी पर अलग अलग तो जाती है परन्तु इंजन पर नहीं जाती। वह समझता है कि इस प्रबन्ध तथा नियम बद्ध सृष्टि में कुछ भौतिक संयोग या परिस्थितियों द्वारा अमुक फल निकल आता है अतः बुद्धि तथा विचार की कुछ आवश्यकता नहीं। मैं कहता हूं कि यह अनुचित और अप्रासंगिक हेतु है। इसका यही तात्पर्य है कि इंद्रियों द्वारा केवल भौतिक पदार्थ या भौतिक घटनायें ही दिखाई दे सकती हैं अतः ईश्वर या चेतन-शक्ति कोई चीज़ नहीं। बुद्धि का खण्डन करने के लिये वह ऐसे चुनाव को मान लेता

है जिसके लिये स्वयं बुद्धि की आवश्यकता है। अन्यान्य-आश्रय-दोष इसी को कहते है।" (Flint's Theism, 205)

"The so called law of sexual selection, if it be a law at all, is obviously teleological in its nature. Its end is the production of beauty in form and colour. Can blind physical forces, if not subservient to intelligence, be conceived of as working towards so essentially ideal a goal as beauty?

(Flint's Theism p. 208).

"यद्यपि लिङ्ग-सम्बन्धी चुनाव (दाम्पत्य चुनाव) के नियम को नियम कहना भी कठिन है तो भी इससे विचार शक्ति सिद्ध होती है। इसका प्रयोजन यह है कि आकार तथा रंग सम्बन्धी सौन्दर्य का सम्पादन हो सके। क्या जड़ भौतिक शक्तियां बिना बुद्धि की सहायता के सौन्दर्य जैसी अद्भुत वस्तु को उत्पन्न कर सकती हैं?"

यहां हमारे ऊपर एक आक्षेप हो सकता है वह यह कि हमने डार्विन के सिद्धान्तों से वह बात सिद्ध करने का प्रयत्न किया है जिसको डार्विन या उसके अनुयायी नहीं मानते। फिलएट ईश्वरवादी होने से सायंस सम्बन्धी बातों में प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। उसने डार्विन के सिद्धान्तों को तोड़ मड़ोड़ कर अपना पक्ष सिद्ध किया है। इसके विषय में हम दो बातें कहेंगे। पहली यह कि यदि फिलएट ने विपक्षी सायंसवेत्ता के सिद्धान्त से ही यह दिखा दिया कि जिस बात को डार्विन बिना बुद्धि-युक्त इच्छा

शक्ति के होना बताता है वह उसी के नियमों से असिद्ध ठहरता है तो उसने कोई पाप नहीं किया। यदि डार्विन अधिक सोचता तो शायद उसको भी इसी नतीजे पर पहुंचना पड़ता! दूसरी इससे भी विचित्र बात यह है कि हमारी बात को एक और ऐसे ही धुरन्धर विकासवादी के कथन से पुष्टि होती है। आल्फ्रेडरसेल वालेस (Alfred Russel Wallace) के नाम से हर एक विकास वादी तथा सायंस-वेत्ता को अभिज्ञ होना चाहिये। वह डार्विन का सहयोगी था और डार्विन के पश्चात् भी उसी मार्ग का पथिक रहा है। उसने अपने आधी शताब्दी के अन्वेषण के पश्चात् "दी वर्ल्ड आफ़ लाइफ्" (The World of Life) या "जीवन जगत्" नामक पुस्तक की भूमिका में यह मर्म की बात लिखी है जिससे सायंसवेत्ताओं की आंखें खुल जानी चाहिये :—

"............the most prominent feature of my book is that I enter into a popular, yet critical examination of those underlying fundamental problems which Darwin purposely excluded from his work as being beyond the scope of *his* enquiry. Such are, the nature and causes of Life itself; and more especially of its most fundamental and mysterious powers——growth and reproduction.

....

.........I argue, that they necessarily imply first

a creative power, which so constituted matter as to render these marvels possible, next, a directive mind which is demanded at every step of what we term growth, and often look upon as so simple and natural a process as to require no explanation; and, lastly, ultimate purpose, in the very existence of the whole vast life-world in all its long course of evolution throughout the eons of geological time." (A. R. Wallace's World of Life, preface pp. VI—VII).

"......मेरी पुस्तक की एक बड़ी विशेषता यह है कि मैंने उन मौलिक नियमों की सरल परन्तु गम्भीर परीक्षा की है जिनको डार्विन ने अपने अधिकार के बाहर समझ कर जान बूझ कर अपने ग्रन्थों में नहीं लिखा। अर्थात् यह नियम कि जीवन क्या है और उसके कौन २ से कारण हैं, और विशेष कर जीवन में वृद्धि और सन्तान उत्पत्ति की जो विचित्र शक्तियां हैं उनका क्या कारण है?......... ....
....

मैं यह परिणाम निकालता हूं कि इनसे (पक्षियों तथा कीड़ों के रंग आदि से) पहले तो एक उत्पादक-शक्ति का परिचय होता है जिसने प्रकृति को इस प्रकार बनाया कि उससे ऐसी आश्चर्य जनक घटनायें सम्भव हो सकीं। दूसरे एक संचालक बुद्धि मालूम होती है जो वृद्धि की प्रत्येक अवस्था में आवश्यक होती है। यद्यपि हम इस वृद्धि

को ऐसी साधारण वस्तु समझ लेते हैं कि उसकी मीमांसा की भी आवश्यकता नहीं समझते। और अन्त को उस अन्तिम प्रयोजन का पता चलता है जो भूगर्भ सम्बन्धी युग युगान्तरों में इस समस्त विशाल जीवन जगत् की दीर्घ कालीन विकास यात्रा में ओत प्रोत हो रहा है।"

इस प्रकार डार्विन के विकासवाद से आस्तिकता का खण्डन नहीं होता। इससे तो उलटा ईश्वरीय विचित्र बुद्धि का उल्लेख होता है। डार्विन ने भिन्न २ पौधों तथा कीट पतंग आदि के शरीरों की बनावट, उनके स्वभाव, उनकी रीतियाँ आदि विषयों पर जो ग्रन्थ रचे हैं उनसे सृष्टि के अद्भुत सौन्दर्य तथा उससे प्रकट होने वाले अपूर्व ज्ञान का परिचय होता है। यही वालेस महाशय का भी मत है।

परन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि आस्तिकों को विकासवाद मान ही लेना चाहिये। हमने यहाँ केवल यह दिखलाने का प्रयत्न किया है कि विकासवाद के आधार पर आस्तिकता का खण्डन करना अनुचित ही नहीं किन्तु असम्भव है। परन्तु ऐसा कहने से हम विकासवादी नहीं हो जाते।

वस्तुतः वर्त्तमान अवस्था में विकासवाद को सिद्धान्त मान लेना बड़े बड़े वैज्ञानिकों से भी एक पग आगे धरना है। विकासवाद इतने दिनों के परिश्रम के पश्चात् भी केवल वाद मात्र है। वैज्ञानिक लोग भी यह निश्चय नहीं कर सके कि इस पर कहाँ तक और किस रूप से विश्वास किया जाय। नई नई शृङ्खिलायें ऐसी निकल ही आती हैं कि डार्विन का बनाया हुआ घर न जाने कब धम से आ पड़े। जो डार्विन का

मत था उसमें बहुत प्रकार के विशेषण लगा दिये गये हैं। वालेस महाशय वही नहीं कहते जो डार्विन कहते थे। डार्विन महोदय के सुयोग्य पुत्र प्रोफ़ेसर जार्ज डार्विन ने १६ अगस्त १६०५ को दक्षिणी अफ्रीका में ब्रिटिश एसोशियन के प्रधान की हैसियत से कहा था "The mystery of life remains as impenetrable as ever,". अर्थात् जीवन का रहस्य अब भी उतना ही गूढ़ है जैसे पहले था।

एबर्डीन यूनीवर्सिटी के प्रो० जे. ए. टाम्सन (Pro. J. A. Thomson) और एडिंबरा यूनीवर्सिटी के प्रो० पैट्रिक गेडीस (Prof. of Patrick Geddes) ने बिकासवाद पर लिखते हुए कहा है :—

"We donot know *whence* he emerged........... ......nor do we know *how* man arose............... for it must be admitted that *the factors of the evolution of man partake largely of the nature of may-be's, which has no permanent position in science.*"

(Ideals of Science and Faith).

अर्थात् हम नहीं जानते कि मनुष्य कहाँ से आया या कैसे आया? यह मान लेना चाहिये कि मनुष्य के विकास के प्रमाण संदिग्ध हैं और सायंस में उनके लिये कोई स्थायी स्थान नहीं हैं"

६वीं जून १६०५ के टायम्स (Time's Literary Sup-

plement). में कई विकासवादियों के वाद-विवाद के विषय में लिखा था :-

"Never was seen such a melee. The humour of it is that they all claim to represent science.... ....For the plain truth is that, though some agree in this and that, there is not a single point in which all agree. Battling for evolution they have torn it to pieces, nothing is left—nothing at all, on their showing, save a few fragments strewn about the arena."

"ऐसी गड़बड़ पहले कभी नहीं हुई थी। तमाशा है कि यह सब अपने को विज्ञान का प्रतिनिधि बताते हैं......सच तो यह है कि यद्यपि कुछ लोग एक दो बातों में सहमत हैं कोई एक बात भी ऐसी नहीं है जिसमें सब सहमत हों। विकास-वाद के पक्ष में युद्ध करते हुए उन्होंने इसके टुकड़े टुकड़े कर डाले। अब इसका कुछ भी शेष नहीं रहा-केवल युद्ध क्षेत्र में कुछ टुकड़े इधर उधर बिखरे पड़े हैं"।

मनुष्य की बन्दर से उत्पत्ति के विषय में सर जे. डब्ल्यू डौसन (J. W. Dawson) कहते हैं ;—no remains of intermediate forms are yet known to science.

अर्थात् "बन्दर और मनुष्य के बीच की आकृति का विज्ञान को कुछ पता नहीं" और

"The earliest known remains of man are *still human*, and tell us nothing as to the previous stages of development."

अर्थात् मनुष्य की प्राचीनतम अस्थियाँ भी मनुष्य की सी ही हैं और इनसे उस विकास का कुछ पता नहीं लगता जो मनुष्य शरीर से पहले हुआ है"।

प्रो० औवेन (Prof. Owen) का कथन है :—

"Man is the sole species of his genus and the sole representative of his species."

अर्थात् "मनुष्य अपने प्रकार की एक मात्र जाति है और अपनी जाति का एक मात्र प्रतिनिधि है"।

इतना ही नहीं, बहुत से वैज्ञानिकों का तो ऐसा भी मत है कि मनुष्य दिन प्रति दिन उन्नति नहीं किन्तु अवनति करता जाता है। सिडनी कौलेट (Sidney Collett) ने अपनी पुस्तक The Scripture of Truth में लिखा है कि

"Science is equally explicit in its testimony, that instead of man having slowly improved from the lower to the higher, the tendency is exactly in the opposite direction." (page. 183).

अर्थात् "सायंस की स्पष्ट साक्षी है कि मनुष्य अवनत दशा से उन्नत दशा की ओर चलने के स्थान में उलटा अवनति कर रहा है"।

वह लिखते हैं।

"Mr. Horatio Hale shows, in a remarkable article in the *transaction of the Royal Society of Canada*, that primitive man in his earliest state must have been endowed with as high intellectual powers as any of his descendants; while

Sir J. W. Dawson writing on this subject, says the earliest remains of man show "that man's earliest state was his best."

"ट्रांज़ेकशन्स आफ़ दी रोयल सोसायटी कनाडा में मिस्टर होरेशियो हेल ने एक लेख लिखा था जिसमें सिद्ध किया था कि आदि मनुष्य में उसकी आदिम अवस्था में इतनी ही उच्च बुद्धि थी जितनी उसकी सन्तान में। और सर जे. डब्ल्यू डौसन ने उसी विषय में यह लिखा है कि मनुष्य की आदिम अवस्था सब से उच्च थी।"

इन सब बातों को विचारते हुये डार्विन या उनके अनुयायियों के विकासवाद को मानना तो कठिन है परन्तु चाहे विकासवादी हो चाहे अविकासवादी, किसी को ईश्वर की सत्ता से इनकार नहीं हो सकता।

बहुत से धर्म के ठेकेदार सायंस से इसलिये घृणा करते हैं कि सायंस की वृद्धि से उनके धर्म को हानि पहुंचेगी और 'बाबा वाक्यं कि प्रमाणम्' कहकर जो वह अपने अनुयायियों में अन्ध विश्वास और श्रद्धा उत्पन्न कर देते थे वह न कर सकेंगे। परन्तु वस्तुतः यह धर्म नहीं है। स्वार्थ का दूसरा नाम धर्म होगया है। बहुत से धर्मों का आरम्भ ही स्वार्थ से हुआ है और स्वार्थ की सिद्धि उसी समय तक हो सकती है जब अनुयायियों की आंखें बन्द रहें और उनको स्वतंत्रता से सोचने का अवसर न मिले। सच्ची आस्तिकता को सच्ची सायंस से कुछ भय नहीं। सच्ची सायंस तो आस्तिकवाद की सहायक है क्योंकि सृष्टि की अज्ञात वस्तुओं तथा घट-

नाओं को खोज कर निकालने से सृष्टिकर्त्ता ईश्वर के महत्व का ही ज्ञान होता है।

यदि सायंस का अभाव हो जाय तो हमको ईश्वर के विषय में कुछ भी ज्ञान न हो। वस्तुतः सायंस का आरम्भ उस समय से होने लगता है जब हम अपने आंख कान खोल कर सृष्टि का निरीक्षण करने लगते हैं। उस निरीक्षण का विकसित रूप ही वह परीक्षणालय हैं जिनमें सायंसवेत्ता अनेक प्रकार के अन्वेषणों में दत्तचित्त रहते हैं। जितना अधिक परिश्रम वह करते हैं उतना ही अधिक उनको ईश्वर की सृष्टि का ज्ञान होता है। और जितनी इस ज्ञान में वृद्धि होती है उतना ही वह ईश्वर की महिमा को समझ सकते हैं। सर आलीवर लाज (Sir Oliver Lodge) ठीक कहते हैं :—

"The region of religion and the region of a completed science are one."

अर्थात् "धर्म का क्षेत्र और पूर्ण सायंस का क्षेत्र एक ही है"।

छठा अध्याय

ईश्वर के गुण—(१)

जिस महती सृष्टि में हम रहते हैं उससे यह प्रकट होता है कि इसकी बनाने वाली एक ऐसी अदृष्ट सत्ता है जिसमें बुद्धि और इच्छा शक्ति दोनों विद्यमान हैं। बिना बुद्धि और इच्छा शक्ति के उस प्रबन्ध की रचना हो ही नहीं सकती जिसको अलग कर देने से सृष्टि सृष्टि ही नहीं रहती। जिस प्रकार घड़ी के पुर्ज़ों को अलग २ कर देने से घड़ी नहीं रहती चाहे पुर्ज़े भले ही रहें, इसी प्रकार प्रकृति के समस्त परमाणु भी सृष्टि नहीं बना सकते जब तक उनको विचार-पूर्वक प्रबन्ध में बांधा न जाय।

अब प्रश्न यह होता है कि यदि इस बुद्धि तथा इच्छा-युक्त सत्ता का अस्तित्व मान भी लिया जाय तो भी इससे आस्तिकों अथवा धर्म-ध्वजों का काम नहीं चलता। क्योंकि ईश्वर के अनुयायी ईश्वर में केवल उन्हीं गुणों का आरोपण नहीं करते जिनकी सृष्टि-रचना से सूचना मिलती है। बहुत से गुण ऐसे हैं जिनके लिये आस्तिकों के पास कोई प्रमाण नहीं। कुछ गुण तो ऐसे भी हैं जिनको ईश्वर में मानकर उसको सृष्टि-कर्त्ता कह ही नहीं सकते। ऐसा मालूम होता है कि यदि ईश्वर कोई सत्ता है और वह सत्ता किसी चीज़

की रचना करती है तो वह रचना हमारी सृष्टि से भिन्न किसी अन्य स्थान पर होगी जिसका हमको कोई ज्ञान नहीं है। उदाहरण के लिये एक ओर तो यह कहा जाता है कि सृष्टि की समस्त घटनायें नियम-पूर्वक होती हैं इसलिये इन नियमों का एक कोई विचारशील नियन्ता अवश्य है। दूसरी ओर चमत्कार दिखाकर यह भी सिद्ध किया जाता है कि ईश्वर सभी कुछ कर सकता है अतः वह नियमोल्लङ्घन भी कर सकता है। वस्तुतः चमत्कारों का आस्तिकता से कुछ ऐसा सम्बन्ध हो गया है कि जो पुरुष अपने को पैग़म्बर अर्थात् ईश्वर के भेजे हुये सिद्ध करना चाहते हैं उनको चमत्कार दिखाने ही पड़ते हैं। बहुत से चमत्कार इस्लाम धर्म के संस्थापक मुहम्मद के विषय में बताये जाते हैं। ईसाई धर्म के संस्थापक ईसा के विषय में यही कहा जाता है। अन्य धर्मावलम्बी भी "ईश्वर सब कुछ कर सकता है" का राग अलापा करते हैं। नास्तिकवादी कहते हैं कि तुम या तो सृष्टि को नियमित मान लो या अनियमित। यह तो नहीं हो सकता कि अपने सिद्धान्त को प्रमाणित करने के लिये पहले नियमित मानो फिर अनियमित। यदि नियमों के कारण तुम ईश्वर का अस्तित्व मानते हो तो नियमोल्लङ्घन के कारण ईश्वर के अस्तित्व का खण्डन करना पड़ेगा। चमत्कार नियमोल्लङ्घन को प्रकट करते हैं अतः वह कभी नियन्ता के अस्तित्व को सिद्ध नहीं कर सकते। नियन्ता का अस्तित्व उसी समय सिद्ध होगा जब सृष्टि को पूर्ण-नियम-बद्ध सिद्ध कर दिया जाय और पूर्णनियम-बद्ध सृष्टि उसी समय सिद्ध हो सकेगी जब इसमें चमत्कारों को

स्थान न दिया जाय, और यह मान लिया जाय कि ईश्वर अपने नियमों का कभी उल्लङ्घन नहीं करता और न कर सकता है। अन्यथा अन्योन्याश्रय दोष आ जायगा।

इसी प्रकार "भ्रमवादी" जो "ब्रह्म-सत्य" और "जगन्मिथ्या" मानते हैं आस्तिकता की सिद्धि में क्या प्रमाण दे सकते हैं? यदि जगत् मिथ्या या भ्रम मात्र है तो उसको प्रमाण कोटि में कैसे रक्खा जा सकता है और उस से किसी प्रमेय की कैसे सिद्धि हो सकती है? यदि मैं कहूं कि अमुक यंत्र बहुत विलक्षण है अतः उसका बनाने वाला भी बहुत बड़ा बुद्धिमान प्रतीत होता है और इसके साथ साथ में यह भी कहूं कि यह यंत्र सचमुच यंत्र नहीं है केवल हमारी इन्द्रियों को धोखा हो गया है तो उस यंत्र के आधार पर बुद्धिमान निर्माता की सिद्धि भी नहीं हो सकती। यदि वस्तुतः जगत भ्रम मात्र है तो तुम को उसका उदाहरण या दृष्टान्त लेने का कोई अधिकार नहीं। परन्तु शङ्कराचार्य आदि सभी 'भ्रमवादियों' ने अपने सिद्धान्तों को सिद्ध करने के लिये इसी मिथ्या जगत् से उदाहरण लिये हैं। जैसे:—

(१) अस्मिन्वाक्ये जन्मस्थिति प्रलयानां क्रमदर्शनात्।

(२) अस्य जगतो नामरूपाभ्यां व्याकृतस्यानेककर्तृभोक्तृसंयुक्तस्य प्रतिनियतदेशकालनिमित्तक्रियाफलाश्रयस्य मनसाप्यचिन्त्यरचनारूपस्य जन्म स्थितिभङ्गं यतः सर्वज्ञात् सर्व शक्तेः कारणाद् भवति तद्ब्रह्मेति वाक्यशेषः— वेदान्त दर्शन १। १। २

(३) अतः समानः पश्वादिभिः पुरुषाणां प्रमाणप्रमेयव्यवहारः१।१।१

(४) वेदस्य हि निरपेक्षंस्वार्थे प्रामाण्यंरवेरिव रूपविषये ॥२।१।१

(५) यतन्तत्रापि पयोम्बुनोश्चेतनाधिष्ठितयोरेव प्रवृत्तिरित्यनुमिनीमहे। २।२।३

(६) धेन्वैव ह्युपयुक्तं तृणादि क्षीरीभवति ।२।२।५

यह इनकी अनधिकार चेष्टा है। वस्तुतः यदि जगत् मिथ्या है तो जगत् का कारण वह मस्तिष्क है जिसको भ्रम हुआ है न कि ब्रह्म। इसलिये ब्रह्म को जगत् के जन्म, स्थिति तथा भंग का कारण कहना नहीं बन सकता।

वस्तुतः जगत् को मिथ्या मान कर हम एक पग भी आगे नहीं रख सकते। समस्त ज्ञान अथवा विज्ञान का आदि मूल साधन हमारी इन्द्रियाँ ही हैं। इन पर विश्वास करना हमारे लिये स्वाभाविक है। यदि इन्द्रियाँ हमको धोखा देने या भ्रम में डालने के लिये होतीं तो हमने ऐसा क्या अपराध किया था जो हमारा नैत्यक सम्बन्ध इन धोखेबाज़ों के साथ कर दिया गया। ऐसे चोर डाकू हमारे पीछे क्यों लगा दिये गये कि जो हमको नित्य प्रति धोखा देते रहते हैं और हमारे सामने प्रत्येक वस्तु को विपरीत दशा में ही दर्शाया करते हैं। वस्तुतः यदि इन्द्रियाँ हमारे ज्ञान का साधन नहीं हैं तो फिर और क्या वस्तु है? यदि इन्द्रियों पर विश्वास नहीं करते तो यह भी कैसे सिद्ध होगा कि जगत् मिथ्या ही है। इसी लिये गौतम मुनि ने न्यायदर्शन में इन्द्रियों की साक्षी को झूठा न बता कर केवल उसकी परीक्षा के निमित्त कुछ नियम स्थापित कर दिये हैं। इन नियमों द्वारा हम जान सकते हैं कि कौन सी बात सच है और कौन सी झूठी। इसी का नाम उन्होंने प्रमाण-चतुष्टय अर्थात् प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द रक्खा है। इसमें सन्देह नहीं कि बहुत सी बातों को हमारी

इन्द्रियां नहीं जान सकतीं या यों कहिये कि हम बहुत सी बातों को इन्द्रियों द्वारा नहीं जान सकते। परन्तु जिन सूक्ष्म बातों का ज्ञान प्राप्त करने के लिये हमको सूक्ष्म-बुद्धि की आवश्यकता होती है उस बुद्धि का विकास भी तो उसी ज्ञान द्वारा होता है जो इन्द्रिय-जन्य है। जैसे कल्पना कीजिये कि बीजगणित में हम √—३ अथवा २√—५ आदि करणियों या सर्डों (Surd) का ज्ञान प्राप्त करते हैं। प्रत्येक गणितज्ञ जानता है कि √—३ या ३√—८ का क्या अर्थ है। परन्तु यदि उससे कहा जाय कि तुमने किस इन्द्रिय द्वारा यह ज्ञान प्राप्त किया तो वह नहीं बता सकेगा। फिर भी उसने ३, ५, वर्गमूल, घनमूल, शेष, धन आदि का ज्ञान पांच इन्द्रियों द्वारा ही प्राप्त किया है और उसी ज्ञान के आधार पर सम्पूर्ण गणित का विशाल भवन खड़ा किया गया है। इसी प्रकार न तो इन्द्रियाँ हमको धोखा देने वाली हैं न सब कुछ स्वप्न या भ्रम ही है। न भ्रम को मान कर हम आस्तिकवाद को ही सिद्ध कर सकते हैं। श्री शंकराचार्य का यह कहना कि :—

अविद्यावद् विषयाण्येव प्रत्यक्षादीनि प्रमाणानि शास्त्राणि च।

अर्थात् प्रत्यक्ष आदि प्रमाण तथा शास्त्र अज्ञान मात्र हैं ठीक प्रतीत नहीं होता। जिन शास्त्रों (वेद उपनिषद् आदि) को शंकरस्वामी अविद्या मानते हैं उन्हीं को प्रमाण मानकर वह अपने मत की भी पुष्टि करते हैं। फिर इसमें जो उन्होंने युक्ति दी है वह भी ठीक प्रतीत नहीं होती। वह लिखते हैं :—

पश्वादिभिश्चाविशेषात्। यथा हि पश्वादयः शब्दादिभिः श्रोत्रादीनां संबन्धे सति, शब्दादि विज्ञाने प्रतिकूले जाते, ततो निवर्तन्ते अनुकूले च प्रवर्तन्ते, यथा दण्डोद्यतकरं पुरुषाभिमुखमुपलभ्य मां हन्तुमयमिच्छतीति

पलायितुमारभन्ते, हरिततृणपूर्णपाणिमुपलभ्य तं प्रत्यभिमुखीभवन्ति, एवं पुरुषा अपि व्युत्पन्नचित्ताः क्रूरदृष्टीनाक्रोशतः खड्गोद्यतकरान् बलवत उपलभ्य ततो निवर्तन्ते, तद्विपरीतान्प्रति प्रवर्तन्ते, अतः समानः पश्वादिभिः पुरुषाणां प्रमाणप्रमेयव्यवहारः। पश्वादीनां च प्रसिद्धोऽविवेकपुरःसरः प्रत्यक्षादि व्यवहाराः तत्सामान्यदर्शनाद् व्युत्पत्तिमतामपि पुरुषाणां प्रत्यक्षादिव्यवहारस्तत्कालः समान इति निश्चीयते।

(शारीरिक भाष्य-भूमिका)

यहाँ उनको सिद्ध करना था कि प्रत्यक्ष आदि प्रमाण अविद्या मात्र हैं। इसके लिये उन्होंने युक्ति दी कि जिस प्रकार पशु आदि किसी को लकड़ी लाते हुए देख कर उससे डर कर भागते हैं और घास आदि देख कर उससे प्रेम करते हैं, इसी प्रकार मनुष्य भी तलवार आदि को देखकर डरकर भागता है। इसलिये मनुष्य और पशु इस अपेक्षा से तुल्य हुये। और चूंकि पशु अज्ञानी प्रसिद्ध ही हैं अतः मनुष्य भी अज्ञानी सिद्ध हुआ।

यह ऐसी विलक्षण और असंगत युक्ति है कि यदि शंकराचार्य्य जैसे धुरन्धर दर्शनज्ञ के ग्रन्थ में न होती तो कोई इसकी हंसी उड़ाये बिना न रहता। पशु आदि को अज्ञानी (अविवेक पुरःसरः) कहने का यह कारण नहीं है कि वह लकड़ी वाले से भागते हैं और घास वाले से प्रेम करते हैं। मैं समझता हूं कि यदि वह लकड़ी वाले से प्रेम करते और घास वाले से डरते तो वह अधिक अज्ञानी कहलाते। इसी प्रकार मनुष्य भी इस लिये अज्ञानी नहीं कहलाया जा सकता कि वह प्रत्यक्षादि प्रमाणों पर विश्वास करके तलवार से डरता और मिठाई से प्रेम करता है। पशु को अज्ञानी कहने का कारण यह है कि

वह अन्य अनुमान आदि प्रमाणों से यथोचित लाभ नहीं उठा सकता, न शास्त्र ज्ञान प्राप्त कर सकता है। मनुष्य और पशु में कुछ समानता अवश्य है। इस अंश में थोड़ा बहुत ज्ञान पशु और मनुष्य दोनों को है। परन्तु असमानता भी कई बातों में है। ऊपर की इस युक्ति से न तो प्रत्यक्ष आदि प्रमाण अविद्या सिद्ध होते हैं न इस बालू की भीत पर 'जगत् मिथ्यावाद' की छत रक्खी जा सकती है।

वस्तुतः इस प्रकार की युक्तियाँ मनुष्य को आस्तिकवाद से हटा कर नास्तिकवाद की ओर अधिक ले जाती हैं और कभी कभी मनुष्य का मस्तिष्क ऐसी उलझन में पड़ जाता है कि वह न तो यह निश्चय कर सकता है कि ईश्वर है न यह कि नहीं है और अन्त में गीता का यह वाक्य सार्थक हो जाता है कि—

संशयात्मा विनश्यति।

यदि विचार पूर्वक देखा जाय तो अयथार्थ आस्तिकों ने संसार में जितनी नास्तिकता फैलाई उसकी शतांश भी वैज्ञानिक नास्तिकों की ओर से नहीं फैली। यह आस्तिक, नाम के तो आस्तिक रहे परन्तु ईश्वर के नाम पर अनेक प्रकार के अत्याचार भी करते रहे। ईश्वर के नाम पर नाच रंग किये गये। ईश्वर के नाम पर बालहत्या, मनुष्यहत्या, गो हत्या और अनेक प्रकार की अन्य हत्यायें की गईं। ईश्वर के नाम पर लोगों को जीवित जला दिया गया। इन्होंने अपना मन माना और हाथ से गढ़ा हुआ ईश्वर अपने सम्मुख रक्खा और उस शक्ति को जो अपने नियमों द्वारा संसार पर शासन कर रही है सर्वथा भुला दिया। सायंसवेत्ता नास्तिक लोगों

ने यद्यपि अध्यात्मविभाग में कुछ उन्नति नहीं की और ईश्वर के नाम का तिरस्कार किया परन्तु उसके भौतिक नियमों को अवश्य आदर की दृष्टि से देखते रहे। परिणाम यह हुआ कि आस्तिक न दीन के रहे न दुनिया के, परन्तु नास्तिक थोड़े बहुत दुनिया में सफल होते रहे।

हानि नास्तिकों को भी बहुत हुई। क्योंकि वह एक ऐसी महती सत्ता के सन्निकर्ष से वंचित रहे जो उनको वास्तविक शान्ति दे सकती थी। परन्तु यह शान्ति उन आस्तिकों को भी प्राप्त नहीं हो सकती जो नाम के तो आस्तिक हैं परन्तु ईश्वर के विषय में प्रत्यक्षादि प्रमाणों को छोड़कर मनमानी कल्पनायें कर लेते हैं।

हमने अब तक केवल एक बात सिद्ध की है। वह यह कि सृष्टि हमको एक ऐसी सत्ता का पता देती है जो बुद्धि तथा इच्छा-शक्ति वाली है।

अब हम यह दिखाने का यत्न करेंगे कि इसी सृष्टि से हमको यह भी प्रतीत होता है कि यह सत्ता एक है अनेक नहीं अर्थात् यदि हम इस सत्ता का नाम ईश्वर रक्खें तो ईश्वर एक है अनेक नहीं। इसमें सन्देह नहीं कि इस महती सत्ता के अतिरिक्त हमको अनेक छोटी छोटी सत्तायें भी दिखाई पड़ती हैं। जैसे मनुष्य तथा अन्य प्राणी। यह अपने अपने विभागों में अलग अलग काम करते हैं। जैसे मैं एक सत्ता हूं जो अपने शरीर को चलाता हूं। मेरा हाथ लिखता है। मेरा मुंह बोलता है। मेरी आंख देखती है। मैं बहुत सी वस्तुओं को तोड़ मरोड़ कर मन मानी बना लेता हूं। इसी प्रकार मुझ जैसे करोड़ों मनुष्य हैं जो मुझ से कुछ कम या कुछ अधिक कार्य्य कर रहे

हैं। फिर इनके अतिरिक्त अरबों पशु पक्षी तथा कीट पतंग हैं, जो मेरे बराबर ही काम नहीं करते परन्तु अपनी अपनी सत्तायें अलग २ भली भांति दिखाते हैं। इस प्रकार असंख्यों छोटी छोटी सत्तायें हमको मिलती हैं। परन्तु इन सत्ताओं और उस सत्ता में भेद है जिसको हम समस्त सृष्टि में शासन करता हुआ पाते हैं। यह छोटी छोटी सत्तायें विशेष नियमों के भीतर ही अपना प्रभाव जमा सकती हैं। वस्तुतः इन सत्ताओं को उन नियमों का पालन करना पड़ता है। वह नियमों की शासक नहीं किन्तु अनुचर हैं। जैसे यदि मनुष्य चाहे कि मैं घर बनाऊं तो उसे उन नियमों को जानने की आवश्यकता है जो घर बनाने में साधक होंगे। यदि थोड़ी सी भी चूक हुई तो घर न बन सकेगा। इन छोटी सत्ताओं या चेतन वस्तुओं और जड़ वस्तुओं में केवल इतना भेद है कि जड़ वस्तुएं बिना ज्ञान के सृष्टि के नियमों का पालन करती हैं। वह सृष्टि के वर्त्तमान नियमों में से यह चुन नहीं सकतीं कि मैं इसका पालन करूं और उसका न करूं। परन्तु चेतन सत्ताएं कई नियमों में से अपने लिये कुछ नियम चुन लेती हैं और उन्हीं के अनुसार काम करती हैं। जैसे मैं यह जानता हूं कि खेती के नियम पालने से मैं खेत में गेहूं पैदा कर सकूंगा और यान बनाने के नियम पालने से यान बना सकूंगा। इसलिये मैं इन दोनों में से अपने मन माने नियम चुन लेता हूं। चाहे खेती करूं चाहे यान बनाऊं। परन्तु जड़ लकड़ी अपने लिये नियमों का निर्वाचन नहीं कर सकती। उसका चुनाव नियम स्वयं करते हैं।

परन्तु जो सत्ता इन नियमों का संचालन करती है वह

एक बड़ी सत्ता है जिसका प्रभाव सृष्टि में व्यापक है। अब देखना चाहिये कि यह सत्ता एक है या कई हैं? जब हम सृष्टि के नियमों का विचार कर रहे थे उस समय यह दिखलाया गया था कि संसार की वैयक्तिक घटनायें वस्तुतः एक दूसरे से अलग नहीं हैं किन्तु किसी नियम द्वारा सम्बद्ध हैं। उदाहरण के लिये यदि 'क' नामक गेहूं एक खेत में बोया जाता है और उसको 'ख' नामक परिस्थिति में रक्खा जाता है तो उसमें गेहूं उत्पन्न हो जाते हैं। इसी प्रकार एक दूर देश में 'ग' नामक गेहूं भी उसी 'ख' नामक परिस्थिति में बोया जाता है तो उसमें भी गेहूं उत्पन्न होते हैं। इससे पता चलता है कि 'क' और 'ग' गेहूं के दोनों दाने किसी विशेष नियम 'घ' में बंधे हैं। याद रखना चाहिये कि यह 'घ' नियम न तो 'क' दाने के आश्रित हैं न 'ग' के। यदि यह 'क' के आश्रित होता, और 'ग' के भी आश्रित होता तो दो नियम होते क्योंकि 'क' और 'ग' में से कोई एक भी दूसरे के आश्रित नहीं, किन्तु देश और काल द्वारा एक दूसरे से पृथक हैं। यदि कहो कि दो नियम अलग अलग मानने में क्या हानि है तो यह भी ठीक नहीं क्योंकि व्यक्ति और नियम में क्या भेद रहेगा। 'क' एक व्यक्ति है वह स्वयं 'नियम' का तदात्मक नहीं हो सकता, न 'ग' हो सकता है। नियम तभी कहलायेगा जब उसके अन्तर्गत कई घटनायें हों। इसलिये गेहूं से दूसरा वृक्ष उत्पन्न होने का नियम न तो 'क' के आश्रित है न 'ग' के किन्तु 'क' और 'ग' उलटे उस नियम के आश्रित हैं अब देखना चाहिये कि इस नियम की स्थिति कहां है? नियम अपने व्यक्तियों से

भिन्न तो कहीं रह नहीं सकता और व्यक्तियाँ देश और काल की अपेक्षा से एक दूसरे से इतनी पृथक् हैं कि यह नियम उनमें माला के दानों में सूत्र के समान ओत प्रोत भी नहीं हो सकता। अतः नियम की स्थिति केवल उस बुद्धि के भीतर हो सकती है जो व्यक्तियों को उस नियम के आश्रय रहने के लिये बाधित करती है। यह बात एक और उदाहरण से स्पष्ट हो जायगी। कल्पना कीजिये कि 'अ' नामक मनुष्य लन्दन में एक विशेष अपराध करता है और उसे 'स' नामक दण्ड मिलता है। कलकत्ते में भी एक दूसरा 'ब' नामक मनुष्य जिसका 'अ' से कोई सम्बन्ध नहीं है वही अपराध करता है और उसे भी 'स' नामक दण्ड दिया जाता है। तो यह एक नियम हो गया। इस नियम की स्थिति न तो 'अ' मनुष्य में है न 'ब' में। यह नियम उस सत्ता या मस्तिष्क या मस्तिष्कों के एक समूह में है जिसको 'राज्य' कहते हैं और जिसके आधीन 'कलकत्ता' और 'लन्दन' दोनों हैं।

अब जिस प्रकार कई व्यक्तियां एक नियम के आश्रय हैं इसी प्रकार नियम स्वयं एक प्रकार की व्यक्तियां बन कर बड़े नियमों के आधीन हैं और यह नियम अन्य बड़े नियमों के। इस प्रकार समस्त सृष्टि अन्त को एक नियम के आधीन है जिसको वेद में 'ऋत' के नाम से पुकारा गया है। यह 'ऋत' एक है। कई नहीं। इस 'ऋत' के आधीन समस्त सृष्टि है। छोटे छोटे नियम एक एक शास्त्र या सायंस अलग अलग बनाते हैं। जैसे वनस्पति शास्त्र के नियम, ज्योतिष शास्त्र के नियम, रसायन शास्त्र के नियम इत्यादि इत्यादि। परन्तु जिस प्रकार गणित शास्त्र के अन्तर्गत कई छोटे छोटे शास्त्र हैं

जिनको अंकगणित, बीज गणित, रेखा गणित त्रिकोणमिति आदि नामों से पुकारते हैं उसी प्रकार यह बड़े बड़े शास्त्र भी उस 'ऋत' के आधीन हैं और यह 'ऋत' उस अपार बुद्धि में निवास करता है जिसको आस्तिक लोग 'ईश्वर' कहते हैं। वेद के एक मंत्र में लिखा है।

ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत ।

(ऋग्वेद)

'ऋत' और 'सत्य' 'अभीद्ध' तथा 'तपस' से उत्पन्न हुये। हम ऊपर बता चुके कि 'ऋत' का क्या अर्थ है। 'ऋत' वह विशाल नियम है जो समस्त सृष्टि पर शासन कर रहा है। 'सत्य' वह शक्ति है जो उस नियम के आधीन रहने के लिये संसार की प्रत्येक वस्तु तथा घटना को बाधित करती है। जिस प्रकार सांसारिक दरबारों में न्यायाधीश निश्चय करता है कि अमुक मनुष्य को यह दण्ड दिया जाय और पुलिस उसको दण्ड देती है इसी प्रकार 'ऋत' को रखने वाली 'बुद्धि' का नाम 'अभीद्ध' है और 'सत्य' को रखने वाली 'शक्ति' का नाम 'तपस' है। यह बुद्धि तथा शक्ति सांसारिक न्यायाधीश तथा पुलिस के समान अलग अलग नहीं हैं किन्तु उस एक सत्ता के दो गुण हैं जिसको हम ईश्वर कहते हैं। इस प्रकार 'ईश्वर' एक ठहरता है। अनेक नहीं। ईश्वर की 'एकता' पर हम यथास्थान और यथाप्रसंग आगे अधिक प्रकाश डालेंगे।

इस समय एक और प्रश्न है? क्या ईश्वर सर्वव्यापक है? जे. एस. मिल (J. S. Mill) महोदय ने अपने 'धर्म सम्बन्धी तीन लेखों' (Three Essays on Religion) में इस

प्रश्न की मीमांसा की है। प्रश्न वस्तुतः गूढ़ और विचारणीय है। घड़ी का बनाने वाला घड़ी में व्यापक नहीं होता। जिस पुस्तक को मैं लिख रहा हूं उसमें मैं व्यापक नहीं हूं। पुस्तक पाठकों के हाथ में होगी और मैं कई कोसों दूर बैठा हूंगा। इंजन का बनाने वाला इंजन में कहां व्यापक होता है? न कुम्हार ही घड़े में रहता है। परन्तु क्या घड़ा, घड़ी, पुस्तक तथा इंजन अपना अपना काम नहीं करते? यदि अल्प कुम्हार का बनाया घड़ा उसकी व्यापकता के बिना कई साल काम दे सकता है तो वह ईश्वर जिस की शक्ति तथा ज्ञान अपार बताया जाता है सृष्टि के भीतर व्यापक रहने के लिये क्यों बाधित किया जाय। बहुत से वेदान्ती लोग इसी लिये ईश्वर को निमित्त कारण न मानकर उपादान कारण मानते हैं। श्री शंकरा चार्य्य जी ने

तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः ॥ वेदान्त २।१।१४

का भाष्य करते हुये छान्दोग्य उपनिषद् का यह वाक्य उद्धृत किया है:—

यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्याद् वाचारम्भणं विकारो नाम धेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्।

अर्थात् जिस प्रकार घड़े आदि में मिट्टी व्यापक रहती है इसी प्रकार ईश्वर भी समस्त सृष्टि का कारण है। इस बात पर हम अलग विचार करेंगे। यहां केवल इतना दिखाना है कि न केवल 'मिल' आदि पाश्चात्य दार्शनिक ही कहते हैं कि यदि ईश्वर है तो उसके व्यापक होने की आवश्यकता नहीं, किन्तु बहुत से धर्मों के मानने वाले भी इसी उलझन में हैं।

वेदान्तियों ने ईश्वर की सर्वव्यापकता का निषेध नहीं किया किन्तु उसके निमित्त कारण होने से इनकार कर दिया। यह भी एक प्रकार से सच्ची आस्तिकता की जड़ में कुल्हाड़ा ही मारना है। परन्तु जो मत मतान्तर ईश्वर को सातवें या चौथे आसमान या 'क्षीर सागर' आदि में मानते हैं उनकी विचित्र गति है। वह एक ओर तो यह भी कहते हैं कि ईश्वर हाज़िर नाज़िर अर्थात् सर्व व्यापक है और दूसरी ओर स्थान विशेष में भी मानते हैं। यदि उनसे पूछा जाता है कि तुम परस्पर विरुद्ध बातें कैसे मान सकते हो, चाहे सर्व व्यापक मानो चाहे एक देशी, तो वह इसकी व्याख्या बड़ी विलक्षण रीति से करते हैं और अपने सिद्धान्तों की संगति मिलाने के लिये बहुत सी ऐसी युक्तियों से काम लेते हैं जिनमें वाक छल अधिक होता है। कुछ का तो यह मत है कि जिस प्रकार सूर्य्य एक विशेष स्थान पर है परन्तु उसका प्रकाश समस्त भूमण्डल पर जाता है उसी भांति ईश्वर विशेष स्थान पर है परन्तु उसका प्रकाश समस्त सृष्टि में उपस्थित है इस प्रकार ईश्वर स्वतः तो व्यापक नहीं है किन्तु प्रकाश रूप से व्यापक है। वह चौथे या सातवें आसमान पर तो है, परन्तु देख सभी चीज़ों को सकता है। कुछ कहते हैं कि जिस प्रकार पंचम जार्ज लन्दन में बैठे हुये समस्त भारतवर्ष पर शासन करते हैं इस प्रकार ईश्वर एक स्थान पर रहता हुआ भी अपनी शक्ति द्वारा समस्त सृष्टि में व्यापक है।

सब से पहले हम इस बात की मीमाँसा करते हैं कि निमित्त कारण कार्य्य में व्यापक होता है या नहीं। इतनी बात

तो शायद सभी को माननीय है कि जहां कर्त्ता नहीं वहां वह कोई क्रिया भी नहीं कर सकता। मेरा उसी वस्तु पर वश और अधिकार है जो मेरे हाथ में है। जहाँ मेरी पहुंच नहीं, वहाँ मेरे द्वारा कोई क्रिया भी नहीं हो सकती। कभी कभी ऐसा होता है कि एक क्रिया में कई छोटी छोटी क्रियायें सम्मिलित होती हैं। उनमें से एक क्रिया एक पुरुष करता है और शेष अन्य पुरुष। परन्तु कथन मात्र के लिये नाम एक का ही होता है। यह केवल कहने को शैली है। वास्तविक बात नहीं। जैसे कहते हैं कि ताजमहल का निर्माता शाहजहाँ था। ताजमहल का निर्माण एक क्रिया नहीं है किन्तु सहस्रों या लाखों छोटी छोटी क्रियाओं का एक समूह है। इच्छा शाहजहां ने की। रुपया देने के लिये आज्ञा शाहजहाँ ने दी। नक्शा शायद एक या अनेक विश्वकर्माओं ने बनाया होगा। ईंट या पत्थर अन्य कर्त्ताओं ने सम्पादन किये होंगे। इस प्रकार यद्यपि शाहजहां का नाम है तथापि लाखों मनुष्यों ने क्रियायें कीं और तब ताजमहल बना। इन क्रियाओं में से जो क्रिया शाहजहां ने की उस क्रिया के समय और देश में शाहजहाँ उपस्थित था। जो अन्योंने की उसके साथ वे अन्य उपस्थित थे। यदि उनमें से एक की भी उपस्थिति न होती तो वह क्रिया न होती और ताजमहल के निर्माण में बाधा हो जाती। यही नहीं। कुछ क्रियाएं ऐसी हैं जिनका हमने विचार भी नहीं किया। जैसे शाहजहाँ ने ताजमहल बनाते समय केवल उन्हीं क्रियाओं के लिये कर्त्ता ढूंढने का यत्न किया जो विना मनुष्यों के नहीं हो सकती थीं। सैकड़ों ऐसी क्रियायें

भी थीं कि जो विना मनुष्य की सहायता के हो रही थीं। उनका भी ताजमहल के निर्माण में उतना ही सहयोग था जितना अन्य क्रियाओं का। यदि वह क्रियायें न होती तो उतने ही मनुष्य लगाकर भी ताज न बन सकता। जैसे समय पर सूर्य्य का निकलना, वर्षा का होना, पृथ्वी का समस्त वस्तुओं को अपनी ओर आकर्षित करना आदि। इस प्रकार ताजमहल के निर्माण में न केवल शाहजहाँ या उसके हज़ार दो हज़ार या दस हज़ार मनुष्यों का ही हाथ है परन्तु उन शक्तियों का भी जिनके सहारे पर इन मनुष्यों की क्रियायें ठहर सकती हैं। जितने अंश के कर्त्ता यह मनुष्य हैं उतने अंश में यह अपनी क्रियाओं में व्यापक थे। जितने अंश के कर्त्ता यह न थे किन्तु अन्य अदृष्ट शक्तियाँ थीं उतने अंश में इन मनुष्यों के व्यापक होने की आवश्यकता भी न थी।

अब घड़ी को लीजिये। घड़ी निर्माण ताजमहल के समान एक क्रिया नहीं है किन्तु असंख्यों क्रियाओं का समूह है। जिसको घड़ीसाज़ कहते हैं वह वस्तुतः अन्त की क्रिया का कर्त्ता है अर्थात् पुर्ज़ों का एक विशेष रीति से जोड़ देना। यह वह उसी स्थान पर कर सकता है जहाँ वह उपस्थित हो। इस अन्तिम क्रिया से पहले सैकड़ों अन्य क्रियायें हो गईं जिनके न होने की दशा में घड़ीसाज़ कुछ नहीं कर सकता था। इनमें से कुछ क्रियाओं के कर्त्ता तो मनुष्य थे और कुछ अमानुषी क्रियायें थीं। जैसे खान से लोहा खोदना, उसको लाना, उसको गलाना, साफ़ करना, उसके भिन्न २ प्रकार के पुर्ज़े बनाना, एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने के लिये साधनों का सम्पादन करना. इन सब में करोड़ों मनुष्यों का

हाथ लगा। और यह सब अपनी अपनी क्रिया करते समय उस क्रिया में व्यापक थे। परन्तु इसके अतिरिक्त सहस्रों अमानुषी क्रियायें भी थीं। जैसे एक लोहार ने एक पेच बनाया। बनाने का केवल यही अर्थ है कि लोहे को एक रूप से दूसरे रूप में कर दिया। परन्तु लोहे के परमाणु क्यों आपस में एक विशेष समय पर्यन्त संयुक्त रहे? इसमें उस लोहार का हाथ न था। लोहार ने उस पुर्ज़े के बनाने के लिये लोहे को क्यों चुना? लकड़ी को क्यों नहीं चुना? इसलिये कि वह जानता था कि लोहे के परमाणु अमुक समय तक परस्पर संयुक्त रह सकेंगे और लकड़ी के नहीं। इसमें उसका कुछ वश नहीं। वह परमाणुओं के संयोग केलिये उत्तरदाता नहीं वह परमाणुओं को न मिलाता है न उनके मेल को स्थित रखता है। वह केवल उस परिस्थिति से लाभ उठा लेता है। इस प्रकार यह कहना कि घड़ीसाज़ घड़ी में व्यापक न होते हुये भी उसे चला रहा है ठीक नहीं है। जितनी क्रिया का उत्तर दायित्व घड़ीसाज़ के सिर पर है उतनी क्रिया में वह अवश्य व्यापक था। घड़ी के उस रूप में चलने में जो नियम काम कर रहा है उसको घड़ीसाज़ ने नहीं बनाया। वह नियम स्वयं स्थित था और उसका संचालन भी एक अदृष्ट शक्ति के आधीन था। यदि घड़ीसाज़ को निर्माण के पश्चात् भी चलने का उत्तरदाता माना जाय तो घड़ी के टूट जाने की अवस्था में किसको उत्तरदाता माना जायगा घड़ीसाज़ केवल उसी सीमा तक उत्तरदाता है जहाँ तक ऐसी वस्तुओं या पुर्ज़ों के चुनाव का सम्बन्ध है जो अधिक या न्यून समय तक चलने वाले हैं। जैसे कल्पना कीजिये कि दो वस्तुएं हैं

एक 'अ' और दूसरी 'ब'। 'अ' 'ब' से निर्बल है। घड़ीसाज़ अपने पुर्ज़े के लिये 'ब' को चुने या 'अ' को। यह उस का उत्तरदायित्व है। परन्तु 'ब' क्यों 'अ' की अपेक्षा कम चलता है इसका घड़ीसाज से कोई सम्बन्ध नहीं है। यदि वह शक्ति जो 'अ' के परमाणुओं को एक विशेष समय तक जोड़े रखती है अपना काम छोड़ दे तो घड़ीसाज़ का उस पर कुछ भी स्वत्व या वश नहीं होगा।

इस प्रकार जब हम कहते हैं कि निमित्त कारण के कार्य्य में व्यापक होने की आवश्यकता नहीं तो हम कार्य्य के केवल एक अंग पर ही दृष्टि डालते हैं। सम्पूर्ण कार्य्य हमारी दृष्टि में नहीं होता। इस बात को एक और दृष्टान्त से स्पष्ट करते हैं। कल्पना कीजिये कि आप मेरी हथेली पर रेत के कणों से 'अ' अक्षर बना दें और कहें कि तुम इसको अमुक पुरुष को दिखा आओ। तो आप केवल 'अ' बनाने के कर्त्ता होंगे। हथेली पर उस अक्षर को उसी रूप में स्थित रखना मेरा काम होगा। आप का नहीं। आप उसके निमित्त कारण न होंगे। मैं ही उसका निमित्त हूंगा। मुझे अधिकार होगा कि मैं उसे बीच में ही बिगाड़ दूं। हाँ आप मुझ पर विश्वास कर सकते हैं कि हम ने ऐसे आदमी को चुना है जो उसे बिगाड़ने का नहीं। इसी प्रकार घड़ी के पुर्ज़ों को एकत्रित या संगठित करने के लिये तो घड़ीसाज़ निमित्त है परन्तु उन पुरज़ों के घड़ी साज़ की आज्ञा के अनुकूल चलने के लिये घड़ीसाज़ निमित्त नहीं है। उसका निमित्त अदृष्ट शक्ति है। इसलिये जब हम संसार में मनुष्य की बनाई हुई वस्तुओं पर दृष्टि डालते हैं तो उन वस्तुओं में केवल मनुष्य

हो निमित्त कारण नहीं होता किन्तु अदृष्ट शक्ति भी निमित्त कारण होती है। मनुष्य केवल एक अङ्ग का निमित्त होता है। इसलिये यह सिद्ध है कि निमित्त कारण क्रिया के साथ रहता है अलग नहीं। वस्तुतः क्रिया उसी समय तक होती है जब तक कि निमित्त कारण उपस्थित है।

जब यह सिद्ध हो गया तो सृष्टि के ऊपर विचार करने से ईश्वर की सर्वव्यापकता स्वतः ही सिद्ध हो जाती है। क्योंकि सृष्टि केवल पहाड़ बनाने या नदी बहाने या सूर्य्य को उदय या अस्त करने का ही नाम नहीं है। दो परमाणुओं के परस्पर मिलने, मिले रहने या विशेष रीति से पृथक् होने का कार्य्य भी सृष्टि के ही अन्तर्गत है। यह असंख्यों क्रियायें प्रत्येक क्षण में प्रत्येक स्थान पर हुआ करती हैं। इनमें से बहुत सी तो अत्यन्त सूक्ष्म और बहुत सी अत्यन्त स्थूल हैं। सूर्य्य का निकलना स्थूल क्रिया है। परन्तु सूर्य्य की किरण में सात रंगों का मिलना और मिला रहना या भिन्न २ परिस्थितियों में उनका अलग अलग होना यह अति सूक्ष्म क्रियायें हैं। इसलिये इन क्रियाओं के आरम्भ, स्थिति, तथा अन्त के लिये ऐसी सत्ता की आवश्यकता है जो सूक्ष्म से सूक्ष्म और स्थूल से स्थूल हो। इसलिये वस्तुतः घड़ी या इंजन का दृष्टान्त भी यही सिद्ध करता है कि ईश्वर सूक्ष्म से सूक्ष्म और सर्वव्यापक है। यदि घड़ीसाज़ के समान ईश्वर सृष्टि रूपी घड़ी से अलग होता तो उसको अन्य ऐसी सत्ताओं का आश्रय लेना पड़ता जो सृष्टि को हर समय चलाया करतीं, जैसे सम्राट् जार्ज को अपने नौकरों

की सहायता लेनी पड़ती है। सम्राट् का अपने नौकरों के मस्तिष्कों पर कुछ भी वश नहीं है। इसी प्रकार ईश्वर का भी उन सत्ताओं पर वश न होता और वह उसकी सृष्टि को उलट पुलट कर डालते जैसा बहुधा सम्राट् के चाकर कर देते हैं और जिसके लिये सम्राट् को दण्ड देना पड़ता है। सम्राट् के साम्राज्य में सैकड़ों बातें ऐसी हो सकती हैं जो सम्राट् की इच्छा के विरुद्ध होती हैं क्योंकि सम्राट् प्रजा के घट के भीतर व्यापक नहीं होता।

सृष्टि के अवलोकन से इतनी बातों का पता चलता है—

(१) सृष्टि नियमानुकूल है।

(२) नियमों से अपार बुद्धि का परिचय होता है।

(३) नियम अटल हैं।

(४) यह नियम सूक्ष्म से सूक्ष्म वस्तु पर भी शासन करते हैं। और कोई वस्तु इनका उल्लङ्घन नहीं कर सकती।

इस लिये सिद्ध है कि ईश्वर

(१) नियन्ता है।

(२) ज्ञानवान अर्थात् सर्वज्ञ है।

(३) एक रस है।

(४) सूक्ष्म से सूक्ष्म और सर्वशक्तिमान है।

पहली तीन बातों को तो सभी आस्तिक मानते हैं परन्तु चौथी बात में बहुत मतभेद है। यह मतभेद दूसरे रूप में उपस्थित किया जाता है। यों तो कोई आस्तिक इस बात का निषेध नहीं करता कि ईश्वर सूक्ष्म और सर्वशक्तिमान है। परन्तु इसके साथ साथ ही बहुत से लोग मानते हैं कि ईश्वर साकार है या साकार हो सकता है। निराकार

वादियों और साकार वादियों का पुराना झगड़ा है और इस झगड़े के ऊपर ही अन्य बहुत से मतभेदों की नींव रक्खी गई है। मैं समझता हूं कि यदि यह झगड़ा सुलझ जाय तो संसार के बहुत से आस्तिक परस्पर मिल जायं और बहुत से नास्तिक नास्तिकता छोड़कर आस्तिक बन जायं। परन्तु भिन्न २ मस्तिष्क भिन्न भिन्न रीति से सोचते हैं।

देखना चाहिये कि साकार का क्या अर्थ है? आकार या आकृति का सम्बन्ध हमारी इन्द्रियों से है। साकार वस्तु को आंख से देख सकते, और हाथ से छू सकते हैं। जो ऐसी वस्तु नहीं है उसे निराकार कहते हैं। सृष्टि में दोनों प्रकार की वस्तुयें उपस्थित हैं। शतपथ ब्राह्मण (१४।५।३।१) में लिखा है।

द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्त्तं चैवामूर्तंच

अर्थात् सृष्टि के दो रूप हैं एक साकार और एक निराकार। पानी जब भाप होकर उड़ जाता है तो निराकार हो जाता है क्योंकि दृष्टि में नहीं आता। परन्तु जब भाप जमकर बादल बन जाती है तो साकार हो जाती है। वायु निराकार है क्योंकि उसे देख नहीं सकते। आकाश निराकार है। अब प्रश्न यह होता है कि ईश्वर निराकार है या साकार। साकार वस्तु अवश्य स्थूल होगी। सृष्टि में जितनी स्थूल वस्तुयें हैं वह सूक्ष्म वस्तुओं में व्यापक नहीं हैं। इसलिये या तो ईश्वर को सर्वव्यापक न माना जाय या उसे साकार न माना जाय। साकार और सर्वव्यापक दोनों होना असम्भव है। यदि सर्वव्यापक नहीं मानते तो कर्त्ता भी नहीं मान सकते। यदि कर्त्ता नहीं मानते तो ईश्वर ईश्वर ही नहीं

रहता और आस्तिकता की भित्ति धम से गिरकर चकना चूर हो जाती है। इसलिये आस्तिकों का ईश्वर को साकार मानना स्वयं अपने मत का खण्डन करना और नास्तिकों के सामने अपनी हंसी कराना है। यदि ईश्वर साकार होता तो अवश्य दीखता। दूसरे वह सूक्ष्म वस्तुओं में व्यापक न होता। तीसरी बात यह है कि नियम स्वयं सूक्ष्म है। सूक्ष्मों पर स्वत्व प्राप्त करने के लिये अवश्य अति सूक्ष्म अर्थात् निराकार सत्ता होनी चाहिये।

कुछ लोग समझते हैं कि निराकार वस्तुयें शक्ति वाली नहीं हो सकतीं, इसलिये सर्व-शक्तिमान होने के लिये ईश्वर को साकार भी होना चाहिये। ऐसे विचार यद्यपि दार्शनिकों के नहीं है परन्तु फिर भी व्यावहारिक रीति से बुद्धिमान से बुद्धिमान पुरुष भी कभी कभी इनको मानने लगते हैं। लोग पूछा करते हैं कि क्यों जी यदि ईश्वर के हाथ नहीं तो कैसे बनाता होगा, आंख नहीं तो कैसे देखता होगा इत्यादि। परन्तु उनको मालूम नहीं कि साकार वस्तु निराकार की अपेक्षा बहुत निर्बल होती है। निराकार वस्तु का साकार पर शासन होता है साकार का निराकार पर कभी शासन नहीं होता। मेरी शक्ति निराकार है वह साकार हाथ को जिधर चाहती है चलाये फिरती है। कभी मैं हाथ से लिखता हूं। कभी खाना खाने के लिये मुँह तक ले जाता हूं। कभी सिर खुजलाता हूं। परन्तु यह शक्ति हाथ में व्यापक होते हुये भी हाथ से अलग है। जब यह शक्ति निकल जाती है तो हाथ अपने साकारत्व तथा स्थूलत्व के होते हुये भी कुछ कार्य्य नहीं कर सकता। शेर या हाथी

मनुष्य से बहुत स्थूल होता है परन्तु उसमें वह सूक्ष्म बुद्धि नहीं होती जिसके कारण आदमी सैकड़ों शेरों और हाथियों को क़ैद करके अपने वश में रखता है। यह बुद्धि न तो स्थूल मांस का नाम है, न रुधिर का; न नस नाड़ियों का। यह एक सूक्ष्म वस्तु है जो इन सब में व्यापक है। विद्युत्तार के तार स्थूल हैं परन्तु विद्युत्शक्ति परम सूक्ष्म है जो उन तारों को हिलाये फिरती है। लोहे में चुम्बक शक्ति का प्रवेश कर देने से लोहा शक्ति सम्पन्न हो जाता है चुम्बक शक्ति सूक्ष्म होती है परन्तु लोहा स्थूल होता है। अतः स्थूल वस्तुओं को शक्ति सम्पन्न समझना और सूक्ष्मों को शक्ति-रहित, बड़ी भारी भूल है। **यदि ईश्वर सर्वशक्तिमान और सर्वव्यापक है तो उसको अवश्य ही निराकार होना चाहिये।**

कुछ लोग समझते हैं कि जैसे भाप निराकार है परन्तु बादल के रूप में साकार भी हो सकती है, इसी प्रकार यदि ईश्वर को आरम्भ में निराकार और फिर साकार भी मान लिया जाय तो हानि क्या होगी? जब ईश्वर अन्य वस्तुओंको निराकार से साकार बना सकता है तो स्वयं अपने को साकार क्यों नहीं बना सकता?

ऐसा कहने वाले लोग यथार्थ सोचना नहीं चाहते। जब भाप बादल बनती है तो क्या होता है? भाप वस्तुतः एक वस्तु नहीं है किन्तु छोटे २ परमाणुओं का एक समूह है। यह परमाणु जब बिखरे रहते हैं तो दिखाई नहीं पड़ते इसी लिये हम कहते हैं कि भाप सूक्ष्म है। परन्तु जब यह परमाणु पर-

स्पर मिल कर संगठित हो जाते हैं तो उनमें स्थूलता आजाती है और बादल दिखाई पड़ने लगते हैं इन परमाणुओं के भिन्न २ परिमाण में संयुक्त होने के कारण ही पानी की भाप, धुंआं, बादल, ओला, बर्फ़ आदि भिन्न २ आकृतियां हो जाती हैं। लोहे के स्थूल गोले को भी हम इतने छोटे छोटे टुकड़ों में बखेर सकते हैं जो आंख से दिखाई न पड़ें। और फिर उनको मिलाकर स्थूल बना सकते हैं।

इसलिये एक बात और मालूम हुई। अर्थात् संसार में जितनी स्थूल या साकार वस्तुयें हैं वह सब अनेक परमाणुओं के परस्पर मिलने से बनी हैं। ईश्वर यदि एक है और एक रस है तो निराकार से साकार कभी नहीं हो सकता। भाप का परमाणु भाप को स्थूल नहीं बना सकता उसके लिये अनेक परमाणु चाहिये इसी प्रकार एक ईश्वर साकार नहीं हो सकता, जब तक कई ईश्वर मिल न जावें। दूसरी बात यह है कि स्थूल वस्तु व्यापक नहीं रहती। जिस प्रकार भाप से इंजन चला सकते हैं उसी प्रकार बर्फ या ओले से नहीं चला सकते। इसलिये ईश्वर न साकार है न हो सकता है।

स्थूल वस्तुयें एक देशी भी होती हैं उनके दोनों ओर से किनारे होते हैं। कुछ निराकार वस्तुयें भी एक देशी हो सकती हैं परन्तु कोई स्थूल या साकार वस्तु सर्वदेशी नहीं हो सकती। इसलिये ईश्वर को साकार मानना वस्तुतः ईश्वर की सत्ता का निषेध करना है।

अब सर्वशक्तिमान शब्द को लेते हैं। ऊपर कहा जा चुका है कि ईश्वर वह सत्ता है जो सृष्टि की समस्त वस्तुओं को नियमों द्वारा अपने शासन में रखती है। किसी वस्तु पर

शासन करने के लिये उससे प्रबल होना आवश्यक है। ईश्वर न केवल सृष्टि की जड़ वस्तुओं को ही अपने वश में रखता है किन्तु सजीव वस्तुओं, को भी। यहाँ तक कि मनुष्य भी जो समस्त प्राणियों की अपेक्षा अपने को बलवान समझता है इसी शक्ति की उंगली पर नाचता है। हम "मनुष्य अल्प है" नामक अध्याय में दिखा चुके हैं कि मनुष्य बलवान होते हुए भी बल-हीन है और उससे कहीं अधिक शक्ति उसको अपने वश में किये हुये हैं। जो ईश्वर सृष्टि के सभी पदार्थों से अधिक बल-वान और उन पर शासक है उसके "सर्वशक्तिमान" होने में सन्देह ही क्या है? हम पिछले कई अध्यायों में दिखा चुके हैं कि सृष्टि का प्रत्येक नियम एक शक्ति के आधीन है। एक प्रकार से तो हम कह सकते हैं कि यह भिन्न २ शक्तियाँ हैं। और इस प्रकार वह सत्ता जो इन शक्तियों को रखती है "सर्वशक्ति सम्पन्न" अर्थात् सब शक्तियों वाली कहलायेगी। परन्तु यदि विचार पूर्वक देखाजाय तो यह सभी शक्तियां वस्तुतः एक ही शक्ति के भिन्न २ रूप हैं जो ईश्वर में रहती है। इसी लिये कभी ईश्वर को शक्ति नाम से भी पुकारते हैं। बस्तुतः ईश्वर शक्ति नहीं किन्तु "शक्तिमान्" है इस लिये सर्व शक्तिमान् के दो अर्थ हो सकते है :-

(१) सर्वा शक्तयो अस्य सन्तीति सर्व शक्तिमान्। अर्थात् जिस में सब शक्तियाँ रहती हों।

(२) जो सब शक्तिमान पदार्थों से अधिक हो।

संसार में चींटी या उससे छोटे कीट पतङ्गों से लेकर सिंह हस्ती तथ मनुष्य तक सभी प्राणी शक्ति-वाले

हैं। मैं ईंट उठा सकता हूं। जड़ वस्तुओं को मिला या पृथक कर सकता हूं। चींटी दानों को अपने बिल में ले जा सकती है। पतंगे उड़ सकते हैं। यह सब कुछ न कुछ शक्तियाँ रखने के कारण शक्तिमान् कहलाये जा सकते हैं। परन्तु सहस्रों वस्तुयें हैं जिनको मैं वश में नहीं कर सकता। इसी प्रकार अन्य प्राणी भी कुछ कर सकते हैं और कुछ नहीं कर सकते। इस लिये शक्तिमान होते हुये भी यह अल्प हैं। ईश्वर इन प्राणियों को भी अपने वश में रखता है। जिस हाथ से एक समय में मैं लेखनी उठा सकता हूं। दूसरे समय में उसी हाथ में कुछ विघ्न हो जाने से लेखनी नहीं उठा सकता। जो पक्षी एक दशा में अपने पंखों के सहारे उड़ सकता है दूसरी अवस्था में नहीं उड़ सकता। इस लिये सब शक्तिमानों मे श्रेष्ठ होने अर्थात् सर्वशक्तिमानों पर शासन करने के कारण ईश्वर सर्वशक्तिमान् है। जो दो अर्थ हमने ऊपर दिये हैं उनके तात्पर्यों में बहुत भेद नहीं है। विचार के दो रूप हैं जिनका अन्तिम आशय एक ही है।

यहाँ प्रश्न यह होता है कि जिन शक्तियों से सम्पन्न ईश्वर को माना जाता है वह शक्तियाँ कौन कौन सी हैं क्या वह अनन्त हैं या उनकी कोई संख्या भी है। क्या "सर्व" शब्द शक्तियों को संख्या की अपेक्षा 'सान्त' बना देता है या यह अनन्त वाची शब्द है। हम सृष्टि के नियमों की व्याख्या करते हुये बता चुके हैं कि सृष्टि में एक नियम नहीं हैं किन्तु असंख्यों नियम हैं। प्रत्येक नियम असंख्यों घटनाओं पर शासन करता है। फिर सृष्टि अनन्त है। भूत, भविष्य तथा वर्तमान तीनों कालों पर विचार किया जाय तो घटनाओं का कोई अन्त विचार

में नहीं आता। इसलिये अनन्त नियमों को यदि अनन्त शक्तियाँ मान लिया जाय तो जिन शक्तियों से ईश्वर को सम्पन्न माना जाता है वह अनन्त ही हुईं। और इन शक्तियों का रूप यह हुआ कि नियमों के अनुसार घटनाओं तथा पदार्थों को वश में रखना। किसी वस्तु पर शासन करने का अर्थ ही यह है कि उसको ऊपर उठा सकना, नीचे गिरा सकना, इधर उधर फेंक सकना, दो वस्तुओं को परस्पर मिला सकना, और उन को पृथक २ कर सकना। इस प्रकार जितने परमाणु सृष्टि में हैं चाहे सूक्ष्म रूप में हों चाहे स्थूल में ईश्वर उनको ऊपर उठा सकता, नीचे गिरा सकता, और मिला, और पृथक कर सकता है इस लिये वह सर्वशक्तिमान है। कोई पदार्थ ऐसा नहीं जो ईश्वर के इस प्रकार के शासन के बाहर हो।

सर्वशक्तिमान् शब्द के विषय में आस्तिकों में बहुत भेद है। लोग प्रायः यह समझते हैं कि यदि ईश्वर को सर्वशक्तिमान् माना जाय तो यह भी मानना पड़ेगा कि ईश्वर "सब कुछ" कर सकता है। परन्तु जो ऐसा कहते हैं वह "सब कुछ" के अर्थों पर विचार नहीं करते। "सब कुछ" क्या? यही सृष्टि के पदार्थों का उठाना, गिराना, मिलाना या पृथक करना। इसके अतिरिक्त "सब कुछ" का और कोई अर्थ नहीं लिया जा सकता। यदि यह अर्थ माना जाय तो यह ठीक ही है कि ईश्वर सब कुछ कर सकता है। अर्थात् सृष्टि का कोई परमाणु या जीव ऐसा नहीं जिसको वह संयुक्त या वियुक्त न कर सके। इसके अतिरिक्त "सब कुछ" का और क्या अर्थ है? यदि किसी राजा के लिये कहा जाय कि उसका अपनी समस्त प्रजा पर पूर्ण अधिकार है तो इसका

यही अर्थ होगा कि वह उस प्रजा को जिस प्रकार चाहे रख सकता है। इसी प्रकार यदि कहा जाय कि ईश्वर सर्वशक्तिमान है तो उसका यही अर्थ होगा कि सब परमाणु और प्राणी उसके वश में हैं।

परन्तु बहुत से लोग "सब कुछ कर सकते" का यह अर्थ नहीं लेते। यह बात उन्हीं के सिद्धान्तों से पाई जाती है। जैसे कोई कहता है कि ईश्वर अवतार ले सकता है। कोई कहता है "ईश्वर शून्य से वस्तुयें उत्पन्न कर सकता है"। कोई कहता है कि ईश्वर की इच्छा के बिना पत्ता भी नहीं हिल सकता। कोई कहता है कि यदि मनुष्य झूठ भी बोलते हैं तो ईश्वर ही उनको बुलवाता है क्योंकि ईश्वर सर्वशक्तिमान है। इस प्रकार ईश्वर को "सर्वशक्तिमत्ता" एक बाज़ीगर की झोली समझी जाती है जिसमें से बुरी भली सभी वस्तुयें निकल सकती हैं। उदाहरण के लिये "ईसा बिना पिता के कैसे उत्पन्न हो गया"? ईश्वर की शक्ति मत्ता से। मुहम्मद ने चांद के दो टुकड़े कैसे कर दिये? ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता से। श्रीकृष्ण ने गोवर्धन पर्वत को अपनी उंगली पर कैसे उठा लिया? ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता से? ईश्वर ने नृसिंह का रूप कैसे धारण किया? अपनी सर्वशक्तिमत्ता से? वस्तुतः ईश्वर की इस प्रकार की सर्वशक्तिमत्ता से ईश्वर को विहीन कर दिया जाय तो बीसियों ऐसे मज़हब या धर्म हैं जिनका तिरोभाव हो जाय। अनेकों प्रकार की पूजायें हैं जो संसार से उड़ जायं और लाखों पुजारी ऐसे हैं जिनकी जीविका नष्ट हो जाय। इसलिये इतने मतमतान्तरों को स्थित रखने और

इतने पुजारियों का पेट भरने के लिये आवश्यक प्रतीत होता है कि ईश्वर की इस प्रकार की सर्वशक्तिमत्ता की पुष्टि ही की जाय, चाहे ऐसा करने से सत्य का गला ही क्यों न घुटता हो। जिस प्रकार अनियमित तथा उच्छृङ्खल पुरुषों को शक्तिशाली कहने का प्रचार है इसी प्रकार ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता से भी यही तात्पर्य्य समझा जाता है कि कोई काम ऐसा नहीं जिसको वह न कर सकता हो या जिस को उसने न किया हो। लोग समझते हैं कि यदि ईश्वर नियमों के आधीन हुआ तो वह सर्वशक्तिमान या स्वतंत्र न रहेगा। वह यह नहीं जानते कि नियमों के अनुकूल चलना ही स्वतंत्रता है। जो नियमों के आधीन नहीं होता वह अनियमता का दास होगा। ऐसी सत्ता की तो सम्भावना ही नहीं हो सकती जो न नियमों के आधीन हो, न अनियमता के आधीन हो। अनियमता का आधीन होना बल-हीनता का चिह्न है। शक्ति का चिह्न नहीं। अनियमित होने का अर्थ ही यह है कि नियमों के अनुकूल कार्य्य करने की शक्ति नहीं। नियमानुकूल कार्य्य करने के लिये शक्ति चाहिये। नियमों के उल्लङ्घन करने से निर्बलता और अज्ञानता दोनों की सूचना मिलती है। संसार में बहुत से मनुष्य हैं जो नित्य प्रति किसी न किसी नियम का उल्लङ्घन किया करते हैं। क्यों? इस लिये कि कुछ तो इतने अज्ञानी हैं कि उनको यही नहीं मालूम कि किन नियमों का पालन करना उनका कर्त्तव्य है। कुछ को यह तो ज्ञान है कि हमारा यह कर्त्तव्य है परन्तु फिर भी उसका पालन नहीं कर सकते। सैकड़ों यह ज़ानते हुये भी कि असत्य बोलना बुरा है असत्य बोलते हैं, चोरी करना

बुरा है, चोरी करते हैं, शराब पीना हानिकारक है, शराब पीते हैं। बहुत से तो ऐसे भी हैं जो प्रतिदिन नियमानुकूल चलने की प्रतिज्ञा करते हैं और प्रति दिन उसका उल्लङ्घन करके पश्चाताप करते हैं। कितने ऐसे हैं जिनको हमने यह कहते सुना है "क्या करें। हमारी निर्बलतायें हमको नियमों का पालन नहीं करने देतीं"। वस्तुतः! नियम बनाना "ज्ञान" का काम है और उनकी अक्षरशः पालन करना "शक्ति" का। जिसमें "ज्ञान" है शक्ति नहीं वह नियमों को तो बनायेगा परन्तु उनका पालन नहीं कर सकेगा। जिसको ज्ञान नहीं, शक्ति है वह ऐसे नियमों को ही न बना सकेगा जो अधिक समय तक उपयोगी प्रामाणित हो सकें। जिस में न ज्ञान है न "शक्ति" उसका तो कुछ कहना ही नहीं।

हम कई बार इस बात पर बल दे चुके हैं कि ईश्वर के अस्तित्व का प्रमाण भी यही है कि सृष्टि में हम अटल नियमों का अवलोकन करते हैं। यदि यह नियम अटल न हों तो उनको नियम ही न कह सकेंगे और न केवल सायंस--वेत्ताओं को ही अपनी समस्त-सायंस-सम्पत्ति भाड़ में झोंकनी पड़ेगी किन्तु सद् पुरुषों का समस्त व्यवहार बन्द हो जायगा। यदि गेहूं बोने से कभी चना भी उत्पन्न हो जाया करे तो कौन मूर्ख है जो गेंहूं बोने का परिश्रम उठावे। यदि जिस राजा के राज में कोई ज्ञात या विज्ञात नियम नहीं हैं उस के राज्य को अराजकता तो कह सकते हैं, कभी उसको शक्तिशाली नहीं कह सकते। इसी प्रकार यदि ईश्वर अपनी सर्वशक्तिमत्ता, स्वतंत्रता अथवा उच्चता

दिखाने के लिये कभी कभी अपने नियमों का उल्लङ्घन भी कर सकता है तो उसका दो में से एक कारण अवश्य होगा। या तो उसने नियम बनाते समय यह न सोचा होगा कि अमुक नियम आगे चल कर लाभ के स्थान में हानि पहुंचायेगा, जैसे ईसाई धर्म ग्रन्थ बाइबिल में लिखा है कि जब सृष्टि में पाप बढ़ गया तो ईश्वर को खेद हुआ कि मैं ने ऐसी सृष्टि ही क्यों बनाई जिसमें इस प्रकार के पाप बढ़ जायं? इस दशा में ईश्वर के अज्ञान की सूचना मिलेगी। या नियमों का पालन करते करते थक गया और अब उसको परिवर्त्तन करने की आवश्यकता पड़ी। यदि ऐसा मान लिया जाय कि नियमों का उल्लङ्घन ईश्वर के अधिकार में है तो कभी ऐसे ईश्वर की सिद्धि नहीं हो सकती।

स्वामी दयानन्द ने ईश्वर के सब कुछ कर सकने के विरुद्ध दो प्रश्न किये हैं :—

(१) क्या ईश्वर अपने को नष्ट कर सकता है?

(२) क्या ईश्वर अपने बराबर दूसरा ईश्वर बना सकता है?

चाहे किसी धर्म का मानने वाला क्यों न हो वह यही कहेगा कि यह दोनों काम ईश्वर की शक्ति से बाहर हैं फिर भी ईश्वर सर्वशक्तिमान् है। जो सत्ता समस्त संसार में व्यापक है वह अपने को नष्ट कैसे कर सकती है? किसी वस्तु का एक स्थान से दूसरे स्थान में चला जाना तो संभव है परन्तु उसका "शून्य" हो जाना संभव नहीं। ईश्वर सर्वव्यापक होने से कहां जायेगा और कहां आयेगा?

उसके लिये 'आना' और 'जाना' दोनों ही असम्भव और अचिन्तनीय हैं। जो "है" वह "न है" कैसे होगा? रही अपने समान दूसरा ईश्वर बनाने वाली बात। सो भी अचिन्तनीय ही है। क्योंकि कल्पना कीजिये कि उसने एक ऐसा ही ईश्वर बना दिया जो उसी के समान शक्तिवाला है तो भी इस बने हुये ईश्वर और उस बनाने वाले ईश्वर में इतने भेद अवश्य रहेंगे :—

(१) यह ईश्वर बना हुआ होगा और पुराना ईश्वर बिना बना हुआ।

(२) इस ईश्वर की आयु आज से आरम्भ होगी और पुराना ईश्वर अनादि होगा।

यह दो भेद ऐसे हैं जिनसे छुटकारा हो हीं नहीं सकता इस लिये यह कहना कि "ईश्वर अपने समान एक और ईश्वर बना सकता है" बड़ी भारी मूर्खता है। यदि ऐसा होता तो आज तक उसने एक दो ईश्वर अवश्य बनाये होते।

एक ईसाई विद्वान ने स्वामी दयानन्द के इन दो प्रश्नों के साथ साथ एक और प्रश्न किया है जो सर्वथा सुसंगत है। कई सौ वर्ष पहले ईसाई जगत् में इसी प्रकार का प्रश्न उठा था। इस पर उस विद्वान् (Ansselm) ने कहा "क्या ईश्वर एक वेश्या को कुमारिका (Virgin) कर सकता है"? कुमारिका वह है जो आज तक ब्रह्मचारिणी हो। इसलिये वेश्या का किसी अवस्था में भी कुमारिका होना अचिन्तनीय है। इसके अतिरिक्त बहुत सी ऐसी बातें बताई जा सकती हैं जिनका करना ईश्वर की शक्ति के बाहर है। क्यों? केवल इसलिये कि वह ईश्वर है। ईश्वर वही काम कर सकता है जो ईश्वर को करना

चाहिये। जो काम ईश्वर को नहीं करना चाहिये उसे वह कैसे कर सकता है?

यहाँ एक प्रश्न हो सकता है? क्या ईश्वर एक त्रिकोण को वृत्त बना सकता है? यदि नहीं तो क्यों? क्योंकि उसके आधीन सृष्टि के सभी परमाणु हैं। इसका उत्तर यह है कि यह माना कि ईश्वर के आधीन सृष्टि के सभी परमाणु हैं। परन्तु यदि उसने उनको त्रिकोण के रूप में रक्खा तो त्रिकोण बनेगा। यदि वृत्त के रूप में तो वृत्त। त्रिकोण के रूप में रखते हुये वृत्त कभी नहीं बन सकता। ईश्वर ऐसा त्रिकोण नहीं बना सकता जिसके सब कोण मिलकर दो समकोण से बड़े या छोटे हों क्योंकि जो त्रिकोण बनेगा उसके कोणों का योग अवश्य ही दो समकोणों के बराबर सिद्ध होगा। और जिस क्षेत्र के तीनों कोण दो समकोणों से बड़े या छोटे हैं वह कभी त्रिकोण हो ही नहीं सकता।

कुछ लोगों ने एक नई युक्ति निकाली है। जब उनसे पूछा जाता है कि क्या ईश्वर चोरी भी कर सकता है या दूसरा ईश्वर भी बना सकता है तो वह कह देते हैं कि "हाँ चोरी कर सकता है परन्तु करता नहीं।" उसमें प्रत्येक काम करने की शक्ति तो है परन्तु वह करता वही है जो उचित होता है, जो अनुचित होता है उसको नहीं करता।

यह उत्तर वस्तुतः उनकी सहायता नहीं करता। हाँ कुछ देर के लिये उनका जी बहलाव हो जाता है। क्योंकि यदि कुछ काम ऐसे हैं जिनको ईश्वर ने न कभी किया न अब करता है न आगे कभी करेगा तो उनका किसी प्रकार से ईश्वर के साथ सम्बन्ध जोड़ना ही व्यर्थ है। वस्तुतः यदि खोज की जाय कि

"ईश्वर सब कुछ कर सकता है" यह प्रश्न क्यों उठा, और कब उठा, तो विदित होगा कि कुछ धर्मावलम्बी आस्तिक यह सिद्ध करना चाहते थे कि "ईश्वर ने अमुक कार्य्य किया"। उसी की सिद्धि के लिये उन्होंने साधन यह दिया कि "ईश्वर सब कुछ कर सकता है।" इसलिये "वह अमुक कार्य्य भी कर सकता है।" यदि साधन का रूप "ईश्वर सब कुछ कर सकता है" से बदलकर "ईश्वर ने उचित काम ही किया है, उचित ही करता है उचित ही करेगा कभी अनुचित नहीं किया न करता है न करेगा।" ऐसा कर दिया जाय तो जो लोग ईश्वर की सर्व शक्तिमत्ता से अपने हर एक साध्य की सिद्धि करना चाहते हैं वह अपने परिश्रम में सर्वदा विफल रहेंगे। फिर प्रश्न यह नहीं होगा कि "ईश्वर सब कुछ कर सकता है" इस लिये "ईश्वर ने यह काम भी किया"। इसके विरुद्ध प्रश्न यह होगा कि ईश्वर को ऐसा करना उचित था या नहीं। जो लोग यह कहते हैं कि "शक्ति तो है पर करता नहीं" वह भी अन्त को एक ही आशय पर पहुंचते हैं। हम भी कह सकते हैं कि ईश्वर सर्वशक्तिमान है "सर्व क्रियामान" नहीं है। यदि ईश्वर "सर्व क्रिया मान" होता तो सब कुछ कर सकता था। वस्तुतः अनुचित कार्य्य का करना ईश्वर को ईश्वरत्व से वंचित कर देता है। किसी भले आदमी से पूछो कि क्या तुम अमुक पाप कर सकते हो? तो वह कहेगा "नहीं। मुझमें सामर्थ्य ही नहीं"। इसी प्रकार ईश्वर में चोरी आदि करने का सामर्थ्य ही नहीं। किसी काम के करने के लिये केवल शारीरिक शक्ति की ही आवश्यकता नहीं होती। शक्तियाँ अभौतिक और पारलौकिक

भी होती हैं। इस लिये जब हम किसी कार्य्य का ईश्वर से सम्बन्ध जोड़ना चाहते हैं तो उस की सभी बातों पर विचार करना पड़ेगा। नहीं तो विचार अधूरा रह जायगा।

सातवां अध्याय

ईश्वर के गुण (२)

पाप और दुःख की विकट समस्या

श्वर को सर्व-नियन्ता और सर्वशक्तिमान समझ लेने के पश्चात ही उसकी कल्याण-कारिता पर ध्यान जाता है। नियम और कल्याण का एक घनिष्ठ सम्बन्ध है। नियम कल्याण के लिये ही बनाये जाते हैं। यदि कल्याण का विचार न हो तो किसी नियम की आवश्यकता नहीं है। संसार के कड़े से कड़े नियमों के भीतर भी कुछ न कुछ और किसी न किसी का कल्याण छिपा होता है। अनियमता ही कल्याण की शत्रु है। हम ऊपर कई बार इस बात पर बल दे चुके हैं कि सृष्टि में संगठन तथा प्रयोजन दोनों हैं। इन्हीं के द्वारा हम ने यह भी सिद्ध किया था कि ईश्वर बड़ा बुद्धिमान है। बुद्धिमान और शक्तिमान दोनों के लिये संस्कृत में एक शब्द चेतन आता है। चेतन वह है जिसमें ज्ञान और प्रयत्न अर्थात् बुद्धि और शक्ति दोनों हों। इसलिये आस्तिक लोग ईश्वर को चेतन स्वरूप कहा करते हैं। परन्तु ज्ञान युक्त प्रयत्न का कारण हो यह है कि किसी

विशेष प्रयोजन की सिद्धि हो। प्रयोजन कल्याण रूप ही हो सकता है। यदि कल्याण का भाव संसार में न हो तो समस्त जीव प्रयोजन रहित हो जायं। प्रयोजन न होने से शक्ति तथा नियम दोनों का आविर्भाव नहीं हो सकता। अतः यह सिद्ध है कि ईश्वर कल्याणकारी है। कल्याणकारी का ही दूसरा नाम भला, सत् अथवा दयालु या न्यायकारी है। यह सब गुण भलाई से ही सम्बन्ध रखते हैं। वस्तुतः भाव एक ही है। अवस्थाओं के भेद से शब्द भिन्न २ हो गये हैं। इनकी व्याख्या आगे की जायगी।

सृष्टि के नियमों से भलाई का इतना प्रबल प्रमाण मिलता है कि बहुत से विचारशील पुरुष इसी को ईश्वर के अस्तित्व का प्रमाण मानते हैं। ऋषि दयानन्द ने सत्यार्थ प्रकाश में लिखा है :—

"जब आत्मा मन इन्द्रियों को किसी विषय में लगाता वा चोरी आदि बुरी वा परोपकार आदि अच्छी बात के करने का जिस क्षण में आरम्भ करता है उस समय, जीव की इच्छा ज्ञानादि उसी इच्छित विषय पर झुक जाता है। उसी क्षण में आत्मा के भीतर से बुरे काम करने में भय, शङ्का, और लज्जा तथा अच्छे कामों के करने में अभय, निःशङ्कता और आनन्दोत्साह उठता है वह जीवात्मा की ओर से नहीं किन्तु परमात्मा की

ओर से है। और जब जीवात्मा शुद्ध होकर परमात्मा का विचार करने में तत्पर रहता है उसको उसी समय दोनों प्रत्यक्ष होते हैं" (सप्तम समुल्लास)

यहां ईश्वर सिद्धि का प्रकरण था। अतः ज्ञात होता है कि स्वामी दयानन्द ईश्वर के अस्तित्व का एक प्रमाण यह भी समझते थे कि मनुष्य के अन्तःकरण में उचित और अनुचित में भेद करने की एक शक्ति है जो ईश्वर प्रदत्त है। अंगरेज़ी में इसी को कांन्शेन्स (conscience) के नाम से पुकारते हैं।

"The moral law which reveals itself to conscience has seemed to certain authors so decisive a witness for God, that all other witnesses may be dispensed with. Kant, who exerted his great logical ability to prove that the speculative reason in searching after God inevitably loses itself in sophisms and self contradictions, believed himself to have found in the practical reason or moral faculty an assurance for the Divine existence and Government capable of defying the utmost efforts of scepticism. Sir William Hamilton has also affirmed that the only valid arguments for the immortality of the human soul, rest on the ground of man's moral nature.' Dr. John Newman has insisted that

conscience is the creative principal of religion, and endeavoured to show how the whole doctrine of natural religion should be worked out from this central principle. A well-known living theologian of Germany, Dr. Schenkel, has attempted to build up a complete theology on conscience as a basis, starting from the position that conscience is "the religious organ of the soul—the faculty through which alone we have an immediate knowledge of God." (Flint's Theism pp. 210-11).

"कुछ ग्रन्थकारों ने सदाचार सम्बन्धी नियम को जो मनुष्य के अन्तःकरण (conscience) द्वारा ज्ञात हो सकता है ईश्वर-अस्तित्व का सब से बड़ा प्रमाण माना है। उनकी दृष्टि में अन्य प्रमाणों की आवश्यकता ही नहीं रहती। जिस काण्ट (Kant) ने अपनी तर्क बुद्धि से यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया था कि जितना मनुष्य अपनी तर्कशक्ति का ईश्वर विषय में प्रयोग करता जाय उतना ही वह भूल भुलइयों में फंसता जायगा, उसी काण्ट को यह भी मानना पड़ा कि व्यावहारिक बुद्धि और अन्तःकरण द्वारा ईश्वर की ऐसी साक्षी मिलती है कि सन्देहवाद के लिये कोई स्थान नहीं रहता। सर विलियम हैमिल्टन ने भी यही माना है कि ईश्वर अस्तित्व तथा जीव के अमर होने का यही उत्तम प्रमाण है कि मनुष्य में आचार सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त करने की योग्यता है। डाक्टर जौन न्यू मैन अन्तःकरण को धर्म का मूलाधार

बताते हैं। उनका आग्रह है कि प्राकृतिक धर्म के सिद्धान्तों को इसी मुख्य नियम के आधार पर निश्चित करना चाहिये। जर्मनी के जीवित आस्तिकवादी डाक्टर शैंकिल ने अपने समस्त आस्तिकवाद की आधार शिला अन्तःकरण पर ही रक्खी है। उनका आरम्भिक सिद्धान्त यह है कि अन्तःकरण आत्मा की धर्म सम्बन्धी इन्द्रिय है। और उसी से हम ईश्वर का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं (फ्लिएट का आस्तिकवाद पृ० २१०-११)

"There is probably no living practical belief in God which does not begin with the conscience. It is not reasoning on a first cause, nor even admiration of the wisdom displayed in the universe, which makes the thought of God habitually and efficaciously present to the mind. It is not any kind of thinking nor any kind of feeling executed by the physical universe or by the contemplation of society, which gives us an abiding and operative sense of God's presence, and of his relationship to us. It is only in and through an awakened and active conscience that we realise our nearness to God—His interest in us and our interest in him. Without a moral nature of our own, we could not recognise the moral character and moral Government manifested by Him. We might tremble before His power, or

we might admire His skill, but his rightiousness would be hidden from us. His moral laws would be meaningless to us and their sanctions would be merely a series of physical advantages or physical disasters. But a God without rightiousness is no true God and the worship which has no moral element in it is no true worship. And then, it is only through the glass of conscience that the rightiousness of God can be discerned and as that attribute alone can call forth, in adition to the fear, wonder and admiration evoked by power and intelligence, the love, the sense of spiritual weakness and want, and the adoring reverence, which are indispensable in true worship—such worship as God ought to receive and man ought to render—the significance of the moral principle in the theistic argumentation is vast indeed."

(Flint's Theism pp. 211,-12,-13).

"शायद ईश्वर का कोई व्यावहारिक विश्वास ऐसा नहीं जिसका अन्तःकरण से आरम्भ नहीं होता। न कार्य्य कारणवाद न सृष्टि द्वारा सूचित बुद्धिमत्ता की प्रशंसा ही मनुष्य के हृदय में ईश्वर के ध्यान को हरदम बनाये रहने के लिये पर्य्याप्त है। प्राकृतिक जगत् या मनुष्य समाज की किसी घटना के विचार से मनुष्य के हृदय में ईश्वर के प्रत्यक्ष तथा उसके अपने साथ सम्बन्धों का इतना ध्यान नहीं

रह सकता। केवल उत्तेजित तथा विकसित अन्तःकरण द्वारा ही हम इस बात का प्रत्यक्ष कर सकते हैं कि हम ईश्वर के समीप हैं। वह हम से सम्बन्ध रखता है और हम उससे सम्बन्ध रखते हैं। यदि हम में सदाचार सम्बन्धी ज्ञान न होता तो हम कभी न जान सकते कि ईश्वर का स्वभाव तथा साम्राज्य भला है या बुरा। यह सम्भव था कि हम उसकी शक्ति के सामने कांप जाते या उसकी बुद्धिमत्ता की प्रशंसा करने लगते। परन्तु उसकी भलाई हम से छिपी रहती, उसके सदाचार सम्बन्धी नियमों को समझ ही न सकते और उसकी इच्छा हमारे लिये प्राकृतिक हानि लाभ से अधिक कुछ न होती। परन्तु कल्याण-कारिता-शून्य ईश्वर ईश्वर ही नहीं और न सदाचार शून्य उपासना उपासना है। केवल अन्तःकरण के दर्पण में ही ईश्वर की कल्याणकारिता के दर्शन हो सकते हैं, शक्ति तथा बुद्धिमत्ता आदि गुण हम में डर या औत्सुक्य उत्पन्न कर सकते हैं। परन्तु प्रेम, श्रद्धा तथा भक्ति जो सच्ची उपासना के लिये आवश्यक हैं केवल अन्तःकरण द्वारा ही उत्पन्न हो सकती हैं। वस्तुतः ईश्वर-अस्तित्व-सिद्धि से अन्तःकरण का बहुत गूढ़ सम्बन्ध है। (पिलण्ट का आस्तिकवाद पृ० २११-१२)

यद्यपि ईश्वर के बहुत से गुणों का वर्णन किया जा चुका है तथापि हमारा घनिष्ठ सम्बन्ध ईश्वर से इसलिये है कि वह कल्याणकारी है और यदि हम उसकी उपासना करेंगे तो हमारा कल्याण होगा। वस्तुतः हम ईश्वर के विषय में कभी इतना सोचने के लिये तैय्यार न होते यदि हमारे स्वभाव के भीतर ईश्वर की कल्याण-कारिता का बीज न होता। हम

बहुत सी ऐसी वस्तुओं को देखकर आश्चर्यमय हो सकते हैं जो हमारे लिये दुःखदाई हैं जैसे बिजली का चमकना या ज्वालामुखी पर्वत से ज्वाला का प्रज्वलित होना। परन्तु हमारे हृदय में इनके प्रति कभी प्रेम उत्पन्न नहीं होता न हम इनसे सम्बन्ध ही जोड़ना चाहते हैं। बलवान् शत्रु हमारे हृदय में भय उत्पन्न कर सकता है परन्तु श्रद्धा उत्पन्न नहीं कर सकता। ईश्वर के प्रति मनुष्य समाज आदि सृष्टि से ही इसलिये आकर्षित होता रहा है कि ईश्वर भला है और हमारे साथ भलाई करता है। नास्तिकों का सब से बड़ा साधन जो उन्होंने आस्तिकों को ईश्वर से विमुख करने के लिये रचा वह यह है कि सृष्टि दुःखों से पूर्ण है। यदि ईश्वर दयालु होता तो इस प्रकार की सृष्टि कभी नहीं बनाता। भूकम्प, ज्वालामुखी पर्वत, नदियों की बाढ़, अतिवृष्टि, अनावृष्टि तथा अनेक प्रकार के रोगों के उदाहरण इस बात को दिखाने के लिये दिये जाते हैं कि ईश्वर कुछ नहीं। सृष्टि के नियम मनुष्यों को नष्ट करने के लिये हैं। उनको सुख पहुंचाने के लिये नहीं। इत्यादि इत्यादि। परन्तु इतना होने पर भी इतिहास इस बात का साक्षी है कि जब व्यक्तियों या समाज पर अधिक विपत्ति पड़ती है तो वह ईश्वर की उसी प्रकार शरण लेते हैं जैसे एक दुखी बालक दूसरों से त्रास पाकर मा की गोद के लिये दौड़ता है। यह सब क्यों है? इसीलिये कि मनुष्य के अन्तःकरण में उचित अनुचित पहचानने की शक्ति है और वह अपने लिये कल्याण करने वाली शक्ति की ओर आकर्षित होने के लिये उसे बाधित करता है।

वस्तुतः यदि सृष्टि का कुछ प्रयोजन न होता, या ऐसा

प्रयोजन होता जो हमारे कल्याण के लिये न होता तो उचित और अनुचित में कौन सी भेदक भित्ति होती ? औचित्य और अनौचित्य की कसौटी क्या है ? यह शब्द किस भाव को प्रकट करते हैं ? यदि सृष्टि का बनाने वाला किसी विशेष प्रयोजन के विना सृष्टि बनाता, तो वह सृष्टि न केवल अनियमित ही होती किन्तु उसमें उचित और अनुचित के लिये भी कोई स्थान न होता। क्योंकि उचित का भाव ही यह है कि वह प्रयोजन में साधक हो और अनुचित का अर्थ ही यह है कि वह प्रयोजन का बाधक हो। यदि प्रयोजन के ऊपर दृष्टि न रक्खें तो उचित और अनुचित गधे के सींगों के समान अभाव को प्राप्त हो जाते हैं। यदि उचित और अनुचित संसार में कोई वस्तु नहीं तो उनके जानने के लिये मनुष्य के अन्तःकरण में शक्ति ही क्यों है ? यदि प्रकाश न होता तो आंख की आवश्यकता न थी ? यदि शब्द न होता तो कान क्यों बनाया जाता ? यदि स्पर्श न होता तो त्वक्-इन्द्रिय के बनाने से क्या लाभ था ? हमारी इन्द्रियाँ सिद्ध करती हैं कि उनसे ग्रहण होनेवाले विषय भी अस्तित्व रखते हैं। इसी प्रकार हमारी अन्तःकरण रूपी इन्द्रिय सिद्ध करती है कि उचित और अनुचित भी कोई चीज़ है जिनसे किसी प्रयोजन की सिद्ध होती है और जिस प्रयोजन से ईश्वर के कल्याणकारी होने का प्रमाण मिलता है।

यहां दो बड़े भयानक प्रश्न उपस्थित होते हैं :—प्रथम तो यह कि यदि ईश्वर दयालु और कल्याणकारी है तो दुःख संसार में क्यों होता है ? क्या सम्भव है कि सूर्य्य चमकता रहे और अंधेरा बना ही रहे ? आग जलती रहे और शीत

निवारण न हो ? इस बात का कौन निषेध कर सकता है कि संसार दुःख और पीड़ा का स्थान है ? बड़े से बड़े आस्तिक तक यही कहते हैं कि संसार असार है, संसार दुःखमय है। यदि संसार दुःखमय है और संसार ईश्वर का बनाया हुआ है तो दुःख भी ईश्वर ने ही बनाया होगा। फिर उसको कल्याणकारी कैसे कह सकते हैं ? संसार में सुख है कहाँ ? कोई पुत्र के शोक में रो रहा है कोई विधवा पति के वियोग में चिल्ला रही है, कोई पुत्र अनाथ होकर विलकता फिरता है। यदि संसार के साक्षात् नरक होने की साक्षी देखनी हो तो प्रातःकाल ही अस्पतालों की सैर कर आया करो। कैसी कैसी भयानक बीमारियाँ मनुष्य के शरीर में उत्पन्न हो सकती और हुआ करती हैं। फिर कहीं रोग है, कहीं दरिद्रता है, कहीं कलह है कहीं मित्र-वियोग है। इस पर भी आस्तिक कहते हैं कि ईश्वर कल्याणकारी है तो यह दुःख किसने उत्पन्न कर दिया था ! दुःख की उत्पत्ति किसी और ने की और सुख की किसी और ने ? क्या सचमुच आधी सृष्टि अकल्याणकारी शैतान बनाता है और आधी कल्याणकारी ईश्वर ? क्या ईश्वर इतना निर्बल है कि शैतान ईश्वर की इच्छा के बिना भी दुःख का प्रचार और प्रहार कर ही जाता है और ईश्वर की कुछ बनाये नहीं बनती। क्या जिस प्रकार दुर्बल राजा के राज्य में विद्रोही छापा मारे बिना नहीं रहते इसी प्रकार ईश्वर की प्रजा में शैतान की दाल गल ही जाया करती है ?

दूसरा प्रश्न यह है कि पाप इतना अधिक क्यों है ? क्या आस्तिक लोग स्वयं इस बात की साक्षी नहीं देते कि संसार

में धर्मात्मा कम और अधर्मी अधिक हैं? सच्चे कम और झूठे अधिक हैं? ईमानदार कम और बेईमान अधिक हैं? आस्तिक लोग कहते हैं कि धर्म पर चलना और तलवार की धार पर चलना बराबर है। ऐसा क्यों है? दयालु परमेश्वर ने धर्म पथ को फूलों का मार्ग क्यों नहीं बनाया कि सभी धर्मात्मा हो सकते? क्या ईश्वर को मनुष्यों से ऐसा वैर था कि वह उनको धर्मात्मा होते देख नहीं सकता था? क्या पौराणिक इन्द्रपुरी के इन्द्र के समान ईश्वर को उन लोगों से ईर्ष्या होती है जो धर्म पथ पर चलकर इन्द्रासन ग्रहण करना चाहते हैं? वस्तुतः सोचना चाहिये कि समस्या क्या है? क्या पाप भी दुःख के समान शैतान की कारीगरी है? फिर ईश्वर ने उस शैतान को बनाया क्यों जिसने ईश्वर की समस्त कल्याणकारिता पर पानी फेर दिया? या शैतान भी ईश्वर के समान ही शक्ति-सम्पन्न है जिसके आगे ईश्वर महाशय की कुछ चलती चलाती नहीं?

यह दो बड़े जटिल प्रश्न हैं। नास्तिक तो इनको यह कह कर टाल देते हैं कि ईश्वर कोई चीज़ नहीं। यह सब मूर्ख लोगों के मस्तिष्क की कल्पना है। परन्तु आस्तिक इसको इस प्रकार टाल नहीं सकते। न टालने से कोई लाभ ही है। वस्तुतः नास्तिकों के लिये भी उचित यही है कि वह अपने प्रश्नों पर फिर विचार करें। चाहे नास्तिक हों चाहे आस्तिक, रहना तो उनको भी इसी ईश्वर की सृष्टि में है। केवल नास्तिक बनने से कोई छुटकारा नहीं पा सकता। सृष्टि के नियमों का पालन तो करना ही होगा।

यदि गूढ़ विचार की दृष्टि से देखा जाय तो प्रश्न इतने

जटिल नहीं हैं जितने समझ लिये गये हैं। सब से पहले हम दूसरे प्रश्न को लेते हैं। सृष्टि में पाप क्यों है? और इस पाप के लिये ईश्वर कहां तक उत्तरदाता है? पहले सोचना चाहिये कि पाप किस को कहते हैं। वस्तुतः जो जो काम मनुष्य कर सकता है उनमें से प्रत्येक कभी पाप और कभी पुण्य कहलाये जा सकते हैं। स्वतः कोई काम न पाप ही है न पुण्य। उदाहरण के लिये पाठशाला के परीक्षार्थियों पर ध्यान दीजिये। कल्पना कीजिये कि प्रयाग विश्वविद्यालय की बी. ए. क्लास की परीक्षा होनेवाली है। प्रश्न पत्र रजिष्ट्रार महोदय के पास है। अमुक तिथि को अमुक समय पर वह इन प्रश्न-पत्रों का वितरण परीक्षार्थियों में करेंगे। कल्पना कीजिये कि १० बजे का समय नियत था। रजिष्ट्रार ने एक विद्यार्थी को वह प्रश्न-पत्र आध घण्टा पहले दे दिया। सभी कहेंगे कि रजिष्ट्रार ने पाप किया। परन्तु यदि १० बजने पर भी वह रजिष्ट्रार उस विद्यार्थी को प्रश्न-पत्र नहीं देता तो भी वह पाप का भागी होता है। काम एक ही है अर्थात् स्वीकृत परीक्षार्थी को स्वीकृत प्रश्न-पत्र देना। परन्तु एक अवस्था में प्रश्न-पत्र देना पाप है और न देना कर्त्तव्य पालन अर्थात् पुण्य और दूसरी अवस्था में प्रश्न-पत्र देना पुण्य है और न देना पाप। एक ही काम के लिये दो प्रकार की व्यवस्थायें क्यों?

यह व्यवस्थाओं का भेद केवल पाठशालाओं या विश्व विद्यालयों तक ही परिमित नहीं है। मनुष्य जीवन के समस्त विभागों में उनके प्रमाण और उदाहरण मिलते हैं। मनुष्य जीवन के आरम्भ से लेकर अन्त तक कुछ न कुछ कार्य्य

किया ही करता है उनमें से प्रत्येक कर्म या तो पुण्य होता है या पाप। कोई कर्म ऐसा नहीं है जो न पाप हो न पुण्य। कभी कभी साधारण पापों के लिये नम्र शब्दों का प्रयोग किया गया है अर्थात् किसी पाप को केवल निर्बलता कह कर टाल देते हैं किसी को दोष कह कर, किसी को अपराध और किसी को पाप। परन्तु हैं यह सब पाप के ही भिन्न २ प्रकार। बहुत से ऐसे कर्त्तव्य हैं जिनसे च्युत होने पर मनुष्य समाज ध्यान भी नहीं देता। कुछ ऐसे कर्त्तव्य हैं जिन के न पालन करने पर मनुष्य समाज का ध्यान तो आकर्षित हो जाता है परन्तु वह दण्ड नहीं देता। किसी किसी के लिये समाज की ओर से या राज्य की ओर से दण्ड मिलता है और कोई ऐसी भयानक त्रुटियां हैं जिनका दण्ड राज भी नहीं दे सकता और उसको सीधा संसार भर के राजा ईश्वर के ही समर्पित कर दिया जाता है। परन्तु यह सब काम "पाप" के अन्तर्गत आ जाते हैं। जो बात पाप के विषय में कहीं जाती है वही पुण्य के विषय में भी कही जा सकती है। पुण्य के उसी प्रकार छोटे छोटे भेद हैं जैसे पाप के हैं। और वही काम जो एक समय या एक अवस्था में पाप है दूसरे समय या दूसरी अवस्था में पुण्य।

अब देखना चाहिये कि यदि किसी काम में स्वतः पुण्य या पाप नहीं है तो कौन सी ऐसी चीज़ है जो उसे पुण्य या पाप बनाती है? बात यह है कि कोई काम अपनी स्वतंत्र स्थिति नहीं रखता। उसका किसी नियम के साथ सम्बन्ध होता है जिस प्रकार कामों का भी एक दूसरे के साथ सम्बन्ध है। मेरी नाक या मेरी आंख स्वतः अपने ही लिये नहीं

बनाई गई। उसके कर्त्तव्य शरीर की आवश्यकताओं की अपेक्षा से हैं। यदि शरीर न होता तो आंख भी न होती। यदि शरीर के अन्य अङ्गों से स्वतंत्र स्थिति रखती होती तो वह उस प्रकार की न होती जैसी इस समय है। इसी प्रकार किसी प्रयोजन की सिद्धि के लिये कामों की एक शृङ्खला की आवश्यकता होती है। संसार में जितने प्रकार के नियम हैं उतने प्रकार के प्रयोजन हैं और जितने प्रयोजन हैं उतनी ही काम की शृङ्खलायें हैं? जब एक काम अपनी शृङ्खला के भीतर रहता है तो पुण्य कहलाता है। जब उस शृङ्खला से बाहर हो जाता है तब उसी को पाप कहने लगते हैं। जिस प्रकार लोहे की सांकर होती है और उसमें कड़ियां होती हैं उसी प्रकार यह कामों की शृङ्खला या सांकर होती है और प्रत्येक काम उस सांकर की कड़ी है। उस कड़ी की उपयोगिता इसी में है कि वह सांकर सुदृढ़ रहे और अपना काम कर सके। यदि एक कड़ी बहुत सुन्दर, बहुत चमकीली और बहु मूल्य है परन्तु अपनी सांकर में नहीं रह सकती तो उस कड़ी का होना व्यर्थ है वह उपयोगी नहीं किन्तु अनुपयोगी है। उसको निकाल कर तोड़ देना चाहिये। इसी प्रकार हमारे प्रत्येक काम का हाल है। जो काम हमारे नियम रूपी सांकर की कड़ी बन सकता है वह पुण्य है जो नहीं बन सकता वह पाप है। उदाहरण के लिये एक माता अपने बच्चे को कोई अनुचित या हानिकारक काम करते देखती है। और उससे उसको बचाने के लिये उसके एक थप्पड़ मार देती है तो वह पुण्य करती है।

पाप नहीं करती। यदि वह न मारती तो पाप करती। परन्तु यदि वही स्त्री बिना कारण किसी के एक थप्पड़ लगा देती है तो पुण्य के स्थान में पाप करती है। एक राजा एक घातक को प्राण दण्ड देता है तो वह पुण्य करता है। यदि वह घातक को पारितोषिक देता है तो पाप करता है। इसी प्रकार यदि वह किसी व्यक्ति को बिना कारण के मार देता है तो पाप करता है। यदि अधिकारी की रक्षा करता है तो पुण्य करता है।

एक बात और है जिसका पाप और पुण्य से घनिष्ट सम्बन्ध है। वह है काम करने वाले की स्वतंत्रता। पाणिनि मुनि की अष्टाध्यायी का एक सूत्र है "स्वतंत्रः कर्त्ता"। कर्त्ता वह है जो स्वतंत्र हो। जो स्वतंत्र नहीं वह 'कर्त्ता' नहीं, करण है। करण और कर्त्ता में यही भेद है कि कर्त्ता स्वतंत्र होता है और करण कर्त्ता के हाथ में परतंत्र। मैं हाथ से लिखता हूं। या यों कहिये कि मेरा हाथ लिख रहा है। दोनों प्रकार के प्रयोग देखे जाते हैं। परन्तु हाथ लिखने में स्वतंत्र नहीं है। मैं जब हाथ को आज्ञा देता हूं तब वह लिखता है जब आज्ञा नहीं देता तब रुक जाता है। इसलिये कर्त्ता का कर्त्तव्य इसी में है कि वह स्वतंत्र हो। यदि स्वतंत्रता न हो तो कर्तृत्व के स्थान में करणत्व आ जाता है जैसे फांसी देनेवाला राजा की आज्ञा से किसी को फांसी देता है। तो वह उचित या अनुचित के लिये दोष का भागी नहीं बनता। उसका तो केवल यही कर्त्तव्य है कि राजा की आज्ञा पाते ही फांसी देदे। यदि कोई पुरुष निर्दोष भी हो परन्तु फांसी देने

वाला राजा की आज्ञा पाकर उसे फांसी न दे तो वह दोषी समझा जायगा, क्योंकि फांसी देना या न देना राजा के अधिकार में है। वह केवल राजा का करण या साधन मात्र है। उसका यह कर्त्तव्य नहीं है कि किसी पुरुष के दोषी या अदोषी होने की विवेचना करे। हां एक बात में वह स्वतंत्र है अर्थात् राजा की आज्ञा पालन करे या न करे। यदि करेगा तो अदोष और न करेगा तो दोष। इस प्रकार जहाँ तक फांसी देने वाले की स्वतंत्रता का सम्बन्ध है वहाँ तक उसमें कर्तृत्व है और वहीं तक उसमें पुण्य या पाप है। जहाँ उस को स्वतंत्रता नहीं वहां कर्तृत्व नहीं अतः वहाँ पाप या पुण्य भी नहीं। एक पुरुष किसी अंश में स्वतंत्र होता है और किसी में परतंत्र। जिस अंश में स्वतंत्र है उसी में उसका कर्तृत्व और पाप पुण्य है; जिसमें परतंत्र है उसी में उसका करणत्व है और इसलिये पाप पुण्य का विचार नहीं। कल्पना कीजिये कि राजा के जेलख़ाने में एक क़ैदी है। उसको किसी अपराध में २ वर्ष की सज़ा मिली है। क़ैदी होने की अपेक्षा से वह उन सब कामों के करने में परतंत्र है जो कैदियों से लिये जाते हैं। जैसे दरी बुनना, चक्की पीसना पाख़ाना साफ़ करना इत्यादि इसलिये इन कामों में पुण्य और पाप या दोष और अदोष का भागी नहीं। जेलर ने कहा "आज चक्की पीसनी पड़ेगी"। उसने कहा 'अच्छा'। जेलर ने कहा "नहीं आज दरी बुनना है"। उसने कहा "अच्छा"। इस अंश में क़ैदी कर्त्ता नहीं किन्तु 'करण' है। यदि जेलर ने "दरी बुनने" के स्थान में चक्की पिसवाने का काम लिया तो इसमें दोष जेलर का है क़ैदी का नहीं। इसलिये उसके लिये दण्ड की भी व्यवस्था नहीं।

परन्तु क़ैदी एक बात में स्वतंत्र है अर्थात् चाहे वह जेलर की आज्ञा पाले चाहे न पाले। इसलिये इस स्वतंत्रता के साथ साथ ही उसका 'कर्तृत्व' भी है। यदि आज्ञा पालेगा तो अदोषी और यदि न पालेगा तो दोषी ठहराया जायगा। इस प्रकार सिद्ध हुआ कि यदि एक पुरुष किसी काम के करने या न करने में स्वतंत्र है और वह उस काम को प्रयोजन की सिद्धि के लिये उचित समझता है और नहीं करता तो यह पाप है इसके विपरीत पुण्य।

यहाँ एक प्रश्न उठता है। बहुत से नास्तिक लोग कह बैठते हैं कि तुम मनुष्य समाज के प्रबन्धों के उदाहरणों को ईश्वर पर क्यों घटाते हो? क्या ईश्वर के यहाँ भी पाप पुण्य उसी प्रकार से हैं जैसे मनुष्यों के यहाँ? परन्तु इसका सीधा उत्तर यह है कि जब तुम "पाप पुण्य" का प्रश्न उठाते हो तो तुम भी तो मनुष्य समाज से ही उदाहरण लेते हो। जब तुमने प्रश्न किया कि "संसार में पाप का आधिक्य क्यों है?" तो तुम्हारे पास मनुष्य समाज की घटनाओं से इतर पुण्य पाप की कौन सी कसौटी थी? वस्तुतः पाप पुण्य का जो तात्पर्य्य हमने यहाँ अनेकों उदाहरणों द्वारा दर्शाया है उससे इतर अन्य कोई तात्पर्य्य इन शब्दों का किसी काल, किसी देश, या किसी अवस्था में लिया ही नहीं गया। जब कभी और जहाँ कहीं किसी ने पाप पुण्य शब्दों का प्रयोग किया है वहाँ यही अर्थ किया गया है। इसलिये यदि हम मनुष्य समाज से उदाहरण लेकर तुम्हारे प्रश्न की विवेचना करते हैं तो कोई पाप नहीं करते।

हमने ऊपर 'पाप' 'पुण्य' के जो लक्षण दिये हैं उनसे दो बातों का पता चलता है:—

(१) मनुष्य अपने कामों का प्रयोजन रूपी शृङ्खला में स्थान ढूंढ़ सकता है, अर्थात् उसको इतना ज्ञान है कि यह मालूम कर सके, कि अमुक काम अमुक प्रयोजन की सिद्धि करेगा या नहीं।

(२) मनुष्य को स्वतंत्रता है कि अमुक काम करे या नहीं।

पहली बात के विषय में एक प्रश्न उठ सकता है। उसको इसी स्थान पर स्पष्ट कर देना चाहिये। यदि उसी काम का नाम 'पुण्य' है जो किसी विशेष प्रयोजन की सिद्धि में सहायक हो और उसी का नाम 'पाप' है जो इसमें बाधक हो तो प्रत्येक कर्म के उचित या अनुचित होने का लक्षण उसके परिणाम के आश्रित होगा और धर्म तथा सदाचार सापेक्षिक होगा न कि निरपेक्षिक। और प्रत्येक अधर्मी पुरुष अपने अधर्म को भी इसलिये धर्म समझेगा कि वह उसके प्रयोजन की सिद्धि करता है। अंगरेज़ी की एक कहावत है कि साध्य ही साधन की कसौटी है (End justifies means)। इस लोकोक्ति का संसार में इतना दुरुपयोग होता है कि वह बदनाम हो गई है। यदि सर्वसाधारण को यह ज्ञात हो गया कि पुण्य वही है जो अभीष्ट प्रयोजन की सिद्धि करे तो बड़े से बड़े झूठ, बड़े से बड़े हत्याकाण्ड, बड़े से बड़े अत्याचार 'धर्म' में गिने जाने लगेंगे और मनुष्य समाज पर एक भयानक पशुपन का राज हो जायगा।

इस स्थान पर इस प्रश्न की विस्तारपूर्वक मीमांसा करनी अप्रासांगिक है। परन्तु इतना उत्तर पर्य्याप्त होना चाहिये कि

धर्म अधर्म की व्यवस्था क्षुद्र प्रयोजन के द्वारा नहीं होती। कभी २ असत्य भाषण भी छोटे छोटे प्रयोजनों का साधक और सत्य भाषण वाधक हो जाता है। परन्तु छोटे प्रयोजन बड़े प्रयोजनों का अंश मात्र हैं। यदि कोई काम छोटे प्रयोजनों की सिद्धि करे भी और मुख्य प्रयोजनों में बाधा डाले तो उसे अधर्म कहेंगे। जैसे एक मनुष्य रोग ग्रसित है। उसका अभीष्ट रोग निवृत्ति है। परन्तु उसका मन किसी हानिकारक वस्तु को खाने के लिये भी चल पड़ा। अब 'रोग निवारण' रूपी मुख्य अभीष्ट के अन्तर्गत एक गौण अभीष्ट आ पड़ा परन्तु गौण के लिये मुख्य का हाथ से दे बैठना पाप होगा पुण्य नहीं। पाप पुण्य की व्यवस्था वस्तुतः जीवन के अन्तिम उद्देश्य की अपेक्षा से की जाती है। 'पाप' 'पुण्य' निरपेक्षिक नहीं है। हैं तो यह सापेक्षिक परन्तु अपेक्षा ऐसी वस्तु की है जो सर्वसाधारण के दृष्टि-पथ से बहुत दूर है। वह इसे समझ ही नहीं सकते। इसलिये साधारण मनुष्यों के पथप्रदर्शन के लिये निरपेक्षिक धर्म का ही उपदेश किया जाता है। अन्तिम प्रयोजन को दृष्टि में रखकर धर्म अधर्म का निश्चय करना प्रत्येक मनुष्य का काम नहीं है। अतः यह काम अत्यन्त ज्ञानी और निष्पक्ष पुरुषों को सौंपा गया है जिनको शास्त्रकार 'आप्त' के नाम से पुकारते हैं।—

आप्तोपदेशः शब्दः

आप्त वह हैं जो अन्तिम उद्देश्य पर ही सदा दृष्टि रखते हैं। मैत्रेयी उपनिषद् में कहती है :—

येनाहं नामृतास्यां तेनाहं किंकुर्याम्

जो काम मुझे अन्तिम प्रयोजन की सिद्धि नहीं कराता उसका मैं क्या करूंगी। परन्तु संसार में सभी मैत्रेयी नहीं हैं। अतः उनके लिये तो निरपेक्षिक धर्म का ही उपदेश किया गया है अर्थात्

सत्यवद् धर्मं चर इत्यादि।

परन्तु जब हम संसार में प्रचलित दुःख या पाप की मीमांसा करेंगे तो हमको अवश्य प्रश्न की तह तक पहुंचना होगा। इसीलिये हमने कहा है कि पुण्य वह है जो जीवन के अन्तिम उद्देश्य की पूर्त्ति करता हो यदि कर्त्ता को स्वतंत्रता भी हो। यह दोनों शर्तें आवश्यक हैं, और स्वतंत्रता इन दोनों में परम आवश्यक है।

अब मौलिक प्रश्न की ओर आइये। आक्षेप यह है कि

ईश्वर ने संसार में पाप को क्यों उत्पन्न किया ?

इस प्रश्न का रूपान्तर यह होगा :—

ईश्वर ने मनुष्य को अन्तिम उद्देश्य का ज्ञान और उसके साधन प्राप्त करने या न करने की स्वतंत्रता क्यों दी ?

कल्पना कीजिये कि सृष्टि बनाने से पूर्व हमारे आक्षेप करने वालों से ईश्वर पूछ लेता कि मैं किस प्रकार की सृष्टि बनाऊं जिससे आप सन्तुष्ट रहेंगे ? प्रतीत होता है कि 'स्वतंत्रता' से तो यह अप्रसन्न और असन्तुष्ट हैं। फिर अर्थापत्ति से सिद्ध होता है कि वह परतंत्रता के पक्ष में हैं। क्योंकि

"स्वतंत्रता" और 'परतंत्रता' के मध्य में कोई अन्य मार्ग है ही नहीं। या स्वतंत्रता दी जाय या परतंत्रता।

साधारण लोग तो यही कह उठेंगे कि ईश्वर ऐसी सृष्टि बनाता जिसमें पाप होता ही नहीं, पुण्य ही पुण्य होता। इस का अर्थ यह है कि ईश्वर मनुष्य को न स्वतंत्र छोड़ता और न यह महाशय अपनी स्वतंत्रता का दुरुपयोग करते। परन्तु और विचारपूर्वक देखा जाय तो उस सृष्टि से भी हमारे नास्तिक मित्र सन्तुष्ट न होते। उस समय भी उनको यह आक्षेप करना पड़ता कि ईश्वर कैसा अत्याचारी है कि सृष्टि को जेलखाना बना रक्खा है। हमको न आंख से देखने की स्वतंत्रता है न पैरों से चलने की। जिस प्रकार इक्के का टट्टू आंख बन्द किये नाक की सीध दौड़ता जाता है, उसे नहीं मालूम कि मुझे कहां जाना है और क्यों जाना है उसी प्रकार मनुष्य महाशय भी होते। उस दशा में शायद नास्तिक वर्ग को यह प्रश्न करने की भी स्वतंत्रता न होती कि स्वतंत्रता क्यों नहीं दी गई। उनकी अवस्था उस देशी राज्य के समान होती जहां स्वराज्य प्राप्ति के लिये सोचने या प्रश्न करने की भी आज्ञा नहीं है। जहाँ प्रजा को आँख कान खोलकर चलने का स्वभाव भी नहीं है।

सम्भव है ऐसी दशा कुछ लोगों को प्रिय हो। यदि परतंत्रता सभी को अप्रिय होती तो संसार इसका सहन भी न करता। परन्तु विलास प्रियता और आलस का अभ्यास करते करते मनुष्य परतंत्रता को भी प्रिय समझने लगता है। बहुत से दीर्घकारावास के अभ्यस्त पुरुष कारावास से निकलने पर बड़े दुःखी होते हैं। परन्तु इसमें भी सन्देह नहीं कि मनुष्य

स्वभावत: परतंत्रता-प्रिय नहीं है। यदि वह परतंत्रता को सहन करता है तो किसी निमित्त से। मनुष्य क्या पशु पक्षी भी परतंत्र रहने के लिये तैयार नहीं है।

इसके अतिरिक्त यदि आप गहरे जाय तो एक विलक्षण प्रश्न उपस्थित होगा। यदि मनुष्य परतंत्र हो गया तो उसके जीवन का उद्देश्य ही क्या होगा? और वह किसकी अपेक्षा से होगा? मनुष्य की अपनी अपेक्षा से या ईश्वर की अपेक्षा से? ईश्वर अपने लिये तो इस समय भी कुछ नहीं करता। इससे ईश्वर की कोई प्रयोजन सिद्धि नहीं होती। फिर परतंत्र मनुष्य के प्रयोजन की कसौटी क्या होगी और उसकी सिद्धि किस प्रकार हो सकेगी? यदि प्रयोजन न रहा तो काम किस लिये किये जायंगे? यदि मुझे किसी विशेष स्थान पर जाना नहीं है तो मैं यात्रा का कष्ट क्यों सहन करने लगा? एक और उदाहरण लीजिये। अध्यापक शिष्यों को शिक्षा देता है। वह नित्य परीक्षा लिया करता है। कक्षा में पचास विद्यार्थी हैं। उनको प्रश्न-पत्र दे दिया गया। पचासों को स्वतंत्रता है कि चाहे प्रश्नों के उत्तर लिखें, चाहे न लिखें, चाहे उचित उत्तर दें, चाहे अनुचित, केवल इतना नियम है कि जो उचित उत्तर देगा वह उत्तीर्ण होगा, जो अनुचित वह अनुत्तीर्ण। पचास विद्यार्थी भिन्न २ प्रकार के उत्तर लिखते हैं, कोई ठीक, कोई बेठीक। किसी के उत्तर में कोई त्रुटि नहीं। कोई सैकड़ों चूकें करता है। किसी का उत्तर-पत्र अशुद्धियों से भरा पड़ा है। हमारे नास्तिक महाशय कहते हैं:—कैसा बुरा नियम है, परीक्षार्थियों को उचित उत्तर लिखने या न लिखने की स्वतंत्रता ही क्यों है? अध्यापक

इनको केवल उचित उत्तर ही क्यों नहीं लिखवा देता? जिससे अशुद्धि होने ही न पावे।

मैं पूछता हूं कि क्या यह आक्षेप उचित होगा? क्या परतंत्रता से सम्पादित किये हुये सब के सब शुद्धपत्र विद्यार्थियों के हितकारक होंगे? इसमें सन्देह नहीं कि विद्यार्थी पढ़ने, और सोचने के परिश्रम से बच जायंगे। परन्तु क्या हम उनको विद्यार्थी कह सकेंगे? क्या वह पत्थर के टुकड़े के समान ज्ञान रहित, और क्रिया रहित न होगें। उनमें और उस तिपाई में क्या भेद होगा जिस पर वह बैठे हुये हैं। ज्ञान की तो इसीलिये आवश्यकता पड़ती है कि वह धर्म और अधर्म दो मार्गों में से एक का त्याग और दूसरे का अवलम्बन कर सकें। यदि यह करना ही नहीं तो ज्ञान और क्रिया के अस्तित्व पर ही पानी फिर जाता है। यदि पाठशाला में परीक्षार्थी को स्वतन्त्रता नहीं, यदि अध्यापक उत्तम से उत्तम उत्तर उनको लिखवा देता है तो पाठशाला खोलने, परीक्षायें लेने या उत्तर लिखवाने की ही क्या आवश्यकता है? वस्तुतः यदि हमको स्वतंत्रता न होती, तो भेद भी न होता, न हम को ज्ञान होता, न हमारी काम करने में रुचि ही होती, फिर हमीं क्यों होते और यह सृष्टि ही क्यों होती?

जो लोग यह प्रश्न करते हैं कि ईश्वर मनुष्य को पाप करने की आज्ञा क्यों देता है वह यह नहीं समझते कि ईश्वर न तो हम को पाप करने की आज्ञा देता है न पाप को सहन ही करता है। यदि परीक्षार्थी किसी प्रश्न का अनुचित उत्तर देता है तो इसका यह अर्थ नहीं है कि अध्यापक अनुचित

उत्तर लिखने की आज्ञा देता है अथवा उसका सहन करता है। आज्ञा देना या सहन करना उस समय कहा जाता जब वह अनुचित उत्तर लिखने पर भी परीक्षार्थी को उसी प्रकार उत्तीर्ण कर देता जैसे उचित उत्तर लिखने वाले को करता है। जब वह अपनी वाणी और कर्मों द्वारा पुकार पुकार कर कह रहा है कि जो अनुचित उत्तर देगा वह अनुत्तीर्ण होगा तो अध्यापक पर अनुचित्त उत्तर देने की आज्ञा देने या सहन करने का दोष नहीं लगाया जा सकता।

इसी प्रकार यदि ईश्वर मनुष्य को पाप पुण्य का ज्ञान प्राप्त करने के साधन देता है, यदि वह पाप करने पर दुःख रूपी दण्ड देता है और पुण्य करने पर सुख रूपी पारितोषिक तो ईश्वर को पाप की आज्ञा देने अथवा पाप सहन करने का दोष लगाना अन्याय और तर्कशास्त्र का दुरुपयोग करना है। मनुष्य कर्म करने में स्वतंत्र और फल पाने में परतंत्र है। स्वतंत्रता उसकी उन्नति के लिये आवश्यक है, फल की परतंत्रता यह प्रकट करती है कि ईश्वर उसके पापों का सहन नहीं कर सकता। अतः कर्म करने में स्वतंत्र होना और फल पाने में परतंत्र होना दोनों ही मनुष्य के हित के लिये हैं।

कुछ लोग प्रश्न करते हैं कि ईश्वर ने जीव को सर्व प्रकार से धर्मात्मा ही क्यों न बनाया। न अन्धे को बुलाते न दो आदमी आते। वस्तुतः इस प्रश्न ने बहुत से आस्तिकों को भी चक्कर में डाल दिया है। फ्लिएट महोदय इस पर लिखते हैं—

But if questioned as to why He has not done the latters, I feel no shame in confessing my igno-

rance. It seems to me that when you have resolved the problem of the origin of moral evil into the question, why has God not originated a moral universe in which lowest moral being would be as excellent as the archangels are? You have at once shown it to be speculatively incapable of solution and practically without importance. The question is one which would obviously give rise to another, why has God not created only moral beings as much superior to the archangels as they are superior to the Australian aborigines? and that to still another of the same kind and so on *ad infinitum*?

(Flint's Theism p. 256).

वह कहते हैं कि "यदि तुम यह पूछो कि ईश्वर ने सब धर्मात्मा क्यों नहीं बनाये तो इसका मेरे पास कोई उत्तर नहीं हैं। यह ऐसा प्रश्न है कि इसका उत्तर हो ही नहीं सकता और न इससे कुछ लाभ ही है। यदि तुम कहो कि ईश्वर ने लोगों को फरिश्तों के समान क्यों नहीं बनाया तो तुम यह भी प्रश्न कर सकोगे कि उसने फरिश्तों से भी ऊपर ऐसे उत्तम प्राणी क्यों नहीं बनाये जितने फरिश्ते जंगली आदमियों से उच्च हैं। इस प्रकार अनवस्था दोष आयेगा।"

फिलएट महाशय ने अपनी निर्बलता का यह उत्तर इसलिये दिया है कि वह एक विशेष प्रकार की आस्तिकता

मानते हैं जिसका उनके पास कोई प्रमाण नहीं है। उनका सिद्धान्त है कि ईश्वर ही अनादि है। उसी ने जीव आदि समस्त सृष्टि को बनाया। यदि ऐसा है तो नास्तिकों का यह प्रश्न उचित ही होगा कि ईश्वर को ऐसी सृष्टि बनाने की क्या आवश्यकता थी जिसमें नित्य कलह और पाप का प्रचार रहे। ईश्वर को स्वयं तो किसी बात की कमी न थी और ईश्वर के अतिरिक्त और कोई वस्तु थी नहीं। यदि ईश्वर ने अपना गौरव जताने के लिये सृष्टि बनाई तो गौरव किसको जताता। उसके अतिरिक्त अन्य कोई था ही नहीं। अपनी बनाई हुई वस्तुओं को अपना गौरव जताना हंसी की बात है। ऐसे ईश्वर के अस्तित्व का संसार में कोई प्रमाण ही नहीं मिलता। न हम ने ऐसे ईश्वर की सिद्धि इस पुस्तक में की है। हम ने तो सृष्टि के नियमों द्वारा यह सिद्ध किया है कि परमाणुओं और जीवों को सृष्टि के रूप में परिवर्त्तित करने वाली सत्ता का नाम ईश्वर है। ईश्वर जीवों को बनाता नहीं। वह उनको भलाई के लिये सृष्टि रचता है। वह उनकी उन्नति के लिये साधन उत्पन्न करता है। वह उनके आत्मा में धर्म के लिये प्रेरणा करता है। और सन्मार्ग से बहकने पर सच्चे पिता के समान उनको दुःख रूप दण्ड देता है जिससे वह सचेत हो जायं और दुष्ट मार्ग का परित्याग कर दें। इसमें ईश्वर का अपना कोई अभीष्ट नहीं है। न उसने अपने आनन्द गौरव या अन्य स्वार्थ के लिये सृष्टि बनाई है। जीव और परमाणु ईश्वर के समान ही अनादि हैं परन्तु ईश्वर अधिपति है और यह सब उसके आधीन हैं। परमाणु तो जड़ हैं परन्तु जीव चेतन हैं।

उन्नति या अवनति का प्रश्न न तो ईश्वर के लिये है क्योंकि उसमें कोई अपूर्णता नहीं, और न परमाणुओं के लिये है क्योंकि वह जड़ हैं। यह केवल जीवों के लिये है, जो पुण्य करते हुये उन्नति कर सकते हैं और पाप मार्ग का अवलम्बन करने पर अवनति को प्राप्त करते हैं। इन परमाणुओं द्वारा जीवों के लिये शरीर तथा उनके पालन पोषण आदि के लिये अन्य वस्तुयें बनाना ही ईश्वर का काम है। यही सृष्टि का प्रयोजन है। यही संसार रचना का उद्देश है। जे. एस. मिल. महोदय के एक वाक्य को हम तीसरे अध्याय में उद्धृत कर चुके हैं जिसमें उन्होंने बताया है कि

'There is in nature a permanent element and also a changeable.'

अर्थात् संसार में एक स्थायी तत्व है और दूसरा अस्थायी। जीव, तथा प्रकृति के परमाणु स्थायी हैं परन्तु जीवित शरीर अस्थायी हैं। ईश्वर स्थायी वस्तुओं का बनाने वाला नहीं किन्तु उन पर शासन करने वाला है। न उसने इनको बनाया है न नष्ट कर सकता है। जिसने बनाता है उसको नष्ट भी कर सकता है। इस सिद्धान्त के मानने से यह प्रश्न उठ ही नहीं सकता कि ईश्वर ने सब को धर्मात्मा ही क्यों नहीं उत्पन्न किया। जब जीव उसी के समान अनादि थे तो वह उनकी प्रकृति ही कैसे बदलता? वह तो केवल यही कर सकता था कि उनके लिये ऐसी सृष्टि बनावे जिसके द्वारा वह परम उन्नति को प्राप्त हो सकें। यदि वह इस सामग्री से जिसका एक मात्र देने वाला ईश्वर है और

जो उसने सर्वथा उनकी उन्नति के लिये ही बनाई है, कुछ लाभ नहीं उठा सकते तो इसमें ईश्वर का क्या दोष है ?

वस्तुतः यदि हम विचारपूर्वक देखें तो इस सृष्टि से अधिक उपयोगी भी कोई सृष्टि हो ही नहीं सकती जो जीवों की उन्नति का साधन हो सके। जीव को ज्ञान की आवश्यकता थी। इसलिये उसको पांच ज्ञानेन्द्रियां दी गईं। ज्ञानेन्द्रियों के लिये उन्हीं के अनुकूल विषय दिये गये। सृष्टि में जो कुछ रचा गया है सब हमारे भले के लिये है। यह स्वतंत्रता जिस को लोग पाप का बीज कहते हैं वस्तुतः पुण्य की आधारशिला है। इसी स्वतंत्रता के सहारे मनुष्य धर्मात्मा होने के लिये उद्यत होता है। यह असत्य है कि संसार में धर्मात्मा होने के लिये पर्य्याप्त प्रेरणा सूचक साधन नहीं हैं। वस्तुतः समस्त संसार हम को धर्मात्मा होने के लिये प्रेरित करता है। स्वतंत्र करते हुये भी ईश्वर ने हमारे मार्ग के चारों ओर कांटों की ऐसी बाढ़ लगा रक्खी है जिससे न तो हम अपने मार्ग से बहुत दूर ही भाग सकते हैं, न बहकाने वाली शक्तियां ही हम पर सीमा के बाहर आक्रमण कर सकती हैं।

हम को सत्पथ पर रखने के लिये सब से पूर्व तो हमारा अन्तःकरण ही है जिसको महर्षि दयानन्द परमात्मा की ओर से उपदेश बताते हैं। वस्तुतः अन्तःकरण कितना बड़ा रक्षक है ? संसार के कितने आत्मा इसी अन्तःकरण के शब्दों को सुनकर कुपथ पर विचलित होने नहीं पाते। संसार सागर में तैरते हुये जीवन के लिये यह एक बड़ा भारी ज्योतिस्तम्भ (Light house) है जिसको देखकर हम पापरूपी चट्टान पर

टकरा न जायं। गिरतों का सहारा अन्तःकरण ही है। यदि अन्तःकरण हम को धर्म अधर्म का उपदेश न करता होता तो हम न जाने कितने बड़े गढ़े में गिर गये होते? जिस समय संसार के सभी उपदेष्टा थक जाते हैं, जब समस्त प्राकृतिक प्रकाश छिप जाता है, अन्धेरी रात में, घोर जंगल में मनुष्य का अन्तःकरण अपने अतुल प्रकाश द्वारा सन्मार्ग बनाता है। यदि हिसाब लगाया जाय तो सौ में दो चार ही निकलते हैं जो इस प्रकाश को न देख सकें, इसके शब्द को न सुन सकें। अधिक ऐसे ही हैं जो इसके उपदेशों को सुन कर असत्य मार्ग से हट जाते हैं।

हे अन्तःकरण की ज्योति का तिरस्कार करने वालो! हे इस संसार को पाप पूरित मानने वालो! क्या तुम ने कभी पापियों के हृदय में घुस कर देखा है कि वहां क्या हो रहा है? क्या तुम ने कभी निर्बल से निर्बल और दुष्ट से दुष्ट मनुष्य की मनोगति का निरीक्षण किया है? यदि किया है तो सच बताना कि क्या अन्तःकरण उनको कभी पाप से नहीं बचाता और क्या वह इतने ही पापी होते यदि उनके पास अन्तःकरण रूपी अस्त्र न होता? लोग भूल करते हैं जो समझते हैं कि संसार में पाप का राज्य है। पापी से पापी मनुष्य भी अपने अधिक समय को पाप में नहीं लगाता। जिस पुरुष के दस प्रतिशतक काम भी पापमय होने लगते हैं उसके प्रति समस्त संसार को घृणा हो जाती है और उसका जीवित रहना दुस्तर हो जाता है। क्यों? इसलिये कि सृष्टि बनाई ही इस लिये गई है कि धर्म का प्रचार हो। जो लोग बाग़ के चारों ओर कांटों की बाढ़ देखकर यह समझ लेते हैं कि यह बाग़

काटों से ही भरा हुआ है वह कितनी भूल करते हैं ? अरे मूर्ख प्राणी ! यदि इस संसार में काटे हैं भी तो वह तुझे पाप से बचाने के लिये हैं, पाप में रत करने के लिये नहीं। व्यक्ति या समाज के हृदय में पाप से इतनी घृणा क्यों है ? क्यों एक पापी को प्रबल होते हुये देख कर भी हम विद्रोह करने लगते हैं ? इसीलिये कि संसार सदाचार का इच्छुक है। सदाचार पर ही उसकी स्थिति है। सदाचार ही सृष्टि रचना का उद्देश्य है। संसार के समस्त नियम हमको सदाचार की ओर ले जा रहे हैं। यदि संसार में स्वतन्त्रता है तो वह इसी लिये कि लोग धर्म के मूल्य को पहचान सकें। यदि कुछ पाप है भी तो इस लिये कि उससे तुलना करके पुण्य की ज्योति का तत्व भली भांति प्रकाशित हो सके।

जिस प्रकार पाप के विषय में लोगों की अत्युक्ति है। इसी प्रकार दुःख के विषय में भी है। लोग समझते हैं कि यदि ईश्वर भला है तो उसकी सृष्टि में दुःख होना नहीं चाहिये था। पाप के विषय में जो कुछ कहा गया है उससे पाठकगण समझ गये होंगे कि ईश्वर भला है। इसीलिये संसार में दुःख है। यह दुःख ईश्वर की भलाईका द्योतक है। बुराई का नहीं। उसकी दया का सूचक है निर्दयता का नहीं। यह दुःख ही है जो मनुष्य को पाप से बचाता है। यदि पाप का परिणाम दुःख न होता तो पुण्य की उन्नति ही कैसे होती ? अच्छे राजा के राज्य में यदि जेलखाने या दण्डालय उपस्थित हैं तो उनका कारण राजा की निदयता नहीं किन्तु सदयता है। यह अवश्य है कि उनका परिमाण सीमा से बढ़ न जावे। जिस प्रकार सब प्रकार के दण्डों के अभाव में अराजकता आ

जाती है उसी प्रकार सब प्रकार के दुःखों के अभाव में भी उन्नति कम हो जाती है ।

यदि हम दुःख की मीमांसा पर विचार करें तो ज्ञात होगा कि दुःख दो प्रकार का है । एक उन्नति करने की प्रेरणा करता है । दूसरा पाप से बचाता है । पहले प्रकार का दुःख वस्तुतः दुःख नहीं है कभी कभी मनुष्य आवश्यकताओं का नाम दुःख रख लेता है । जैसे भूख लगती है प्यास सताती है वस्त्रों की आवश्यकता होती है । यदि इनकी पूर्ति की सामग्री अनायास ही उपस्थित रहती है तो मनुष्य कहता है कि मैं सुखी हूं । यदि उसे इसके सम्पादन में हाथ पैर मारना पड़ता है तो वह समझता है कि मैं दुखी हूं । आवश्यकताओं की पूर्त्ति की सामग्री को अनुपस्थिति को दुःख समझना भूल ही तो है क्योंकि यदि इनके सम्पादन के लिये हाथ पैर मारना न पड़े तो मनुष्य कार्य क्यों करे ? और यदि काम न करे तो उसकी शक्तियों का विकास कैसे हो ? मनुष्य की शक्तियों का विकास तो तभी होता है जब उनको प्रयोग करने की आवश्यकता पड़े और प्रयोग करने की आवश्यकता तभी पड़ती है जब सामग्री उपस्थित न हो, और प्रयत्न द्वारा उपस्थित हो सकती हो । जिन लोगों के घर की सम्पत्ति होती है वह विषयों में फंस कर शीघ्र ही अपनी शक्तियों का ह्रास कर बैठते हैं । चाहे व्यक्तियों के उदाहरण लो, चाहे जातियों के, चाहे साम्राज्यों के चाहे व्यापारियों के । इतिहास इस बात का सूचक है कि मरता क्या न करता । उन्नति उन्हीं लोगों ने की है जिनका जीवन संग्राम के संकट में फंसा है । जो चैन की नींद सोते हैं वह सोने के अतिरिक्त और कुछ करने के भी योग्य नहीं

रहते। धनाढ्यों के धनाढ्यपन का इतिहास देखो और पता चलेगा कि उनके पूर्वज निर्धनता से तंग आकर परिश्रम श[illegible] हुए और उन्होंने घोर प्रयत्न द्वारा धन को एकत्रित किया। अब सन्तान की क्या दशा है? क्या उनमें अपने पूर्वजों के समान तपोबल है? क्या वे उतना पुरुषार्थ कर सकते हैं? क्या यह अवनति नहीं उन्नति है? यदि संसार में सभी सुख अनायास मिल जाया करें तो उसमें उन्नति करने का कोई साधन नहीं रहेगा। विजय उसी को मिलती है जो संग्राम में लड़ता है। यश उसी को प्राप्त होता है जो कष्ट सहता है। संग्राम में लड़ना और कष्ट सहना दुःख नहीं है किन्तु सुखों का पेशवा है। इसको दुःख कहना बड़ी भारी भूल है। आलफ्रेडरसेल वालेस (Alfred Russel Wallace) ने अपनी जीवन जगत् (The World of Life) में दुःख की बहुत विस्तृत मीमांसा की है। वह नास्तिकों के आक्षेपों पर विचार करते हुये कहते हैं।

All this is so utterly abhorrent to us that we cannot reconcile it with an author of the universe who is at once all-wise, all-power, and all-good. (P. 369.)

कि "हम को संसार के दुःख देखकर प्रायः घृणा हो जाती है और हम कहने लगते हैं कि यह सृष्टि सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान और दयालु सत्ता की बनाई नहीं हो सकती।" परन्तु वह इस मत को स्वीकार नहीं करते। जो विकासवादी ईश्वर के पीछे लाठी लिये फिरते हैं और जिनको इस वर्त्तमान सृष्टि में दया की एक किरण भी दिखाई नहीं पड़ती उन्हीं के विषय में उक्त महोदय कहते हैं :—

None of these writers, however, nor, so far as I know, any evolutionist, has ever gone to the root of the problem, by considering the very existence of pain as being one of the essential factors in evolution, as having been developed in the animal world for a purpose as being strictly subordinated to the law of utility, and therefore never developed beyond what was actually needed for the preservation of life.

(P. 372.)

कि "इन लेखकों (अर्थात् आक्षेप करने वालों) और विकासवादियों ने कभी दुःख की जड़ तक पहुंचने का यत्न नहीं किया। उन्होंने यह नहीं सोचा कि दुःख विकास के लिये बड़ी आवश्यक वस्तु है और प्राणि वर्ग में दुःख के उत्पन्न करने का एक विशेष प्रयोजन है। वस्तुतः दुःख उसी परिमाण में पाया जाता है जिसमें इसका उपयोग है" (जीवन-जगत् पृ० ३७२)

इसके पश्चात् वह लिखते हैं :—

"One of these principles, much insisted on by Darwin, is, that no organ, faculty, or sensation can have arisen in animal except through its utility to the species. The sensation of pain has been thus developed, and must therefore be proportionate in each species to its needs, not beyond those needs." (P. 379.)

कि "डार्विन ने एक नियम पर बड़ा बल दिया है। वह यह है कि कोई इन्द्रिय, शक्ति या वेदना किसी प्राणी में उस समय तक नहीं उत्पन्न होती जब तक उसका उसकी जाति के लिये उपयोग न हो। इस लिये प्रत्येक प्राणि वर्ग में दुःख भी उतना ही उत्पन्न हुआ होगा जितनी उसके लिये आवश्यकता है। उससे अधिक कदापि नहीं।" (जीवन-जगत् पृ० ३७९)

इसी विषय को फिलएट महोदय इस प्रकार लिखते हैं:—

"Pain is a stimulus to exertion, and it is only through exertion that the faculties are disciplined and developed. Every appetite originates in the experience of a want, and the experience of want is a pain; but what would the animals be without their appetites and the activities to which those give rise? Would they be the magnificent and beautiful creatures, so many of them are? If the hare had no fear, would it be as swift as it is? If the lion had no hunger, would it be as strong as it is? If man had nothing with which to struggle, would he be as strong as ingenious, as variously skilled and educated as he is? Pain tends to the perfection of the animals. It has, that is to say, a good end; an end which justifies its use; one which would do so even if perfection should not be conducive to

happiness. Perfection, it seems to me, is a worthy aim in itself, and the pain which naturally tends to it is no real evil, and needs no apology. I fail to see that the nearest approximation to the ideal of animal life is the existence of a well-fed hog, which does not need to exert itself, and is not designed for the slaughter. Whatever pain is needed to make the animals so exercise their faculties, as to improve and develop their natures, has been wisely and rightly allotted to them. We assign a low aim to providence when we affirm that it looks merely to the happiness even of the animals. It would be no disproof of benevolence in the creator if pain in the creatures tended simply to perfection and not to happiness; while it must be regarded as a proof of His benevolence if the means which lead to perfection lead also to happiness. And this they do. The pain which gives rise to exertion and the pain which is involved in exertion are, as a rule, amply rewarded even with pleasure. Perhaps susceptibility to pain is necessary condition of susceptibility to pleasure; perhaps the bodily organism could not be capable of pleasure and insensible to pain; but whether this be the case

or not, it is a plain and certain matter of fact that the activities which pain originates are the chief sources of enjoyment throughout the animal creation. The perfecting power of suffering is seen in its highest form not in the brute, but in man; not in its effects on the body, but in its influence on the mind. It is of incalculable use in correcting and disciplining the spirit. It serves to soften the hard of heart, to subdue the proud, to produce fortitude and patience, to expand the sympathies, to exercise the religious affections, to refine, strengthen, and elevate the entire disposition. To come out pure gold, the character must pass through the furnace of affliction. And no one who has borne suffering aright has ever complained that he had been called on to endure too much of it. On the contrary, all the noblest of our race have learned from experience to count suffering not an evil but a privilege, and to rejoice in it as working out in them, through its purifying and perfecting power, an eternal weight of glory."

(Flint's Theism p. 247—250).

"दुःख परिश्रम के लिये प्रेरणा करता है और परिश्रम द्वारा ही हमारी शक्तियाँ नियमित तथा विकसित हो सकती

हैं। इच्छा आवश्यकता का अनुभव कराती है। आवश्यकता का अनुभव ही दुःख है। परन्तु यदि जीवों में इच्छायें नहीं और उन इच्छाओं द्वारा उत्पन्न हुये प्रयत्न नहीं तो फिर जीव रहेंगे ही क्या? क्या वह ऐसे ही विशाल और सुन्दर होंगे जैसे अब हैं? यदि खरगोश को भय न हो तो क्या वह इतना ही तीव्र गामी होगा जैसा अब है? यदि शेर को भूख न लगे तो क्या वह उतना ही बलिष्ट होगा जैसा अब है? यदि मनुष्य को किसी के साथ झगड़ना न पड़े तो क्या वह ऐसा प्रयत्नशील, ऐसा बुद्धिमान, ऐसा चतुर और ऐसा शिक्षित होगा जसा अब है? दुःख ही प्राणियों की पूर्णता का साधन है। अर्थात् इसका परिणाम अच्छा होता है। इस परिणाम से ही इसकी उपयोगिता स्पष्ट होती है। यह उपयोगिता उस समय भी सिद्ध होती यदि पूर्णता का अन्त आनन्द न होता। मैं समझता हूं कि पूर्णता स्वयं एक उच्च-कोटि का साध्य (प्रयोजन) है। और जो दुःख इस प्रयोजन की सिद्धि करता है वह कभी बुरा नहीं हो सकता। इस आक्षेप के लिये चिन्ता करना व्यर्थ है। मेरी समझ में नहीं आता कि प्राणि-वर्ग के जीवन का आदर्श वह सुअर हो जिसको भली भांति खिलाया पिलाया जाता हो, जिसे कुछ काम न करना पड़ता हो और बध करने के लिये न बनाया गया हो। प्राणिवर्ग की शक्तियों के विकाश तथा उनकी प्रकृति की उन्नति के लिये जितने दुःख की आवश्यकता थी उतना ही दिया गया है। जब हम कहते हैं कि प्राणियों का मुख्य उद्देश्य सुख की प्राप्ति है तो हम ईश्वर के सृष्टि-रचना के प्रयोजन की अवहेलना करते हैं। यदि दुःख केवल पूर्णता

का ही साधन होता और सुख का साधन न होता तो भी यह ईश्वर की परम दया का सूचक होता। परन्तु इससे तो और भी अधिक दया का परिचय मिलता है कि दुःख न केवल पूर्णता का ही साधन है अधिकन्तु सुख का भी। जो दुःख प्रयत्न के लिये प्रेरणा करता है और जो दुःख प्रयत्न करने में होता है यह दोनों ही अन्त में आनन्द को प्राप्त कराने वाले होते हैं। शायद सुख के अनुभव के लिये दुःख का अनुभव आवश्यक है। शायद प्राणियों के शरीर ही ऐसे बने हैं कि यदि वह दुःख का अनुभव न करते तो सुख का अनुभव भी न कर सकते। चाहे यह सत्य हो या नहीं परन्तु एक बात तो स्पष्ट ही है कि समस्त जीवन-जगत् में वह दुःख परम आनन्द का साधन होता है जो प्राणियों को परिश्रम के लिये उत्तेजित करता है। दुःख की उपयोगिता का परिचय इतना छोटे प्राणियों में नहीं मिलता जितना मनुष्य में मिलता है। इतना शारीरिक बातों में नहीं मिलता जितना मानसिक बातों में मिलता है। यह आत्मा के परिशोधन और शिक्षण में परम सहायक है। दुःख से हृदय की कठोरता कम हो जाती है, दुःख से अभिमान का दमन होता है, दुःख से साहस और धैर्य बढ़ता है, दुःख से सहानुभूति का आधिक्य होता है दुःख से धर्म के लिये श्रद्धा उत्पन्न होती है। सारांश यह है कि इससे सम्पूर्ण मानवी प्रकृति परिशोधित, सुदृढ़ तथा उच्च हो जाती है। शुद्ध स्वर्ण तभी होगा जब दुःख की भट्टी में से होकर निकले। और जिस किसी ने दुःख का ठीक ठीक सहन किया है उसको कभी यह शिकायत नहीं हुई कि मुझे आवश्यकता से अधिक दुःख सहना पड़ा। इसके

विरुद्ध मनुष्य जाति के रत्नों ने अपने जीवन के अनुभव से यही सीखा है कि दुःख बुरा नहीं है किन्तु दुःख भाग्य से ही मिलता है। अमर यश की प्राप्ति का एक मात्र साधन यही है कि दुःखों के पवित्र तथा उन्नत करने वाले प्रभावों से लाभ उठाता हुआ मनुष्य उनमें से निकलने का प्रयत्न करें"
(फ्लिएट का आस्तिकवाद पृ० २४७-२५०)

अब तक हमने उन दुःखों का वर्णन किया है जो भूख, प्यास आदि इच्छाओं के रूप में हमारी आवश्यकताओं को सूचना देते हैं। यह वस्तुतः दुख नहीं हैं किन्तु कर्म परायणता के लिये प्रेरणा मात्र हैं। परन्तु बहुत से दुख ऐसे हैं जिनको हम इस कक्षा में नहीं रख सकते। वह प्राणियों का सर्व नाश करके ही जाते हैं। मृत्यु उनका एक छोटा सा रूप है। उनके कारण मनुष्य अपने कर्त्तव्यों से भी च्युत हो जाता है, उसका साहस टूट जाता है और वह निराशा तथा आलस्य का जीवन व्यतीत करने लगता है। समस्त तापों या दुःखों के भारतवासियों ने तीन विभाग किये हैं–(१) आध्यात्मिक अर्थात् जो अपने ही मन या शरीर से उठते हैं, जैसे सहस्रों प्रकार की घोर पीड़ायें या रोग जो मनुष्य को कुछ करने नहीं देते, अनेक प्रकार के भयानक ज्वर, अन्धापन, बहरापन, तथा अन्य कष्ट। सैकड़ों प्रकार के मानसिक रोग जैसे ईर्ष्या, द्वेष, काम, क्रोध आदि (२) आधिभौतिक जो एक प्राणि को दूसरे प्राणियों से होते हैं (३) आधिदैविक जो प्रकृति की अन्य शक्तियों द्वारा पहुंचते हैं।

पहले प्रकार के बहुत से मानसिक और कुछ शारीरिक

दुःखों को हम प्रयत्न-प्रेरक समझ सकते हैं। परन्तु शरीर के अनेक रोग और दूसरी तथा तीसरी कोटि के दुःख इतने भयानक हैं कि इनका उपयोग समझ में नहीं आता और एक बार तो बड़े से बड़े आस्तिक और दयालु पुरुष के मुँह से निकल ही जाता है कि यदि ईश्वर है तो बड़ा क्रूर है। छोटे छोटे जन्तुओं से लेकर जन्तुओं के शिरोमणि मनुष्य-महाशय तक सब एक दूसरे के रक्त के प्यासे दिखाई देते हैं। छोटी मछली बड़ी मछली को खा जाती है, बड़ी को उससे बड़ी हड़प कर जाती है। एक एक ह्वेल के एक समय के भोजन के लिये सैकड़ों छोटी मछलियां अपनी जान से हाथ धो बैठती हैं। एक एक मगर मुंह फाड़ते ही सैकड़ों मछलियों को निगल जाता है। भगत बगला एक पैर से खड़ा हुआ मछली प्राप्ति के लिये ही गायत्री जपता रहता है। फिर मनुष्य महाशय क्या कुछ कम हैं? यदि एक जंगल में एक दो शेर रोज़ एक दो जानवरों की आहुति करते हैं तो एक नगर के हज़ारों मनुष्यों के लिये सैंकड़ों बकरियां, भेड़ें, सुअर तथा गायें अपने प्राणों को न्यौछावर कर देती हैं। बिल्ली को चूहे प्राप्त करने या छिपकली को पतंगे प्राप्त करने या चील तथा बाज़ को छोटी छोटी चिड़ियायें प्राप्त करने में तो देर भी लगती है क्योंकि इनका आहार कुछ निश्चितसा है परन्तु सभ्य और सुशिक्षित गृद्ध राज की तीव्र दृष्टि से चौपायों में खाट और उड़नेवालों में पतंग भी नहीं बचने पाती। बड़ी मछलियों के पंजे से छोटी मछलियां बच भी सकती हैं। परन्तु दो पैर और दो हाथ वाले मगर मच्छ जब अपना जाल बिछाते हैं तो समुद्र के समुद्र शीघ्र ही खाली

कर देते हैं। सभ्य और सुशिक्षित देश के उच्च महानुभावों के नाश्ते के लिये एक एक नगर में ऐसी ऐसी कलें बनाई गई हैं कि सैकड़ों पशुओं के सिर मिनटों में धड़ों से पृथक कर दिये जाते हैं। सभ्य देशों के होटलों पर दृष्टि तो डालिये। यदि मृत्यु-पीड़ा संसार में सब से बड़ी पीड़ा समझी जा सकती है तो यह होटल प्राणिवर्ग को अधिक से अधिक कष्ट पहुंचाने के सब से बड़े साधन हैं। यदि प्राणियों के दुःखों का वायुमण्डल पर कोई चिह्न बन सकता है तो कहना चाहिये कि समस्त भूमण्डल का वायुमण्डल क्रन्दन और चीख़ पुकार से भरा हुआ है। होटलों में जाइये, हस्पतालों की सैर कीजिये, कालिजों की ओर दृष्टि डालिये, ऐसा मालूम होता है कि मनुष्य दूसरे प्राणियों को प्राणी ही नहीं समझता, जिसको चाहा काट डाला, जिसके चाहा छुरा घुसेड़ दी, जिसको चाहा अधमुआ करके तड़पते छोड़ा।

आधिदैविक ताप भी आधिभौतिकतापों से कुछ कम नहीं हैं। वर्षा आती है तो एक ही मेंह में सैकड़ों प्राणी मर जाते हैं। एक बाढ़ आई तो सहस्रों की जान ले गई। एक भूकम्प आया तो नगर के नगर उजड़ गये। एक ज्वाला-मुखी मचल गया तो गाँव के गाँव तबाह कर गया। समुद्र की एक लहर उठी तो उसने जहाज़ों के टुकड़े कर डाले। मृत्यु देव चील और कौओं की तरह हमारे सिरों पर मंडलाते ही रहते हैं। इनकी एक सेना हो तो उसका सामना किया जाय। कहीं यह सूखा के रूप में आ विराजते हैं, कहीं ताऊन और हैज़ा का वेष रखकर आ धमकाते हैं। कहीं बिजली के रूप में आ चमकते हैं और कहीं सुषुप्ति रोग (Sleeping

disease) का बाना रखकर ऐसे दबे पांव आते हैं कि सोने वाले को कराहने का अवसर भी नहीं देते।

"इतने दुःख होते हुये भी आस्तिकों का क्या अधिकार है कि "दयालु ईश्वर" की दयालुता की दुन्दुभि बजाते रहें ? यदि 'दयालुता' इसी का नाम है तो क्रूरता का क्या अर्थ होगा ? शायद इसी विचार से नास्तिक कहता है कि "या तो ईश्वर दुःख निवारण करना चाहता है परन्तु कर नहीं पाता इसलिये निर्बल ठहरता है, या दुःख निवारण कर तो सकता है पर चाहता नहीं इसलिये क्रूर ठहरता है, या न निवारण करना चाहता है न कर सकता है अतः क्रूर और निर्बल दोनों है या निवारण करने के योग्य भी है और इच्छुक भी है फिर भी दुःख बना रहता है।"

हम से पूछिये तो ईश्वर न निर्बल है न क्रूर। वह चाहता भी है कि दुःख न रहे और उसको निवारण कर भी सकता है। परन्तु जैसा हमने 'पाप' के विषय में कहा वह यह नहीं कर सकता कि जीवों की स्वतंत्रता छीन ले और न ऐसा करना जीवों के लिये कल्याण कारक ही है।

यदि एक प्रकार के दुःख प्राणियों को परिश्रम के लिये प्रेरणा करके उनकी उन्नति का कारण होते हैं तो दूसरे प्रकार के अनेकों दुःख उनको पाप के लिये दण्ड देते हैं। शोक तो यह है कि जिस प्रकार हम दुःखों पर विचार करते हैं उस प्रकार सुखों पर नहीं करते। जिन्होंने निष्पक्ष होकर विचार किया है उनको संसार में दुःख के स्थान में सुख का ही राज प्रतीत होता है। स्वामी दयानन्द सत्यार्थ-प्रकाश के आठवें समुल्लास में लिखते हैं--

"जो सृष्टि के सुख दुःख की तुलना की जाय तो सुख कई गुणा अधिक होता और बहुत से पवित्रात्मा जीव मुक्ति के साधन कर मोक्ष के आनन्द को भी प्राप्त होते हैं" (सत्यार्थ प्रकाश, अठारहवीं बार, पृ० २१४)

मनुष्य दुःखों के लिये जितना ईश्वर को दोष देता है उतना सुखों के लिये उसका कृतज्ञ नहीं होता। यह मनुष्य की भूल है। यदि वह अपने जीवन के साधनों पर विचार करे तो उसे ईश्वर का कृतज्ञ ही होना चाहिये। हम शरीर के रोगों के लिये तो ईश्वर को उलहना देते हैं परन्तु क्या कभी यह भी सोचा है कि जो कुछ आनन्द हम संसार में भोगते हैं वह ईश्वर के ही दिये हुये हैं। यह आंखें हमारे लिये कितनी सुखदायी हैं इसका हाल तो किसी अन्धे से ही पूछना चाहिये। मनुष्य को आनन्द के साधनों की बहुमूल्यता उस समय प्रतीत होती है जब वह उन साधनों से वंचित कर दिया जाता है। साधारणतया तो वह सृष्टि के आनन्द में इतना मग्न होता है कि स्वयं आपको और अपने कर्त्तव्यों को भी भूल जाता है। आंख से कैसे उत्तम उत्तम रूप दिखाई पड़ते हैं? पहाड़ और नदियों के दृश्य, आकाश का अनेक रंगों वाला स्वरूप, वृक्ष तथा पुष्पों का अपार सौन्दर्य्य, पुष्पों पर रंग विरंगी तितलियों की आनन्ददायक मूर्त्तियां, यह सब कैसे सुख कर होतीं यदि ईश्वर आंख न बनाता? जीभ से क्या क्या अच्छे स्वाद चखते हैं? क्या यह जीभ मैंने बनाई है? क्या हमको और चखने के पदार्थों को ईश्वर ने ही नहीं बनाया? क्या यह सब हम को आनन्द नहीं देतीं? कानों से भी तो पूछो? वह क्या कहते हैं? क्या

बहरा और कानों वाला दोनों एक से हैं ? क्या कान आनन्द का साधन नहीं हैं ? मनोहर राग और चित्ताकर्षक बाजे, यह सुरीले सुरीले शब्द कैसे सुनाई देते यदि कान न होते ? मनुष्यों ने कानों के लिये जो अनेक साधन इकट्ठे किये हैं वह सब ईश्वर की ही तो कृपा है। यह उसी सृष्टि का अंश है जिसे लोग दुःखमय बताते हैं। फिर यह तो सोचो कि संसार में दुख की मात्रा कितनी है ? किसी दुःखी से दुःखी पुरुष का उदाहरण लो, और उसके चौबीस घण्टों का हिसाब लगाओ। क्या उसके बारह से अधिक घण्टे दुख में व्यतीत होते हैं ? कल्पना करो कि वह ३० वर्ष का होकर मरा। क्या उसका १५ वर्ष से अधिक दुःख में व्यतीत हुआ ? कदापि नहीं। दुःख होता अवश्य है परन्तु उसकी मात्रा उतनी ही होती है जितना दाल में नमक। और यह दुःख उन पापों का दण्ड मात्र होता है जो उसने इस से पूर्वजन्म में किये होते हैं। यदि यह दण्ड न हो तो जीव में जो कुसंस्कार या अशुद्धि आ जाती है उसका भी निवारण न हो सके। बहुत से दुःखों का उपयोग तो हमको इसलिये नहीं मालूम होता कि हम इस छोटे से जीवन को ही जीवन समझ लेते हैं। वस्तुतः यह हमारे अनादि और अनन्त जीवन का एक छोटा सा अंश है। जो लोग पुनर्जन्म को नहीं मानते उनके लिये यह जटिल समस्या है ! फ्लिण्ट महाशय ने इसी-लिये पशु पक्षियों के दुःखों और उनके पापों में किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं ढूंढ पाया। वह लिखते हैं :—

"The suffering of the animals is, in fact, more mysterious than the suffering of man, just

because so little of the former and so much of the latter can be traced, directly or indirectly, to sin. But every animal is made subject to suffering." (Flint's Theism p. 246).

कि "मनुष्य के दुःखों की अपेक्षा पशु पक्षियों के दुःख अधिक अनिर्वचनीय हैं क्योंकि मनुष्यों के दुःखों का तो पाप से कुछ सम्बन्ध भी है परन्तु पशुपक्षियों के दुःखों का नहीं। और दुःख प्रत्येक प्राणी को होता है" (फ्लिएट का आस्तिक वाद पृ० २४६)

इस प्रश्न का फ्लिएट के पास कुछ उत्तर नहीं है। वह हताश होकर कहते हैं :—

"The human mind may very probably be unable fully to answer this question."

(Flint's Theism p. 246).

कि "मनुष्य का मस्तिष्क शायद इस प्रश्न का पूरा उत्तर देही नहीं सकता"। (फ्लिएट का आस्तिकवाद पृ० २४६)

नास्तिक लोग शायद इसको अपनी सब से बड़ी विजय समझेंगे और वस्तुतः यदि फ्लिएट महोदय का आस्तिकत्व ही सच्चा आस्तिकत्व होता तो अवश्य इस प्रश्न का उत्तर देना असम्भव था। उन्होंने आगे चलकर पशुओं आदि के दुःखों की जो उपयोगिता दिखलाई है अर्थात् संरक्षण (preservative use) वह केवल उसी कोटि के दुःखों के विषय में हो सकती है जिनको हम ने आवश्यकताओं के नाम से पुकारा है। अर्थात् भूख, प्यास, भय आदि जो उन्नति करने और

आत्म रक्षा में उपयोगी होते हैं। परन्तु इनमें भी घोर तर अत्याचार जिनका उन पशु-पक्षियों के जीवन में कोई उपयोग ही नहीं है इस प्रकार समझाये नहीं जा सकते।

आल्फ्रेड रसेल वालेस (Alfred Russel Wallace) ने इस दुःख की इस प्रकार मीमांसा की है :—

We find, then, that the whole system of life development is that of the lower providing food for the higher in ever expanding circles of organic existence. That system has succeeded marvellously, even, gloriously, in as much as it has produced, as its final outcome, man, the one being who can appreciate the infinite variety and beauty of the life-world, the one being who can utilize in any adequate manner the myriad products of its mechanics and its chemistry.

(The World of Life p. 373).

"इस प्रकार हम देखते हैं कि समस्त जीवन जगत् का प्रबन्ध यह है कि छोटे जन्तु बड़े जन्तुओं के लिये भोजन पहुंचावें। इस प्रबन्ध का बड़ा आश्चर्यजनक और उत्तम परिणाम यह निकला है कि इससे एक ऐसी उच्चतम जाति "मनुष्य" की उत्पत्ति हो गई जो जीवन-जगत् के भांति भांति के सौन्दर्य्य का अनुभव कर सकता है और भिन्न २ प्रकार की उत्पत्तियों का प्रयोग कर सकता है"।

(जीवन जगत पृ० ३७३)

वालेस महाशय सृष्टि के दुःख दायिनी या क्रूर तो नहीं मानते परन्तु उनका मत है कि छोटे छोटे प्राणियों को दुःख पहुंचाने का प्रयोजन यह है कि मनुष्य का विकास हो। उनके विचार से सृष्टि का एक उद्देश मनुष्य की उत्पत्ति है। वह संसार भर को मनुष्य के भोग के लिये मानते हैं। भोग के लिये न सही तो विकास के लिये। परन्तु बात एक ही है अर्थात् "मनुष्य" ही सृष्टि रचना का अन्तिम प्रयोजन है।

परन्तु वालेस महाशय का वह कथन अंधेरे की अटकल (groping in the dark) के समान है। उन्होंने एक पुस्तक और लिखी है जिसका नाम है "मैन्स प्लेस इन दी यूनीवर्स" (Man's Place in the universe) अर्थात "मनुष्य का सृष्टि में स्थान।" इसमें भी उन्होंने यही दिखाने का यत्न किया है कि "मनुष्य" के लिये ही समस्त सृष्टि का रचना की गई है।" दी वर्ल्ड आफ़लाइफ या "जीवन जगत्" की भूमिका में वह लिखते हैं :—

"This purpose, which alone throws light on many of the mysteries of its mode of evolution, I hold to be the development of *man*, the one crowning product of the whole cosmic process of life-development." (p. vii.)

कि "विकास की विचित्र और दुर्ज्ञेय घटनाओं का एक ही प्रयोजन है अर्थात मनुष्य का विकास। क्योंकि समस्त जीवन जगत् का बहुमूल्य रत्न मनुष्य ही है"

इसमें सन्देह नहीं कि मनुष्य सृष्टि भर में उच्चतम प्राणी है। कम से कम मनुष्यों का तो ऐसा ही मत है। पशु-

पक्षियों का क्या मत है यह जानना कठिन है और न मनुष्य को यह जानने की चिन्ता ही है। परन्तु सत्य यह है कि यदि पशुपक्षियों से हम पूछ सकते तो वह हमको यही बताते कि जो मनुष्य उनको खा जाता है या जिस मनुष्य के विकास के लिये इतने प्राणियों की हत्या करनी पड़ती है वह कभी सृष्टि का उच्चतम और बहुमूल्य रत्न नहीं हो सकता। बंगाल के प्रसिद्ध उपन्यास लेखक बंकिम चन्द्र ने अपने एक उपन्यास में शेरों की एक सभा का वर्णन किया है जिसमें एक शेर ने व्याख्यान देते हुये "मनुष्य" को अति तुच्छ भीरु और चालाक तथा सृष्टि के क्षुद्रतम प्राणियों में बताया है। शेर तो यह भी कह सकते हैं कि जिस प्रकार बकरी सुअर आदि को मनुष्य अपने खाने के लिये उत्पन्न हुआ बताते हैं उसी प्रकार मनुष्य भी शेरों के खाने के लिये बनाया गया है।

यदि हम शेरों या अन्य प्राणियों की साक्षी न भी लें और वालेस महाशय के इस विचार से सहमत हो जायं कि मनुष्य सृष्टि का उच्चतम रत्न है तो भी हम यह नहीं मान सकते कि समस्त सृष्टि-रचना का एक मात्र प्रयोजन मनुष्य है और मनुष्य-रचना का कोई अन्य प्रयोजन नहीं।

वालेस महाशय ने अपने जीवन-जगत् में एक अध्याय लिखा है जिसका शीर्षक है "Is nature cruel ?" "क्या सृष्टि निर्दयी है?" इसकी बहुत सी बातों से हम सहमत हैं और इनका आगे उल्लेख भी करेंगे। इसमें उन्होंने यह दिखाने का यत्न किया है कि सृष्टि इतनी निर्दयी नहीं है जितनी समझी जाती है। वस्तुतः यह ठीक भी है। परन्तु यदि प्राणियों को बिना किसी अपराध के केवल

'मनुष्य' के विकास के लिये कुछ भी पीड़ा दी जाती है तो सृष्टि की निर्दयता में सन्देह नहीं रहता। इतना तो हम समझ सकते हैं कि किसी प्राणी को उसी की उन्नति के लिये दुःख देना निर्दयता नहीं है जैसे बहुधा माता अपने पुत्र को उसके भले के लिये मार बैठती है। परन्तु यदि प्राणियों को विना उनके अपने लाभ के दूसरे प्राणियों की उन्नति तथा विकास के लिये दुःख दिया जाय तो इसको हम सदयता न कहकर निर्दयता ही कहेंगे। वालेस महाशय के इस नियम को यदि कहीं मनुष्य समाज की आधार शिला बना लिया जाय जैसा कि पाश्चात्य देशों के बहुत से विद्वानों का मत है तो ऐसा अनाचार उत्पन्न हो जाय कि सृष्टि का समस्त प्रबन्ध अस्त व्यस्त हो जाय। यदि मनुष्य समस्त प्राणियों को अपने भोग या विकास के लिये ही समझता है तो एक सुशिक्षित मनुष्य अन्य मनुष्यों को अपने विकास का साधन मात्र समझ सकता है। बहुत सी जातियों में तो यह बात प्रायः मान ली गई है कि अन्य जातियाँ उनके विकास और भोग का साधनमात्र हैं। परन्तु उन जातियों में भी यह सर्वतंत्र सिद्धान्त नहीं है। हां यदि विकासवाद का अधिक प्रचार हुआ तो यह बात भी अधिक प्रचलित हो जायगी।

वस्तुतः बात यह है कि इस प्रश्न का उत्तर केवल पुनर्जन्म का सिद्धान्त ही दे सकता है। इस सिद्धान्त का कथन है कि प्रत्येक प्राणि अपने पिछले कार्यों द्वारा ही दुःख भोगता है। जब हम यह मान लेते हैं तो किसी प्रकार का दुःख भी सृष्टि की निर्दयता को नहीं सिद्ध करता। क्योंकि

अपराध के लिये दण्ड देना न्याय और दया का सूचक है अन्याय या निर्दयता का नहीं।

अब प्रश्न यह रह जाता है कि ईश्वर प्राणियों को इस प्रकार दण्ड क्यों देता है जिससे उनको इतना कष्ट हो? सभ्य जातियों की दण्ड प्रथा का मूलाधार यह नियम है कि दण्ड सुधार के लिये दिया जाय न कि घृणा या बदले के लिये। हम कहते हैं कि सृष्टि का भी यह नियम है वस्तुतः सभ्य जगत् ने नियम सीखा भी जगत् से ही है। जिन जातियों ने सृष्टि का ठीक ठीक निरीक्षण नहीं किया था उनमें दण्ड देने के लिये भयानक प्रथायें थीं। परन्तु शिक्षित जातियों को भली भांति ज्ञात हो गया कि सृष्टि का नियम उनको सहृदय होने के लिये उपदेश करता है। अथर्व वेद का एक मंत्र कहता है।

सहृदयं सांमनस्यं अविद्वेषं करोमि वः।
अन्योऽन्यमभिहर्यंत वत्सं जातमिवाघ्न्या (?)

अर्थात् हे मनुष्यो! मैंने तुमको सहृदय और बुद्धिमान तथा द्वेष रहित बनाया है। तुम एक दूसरे के साथ इस प्रकार वर्त्ताव करो जैसे गाय अपने नवजात बच्चे के साथ करती है।

वस्तुतः सृष्टि में भी यही नियम है। प्राणियों को दण्ड मिलता है परन्तु निर्दयता के साथ नहीं। दया से और सुधार के लिये। वस्तुतः यदि विचार-पूर्वक देखा जाय तो कोई नर्म से नर्म दिल राजा भी अपने अपराधियों को इतनी दया के साथ दण्ड नहीं दे सकता जितना सृष्टि अपने अपराधियों को देती है। कोई कोमल से कोमल हृदय वाली माता भी अपने प्रिय से प्रिय पुत्र को उसके सुधार को दृष्टि में रखता हुई ऐसी दयालुता से दण्ड नहीं देती जैसी दयालुता

से ईश्वर अपने नियम तोड़ने वालों को दण्ड देता है। भेद केवल इतना है कि जिस प्रकार मोह में फंसी हुई मूर्ख मातायें अपनी सन्तान को कुपथ में चलने का साहस दे बैठती हैं ईश्वर उस प्रकार नहीं करता। यह ईश्वर का सच्चा प्रेम है जो उसे हमको सुधारने तथा दण्ड देने के लिये बाधित करता है। उसके जितने नियम हैं वे सब हम जीवों की भलाई के लिये हैं अपने लिये कुछ नहीं। इस लिये जो लोग सृष्टि पर क्रूरता का दोष लगाते हैं वह केवल एक अंश पर ही विचार करते हैं। उनकी दृष्टि सृष्टि के सभी अङ्गों पर नहीं जाती।

हम कहते हैं कि ईश्वर क्रूर नहीं किन्तु दयालु है। कैसे ? प्रथम तो दण्ड की प्रथा को लीजिये। जीव पाप करते हैं। नित्य सृष्टि के नियमों का उल्लङ्घन करते हैं। इससे इनमें आलस्य प्रमाद और अभिमान बढ़ता जाता है। इनका ज्ञान कम होता जाता है। और इनमें दूसरे जीवों को सताने की प्रवृति बढ़ती जाती है। जब सृष्टि के समस्त नियम जीवों के कल्याण के लिये हैं तो इनका ताड़ना उनके दुःख का साधन होगा। यही पाप है। तभी तो कहा है कि "अहिंसा परमो धर्मः।" केवल दूसरों को मार डालना ही हिंसा नहीं है, सृष्टि के नियमों का उल्लङ्घन करना भी बहुत बड़ी हिंसा है क्योंकि इस उल्लङ्घन का अन्तिम फल जीवों का दुःख ही होगा। इसलिये सृष्टि का एक नियम यह भी है कि जो जीव सृष्टि के नियमों का उल्लङ्घन करे उसको दण्ड मिलना चाहिये।

अब देखिये कि सृष्टि में दण्ड के लिये कैसे उत्तम नियम

हैं? जो लोग पुनर्जन्म को नहीं मानते वह इस रहस्य को समझ ही नहीं सकते। उनको पग पग पर ठोकरें खानी पड़ती हैं। उनको समझ में ही नहीं आ सकता कि एक छोटे से जीवन में मनुष्य अपने अन्तिम उद्देश्य की कैसे पूर्ति कर सकता है? वह जान ही नहीं सकते कि सृष्टि एक बहुत बड़ी पाठशाला के ही समान है जिसमें जीव को शिक्षा देने के लिये भिन्न २ श्रेणियाँ हैं। वस्तुतः लाखों प्रकार की योनियाँ जो संसार में देखी जाती हैं वह इस पाठशाला की कक्षायें हैं और इनको इस प्रकार से रचा गया है कि प्रत्येक जीव चाहे वह अधम से अधम या उच्च से उच्च क्यों न हो किसी न किसी श्रेणी के अवश्य योग्य हो सके। सृष्टि अपने किसी विद्यार्थी को इस शाला से वहिष्कृत नहीं करती और न अयोग्य विद्यार्थियों को एक ही कक्षा में रखती है। जिस प्रकार हमारे स्कूलों में बुरे और भले दोनों प्रकार के विद्यार्थी मिलकर एक दूसरे को हानि पहुंचाते हैं; यदि बुरों के अनुकूल पाठ दिया जाता है तो भलों का समय नष्ट होता है, यदि भलों के अनुकूल पाठ पढ़ाया जाता है तो बुरे समझते नहीं, इस प्रकार की अवस्था सृष्टि में नहीं है। प्रत्येक योग्यता के जीव के लिये एक श्रेणी है, इन्हीं का नाम योनियाँ हैं। हिन्दुओं में तो चौरासी लाख योनियां बताई जाती हैं। वालेस ने "जीवन-जगत्" के ९२ वें पृष्ठ पर ए. ई. शिपले (A. E. Shipley) एफ. आर. एस. के एक व्याख्यान के आधार पर जो उन्होंने १९०९ ई० में दिया था जीवित प्राणियों की ७ लाख ९० हजार ५ सौ ३३ श्रेणियां गिनाई हैं। हम पाठकों के मनोविनोदार्थ उनको यहां दिये देते हैं:—

Mammalia (दूध पिलानेवाले जन्तु)	६६१५
Birds (पक्षी)	१३८:५
Reptiles, Batrachia (रेंगनेवाले)	७१८०
Fishes (मछलियां)	१४६६६
Mollusca (मोलस्का)	६२०००
Bryazoa (ब्रियोज़ोआ)	२२२
Crustacea (क्रस्टेशिया)	१:६५२
Spiders (छिपकलियाँ आदि)	२५:७०
Myriapods (बहु-पद)	८७२१
Insects (मकोड़े)	४४५६७८
Echins-derms (कठोर त्वक्)	१५०६७
Worms (कीट)	८७:६
Coelenterata (सोलेंटूटा)	५००८
Sponges (स्पंज)	२६६५
Protozoa (प्रोटोज़ोआ)	६०००
योग	७६०५३:*

यह सूची भी ठीक नहीं है। गूंथर (Gunther, महाशय ने १८८१ ई० में इनकी संख्या ३ लाख ११ हज़ार ६ सौ ५० ही बताई थी २८ वर्ष में पता चला कि यह आधे से भी कम थी। इस पर भी मिस्टर डी. शार्प (Mr. D. Sharp) का मत है कि इंसेक्ट (मकोड़े) जिनकी संख्या शिंपले ने साढ़े

* ऊपर की सूची में कोई जाति रह गई है। क्योंकि इन सब का जोड़ ६,४१,५०० आता है। वालेस ने ७६०५३३ दिया है।

चार लाख के लगभग बताई है कम से कम इससे पंचगुनी अर्थात् बीस लाख से भी अधिक होगी। गूंथर ने दूध पिलाने वालों की संख्या २३०० लिखी थी। शिपले ६६५५ अर्थात् चौगुनी बताते हैं।* यदि इसी प्रकार अन्य अन्वेषण किया जाय तो ८४ लाख तक पहुंचना कोई कठिन बात नहीं है। परन्तु यदि ऐसा न भी हो और योनियों की संख्या ६१/२ लाख भी मानली जाय तो भी हमारे सामयिक प्रयोजन के लिये पर्य्याप्त है। फिर यह श्रेणियां समस्त सृष्टि की नहीं हैं। केवल पृथ्वी के ऊपर की हैं। पृथ्वी सौर्य्य मण्डल का एक छोटा सा अंश है इसके अतिरिक्त अन्य भी सौर्य्य मण्डल हैं जिन सब का हिसाब लगाना मनुष्य की शक्ति से बाहर है।

यह लाखों योनियाँ लाखों श्रेणियाँ है जिनमें जीव शिक्षा पाते हैं। सृष्टि का ऐसा अच्छा प्रबन्ध है कि जब तक जीव एक विशेष श्रेणी के योग्य रहता है उस समय तक वह उसमें रहने पाता है। ज्यों ही अपनी उन्नति या अवनति के कारण उसके अयोग्य हुआ, उसको वहां से निकाल कर दूसरी श्रेणी में भेज दिया जाता है। यह कक्षा परिवर्तन ऐसे चातुर्य से

---

*भारतवासियों ने ८४ लाख संख्या का कहां से और किस प्रकार पता लगाया इसका हमको इस समय ज्ञान नहीं है। न हम यही कह सकते हैं कि उनके किस प्राचीन ग्रन्थ में यह संख्या गिनाई गई है परन्तु आजकल के जन्तु शास्त्रज्ञों के हिसाब पर विचार करने से ८४ लाख बिल्कुल गप्प नहीं मालूम होती। न जाने कितनी योनियां नष्ट हो गईं या पृथ्वी के भीतर छिपी पड़ी हैं अथवा वायु मण्डल में विचरती हैं। सम्भव है कुछ जातियां अति सूक्ष्म हों।

होता है कि जीव को मालूम भी नहीं होता कि मैं कहां से कहां आ गया? पहले कहां था? कौन मेरे मित्र थे? किस प्रकार रहता था? इत्यादि इत्यादि। यदि कहीं उसको मालूम हो जाता कि मैं अमुक श्रेणी से निकाल कर यहाँ भेज गया हूं तो वह नई परिस्थित से लाभ भी न उठा सकता। पुराने मित्रों की स्मृति उसका पीछा न छोड़ती, पुराने संस्कार जागते रहते और शोक के मारे वह नया पाठ न सीख सकता। बहुत से लोग आक्षेप किया करते हैं कि यदि पुनर्जन्म है तो पिछले जन्म को याद क्यों नहीं रहती। मैं कहता हूं कि यदि याद रहा करे तो जीव के परिशोधन में कोई सहायता न मिले। मानवी दण्डालयों पर विचार करो। एक व्यभिचारी किसी सती का सतीत्व भंग करता है। उसे जेल में ठूंस देते हैं। राजों के लिये यही संभव है। परन्तु उसके पुराने संस्कार उसके मन में अपना काम करते रहते हैं। इसलिये जेल में भी वह अपनी पुरानी परिस्थित को सोचा करता है और कभी २ जेल से निकलते ही फिर अपने पुराने पापमय व्यापार में लग जाता है। यदि राजों के लिये यह सम्भव होता कि वह अपराधियों की स्मृति बदल सकते तो कितना अच्छा होता और उनका सुधार कितनी शीघ्रता से हो सकता?

यह सब ईश्वर की व्यवस्था में ही संभव है। और हो रहा है। बहुत से दुःख जो मनुष्य को साधारण दृष्टि से दुःख मालूम होते हैं दुःख नहीं हैं। प्रत्येक मृत्यु दुःखदायी नहीं होती। कम से कम मरने वाले को तो होती नहीं। उसे मालूम भी नहीं पड़ता और उसकी श्रेणी बदल जाती है।

और उसी श्रेणी में जीव बड़े सन्तोष के साथ नया पाठ सीखने लगता है। इन श्रेणियों में दो काम होते हैं पुराने संस्कारों को धोना और नये संस्कार उत्पन्न करना। इस प्रकार यह श्रेणियां एक प्रकार का साबुन हैं जिसके द्वारा पुराने कुसंस्कार धुल कर जीव फिर नये संस्कारों के योग्य बन जाता है।

दूसरे जीवों के अत्याचारों से बचाने के लिये भी ईश्वर ने पर्य्याप्त सामग्री सम्पादित कर दी है। जन्तु शास्त्रज्ञ बताते हैं कि जीवों के शरीरों का रंग उनकी परिस्थिति के अनुकूल होता है। तोते जिनको बागों में वृक्षों पर रहना पड़ता है हरे होते हैं और वह पत्तों में भली भांति छिप जाते हैं। झाड़ियों का निवासी खरगोश झाड़ियों के इतने समान होता है कि आप चुप चाप बैठे हुये खरगोश को पहचान भी नहीं सकते। फूलों पर रहने वाली तितलियों को पहचानना तो और भी कठिन है। इस प्रकार हम देखते हैं कि सृष्टि ने प्रत्येक प्राणी के बचाने का पर्य्याप्त साधन कर रक्खा है।

"These are all so wonderfully adjusted to their environments, that, in a state of nature, they can hardly suffer at all from what we term accidents. Birds, mice, squirrels, and the like, do not get limbs broken by falls, as we do. They learn so quickly and certainly not to go beyond their powers in climbing, jumping, or flying, that they are probably never injured except by rare natural causes, such as lightning, hail, forest fires.

etc., or by fighting among themselves, and those who are injured without being killed by these various causes form such a minute fraction of the whole as to be reasonably negligible. The wounds received in fighting seem to be rarely serious; and the rapidity with which such wounds heal in a state of nature shows that whatever pain exists is not long continued." (The World of Life p. 376).

"इनका प्रबन्ध ऐसी उत्तमता से किया गया है कि वह स्वाभाविक अवस्था में आकस्मिक दुर्घटनाओं से पीड़ित नहीं हो सकते। चिड़ियों, चूहों, गिलहरी आदि के ऊपर से गिरने में चोट नहीं लगती जैसे हमारे लगती है। उनको अपनी शक्ति से अधिक न चढ़ने, न कूदने और न उड़ने की शिक्षा ऐसी सुगमता से मिल जाती है कि उनको शायद ही कभी कोई हानि पहुंचती हो। हां कुछ को बिजली गिरने, ओला पड़ने या जंगल में दावानल भड़कने या स्वयं लड़ बैठने से कुछ क्षति पहुंचती है परन्तु वह इतनी कम है कि ध्यान देने योग्य नहीं। आपस में लड़ने में जो घाव लगते हैं वह बहुत कठोर नहीं होते और इतनी जल्दी अच्छे होते हैं कि जो कुछ कष्ट होता है वह बहुत थोड़ी देर तक रहता है।"

(जीवन जगत् पृ० ३७६).

अब थोड़ा सा उस दुःख पर भी विचार कीजिये जो हिंसक जीवों द्वारा पहुंचता है। जहां भिन्न २ प्राणियों को सुरक्षित परिस्थिति में रक्खा गया है वहां यह भी प्रबन्ध

है कि यदि कोई प्राणी पकड़ कर मार डाला जाय तो मारे जाने में भी उसे बहुत कष्ट न हो। इस विषय में भी हम आल्फ्रेड रसेल वालेस को ही साक्षी पर्याप्त समझते हैं:—

"But it is undoubtedly not these lesser evils that have led to the outcry against the cruelty of nature, but almost wholly what is held to be the widespread existence of elaborate contrivances for shedding blood or causing pain that are seen throughout nature, the vicious-looking teeth and claws of the cat-tribe, the hooked beak and prehensile talons of birds of prey, the poison fangs of serpents, the stings of wasps, and many others. The idea that all these weapons exist for the purpose of shedding blood or giving pain is wholly illusory. As a matter of fact, their effect is wholly beneficient even to the sufferers, inasmuch as they tend to the diminution of pain. Their actual purpose is always to prevent the escape of captured food......of a wounded animal, which would, then, indeed, suffer useless pain, since it would certainly very soon be captured again and be devoured. The canine teeth and retractile claws hold the prey securely; the serpent's fangs paralyse it; and the wasp's sting benumbs the living food stored up for its young, or serves as a

protection against being devoured itself by insect-eating birds; which latter, probably, only feel enough pain to warn them against such food in future. The evidence that animals which are devoured by lion or puma, by wolf or wild cat, suffer every little, is, I think conclusive. The suddenness and violence of the seizure, the blow of the paw, the simultaneous deep wounds by teeth and claws, either cause death at once, or so paralyse the nervous system that no pain is felt till death very rapidly follows. It must be remembered that in a state of nature the carnivora hunt and kill to satisfy hunger, not for amusement; and all conclusion derived from the house-fed cat and mouse are fallacious. Even in the case of man, with his highly sensitive nervous system, which has been developed on account of his unprotected skin and excessive liability to accidental injury, seizure by a lion or tiger is hardly painful or mentally distressing, as justified by those who have been thus seized and have escaped. (The World of Life p. 376—77).

"सृष्टि की क्रूरता की शिकायत इन छोटी छोटी बातों के कारण नहीं है। वस्तुतः अधिक शिकायत उन भयानक साधनों की है जो सृष्टि ने अन्यान्य प्राणियों को दे रक्खे हैं। जैसे

विडाल-वंश के भयानक दांत और पंजे, शिकारी चिड़ियों की नोकदार चोंच और झट पकड़ लेने वाले पंजे, सांपों के विषैले दांत, भिड़ों के डंक इत्यादि इत्यादि। यह कहना कि यह सब साधन दुःख देने के लिये हैं भ्रममूलक है। वस्तुतः इनका भी उपयोग है। इनसे शिकार को कम कष्ट पहुंचता है। यदि यह न हो तो शिकार घायल होकर छूट जाय। उस दशा में उसे अधिक दुःख हो और घायल होने से फिर भी पकड़ा जा सके। नुकीले दांत और कठोर पंजे शिकार को भली भांति पकड़ लेते हैं। सांप के विषैले दांत शिकार को बेहोश कर देते हैं। भिड़ के डंक से शिकार पर मुर्दनी छा जाती है और इनसे भिड़ की भी बड़े जन्तुओं के अत्याचारों से रक्षा होती है। जब चिड़ियों को भिड़ों के डंक का अनुभव हो जाता है तो वह फिर उनके खाने की चेष्टा नहीं करतीं। शेर, पूमा, जंगली बिल्ली या भेड़िये के पकड़ने से तो शिकार को बहुत ही कम दुःख होता है। झट से पकड़ लेने, तुरन्त पंजे मारने, और साथ ही दांत गड़ा देने से या तो तुरन्त ही मौत आ जाती है या शिकार इतना बेहोश हो जाता है कि उसे मरने में कुछ दुःख प्रतीत नहीं होता। एक बात और ध्यान में रक्खी जाय। **मांसाहारी जन्तु केवल भूख लगने पर ही मारते हैं। मनोविनोद के लिये नहीं।** पालतू बिल्लियों और चूहों के जो उदाहरण दिये जाते हैं वे भ्रम मूलक हैं। मनुष्यों का शरीर दुःख को बहुत जल्दी अनुभव करता है। क्योंकि उसकी रक्षा के लिये शरीर पर पट्टियाँ आदि नहीं होतीं। फिर भी जिन मनुष्यों को शेर आदि ने पकड़ लिया है और वह बच

आये हैं उनका कहना है कि उनको इससे मानसिक या शारीरिक दुःख नहीं पहुंचा"।

(जीवन जगत् पृ० ३७६-७७)

इन सब उदाहरणों से ज्ञात होता है कि सृष्टि के नियम बड़े दयालु हैं। वह जीव को एक सीमा के बाहर दुःख होने नहीं देते। यदि अधिक दुःख देने के साधन उपस्थित भी होते हैं तो बेहोशी आजाता है। इस बेहोशी का उपयोग यही है कि दुःख कम हो। यदि संसार में सबसे अधिक दुःख देने वाला जन्तु है तो वह मनुष्य ही है। शेर अपने शिकार को झट मार डालता है परन्तु मनुष्य ने ऐसे ऐसे साधन निकाले हैं कि तड़पा तड़पा कर मारता है। इस विषय में डाकृर लोग तो अकथनीय अत्याचार करते हैं। हमने ऐसे ऐसे उदाहरणों के चित्र देखे हैं जिनमें शरीर के विशेष अवयवों को अधूरा काट कर छोड़ दिया गया है और भिन्न २ परीक्षायें की जा रही हैं। जन्तु तड़पे या न तड़पे, उसे दुःख कितना ही क्यों न हो, यह अपनी ज्ञान या दूसरे शब्दों में क्रूरता की भूख बुझाने के लिये उसको अत्यन्त पीड़ा देते रहने हैं। परन्तु इस दशा में भी परमात्मा इन प्राणियों को किसी न किसी प्रकार सान्त्वना देता ही है और मनुष्यों को उन अत्याचारों के लिये दण्ड!

हमने ऊपर साढ़े छः लाख योनियों का वर्णन किया है। प्रत्येक योनि में करोड़ों व्यक्ति होते हैं। अकेले मनुष्य की इस भूमण्डल की गणना डेढ़ अरब के लगभग पहुंचती है। एक एक बिल में लाखों चीटियां होती हैं। इस प्रकार केवल पृथ्वीस्थ प्राणियों की संख्या ही इतनी अधिक है कि मनुष्य की गणना में नहीं आ सकती। यदि इतनी बड़ी संख्या को बिजली

बाढ़, दावानल आदि प्राकृतिक विपत्ति से मरने वालों का संख्या से तुलना की जाय तो दुःख का परिणाम बहुत ही कम सिद्ध होगा। जिस समय हम प्राणियों के दुःखों की गणना करते हैं उस समय हम उनके सुखों को संख्या को भूल जाते हैं। यदि मृत्यु सब से बड़ा दण्ड है तो वह जीवन में एक बार से अधिक नहीं आती। और आती भी है तो भयङ्करता से नहीं। इसी लिये हमने कहा था कि ईश्वर अपने जीवों को उतना ही दण्ड देता है जितना उनके सुधार के लिये आवश्यक है। सृष्टि के नियम जीवों को न केवल दुःखों से बचने में ही सहायक होते हैं किन्तु पापों से भी रोकते हैं।

इसलिये नास्तिकों की पाप तथा दुःख सम्बन्धी शङ्का में कुछ भी सार नहीं।

———

आठवां अध्याय

ईश्वर के गुण (३)

अनन्तता

छले अध्यायों में यह दिखाया गया है कि ईश्वर एक है, सर्वव्यापक है, चेतन है, सर्वशक्तिमान है और इसके साथ साथ भला और दयालु भी है। कम से कम हमारी सृष्टि तथा हमारा अन्तरात्मा दोनों इसके साक्षी हैं।

परन्तु आस्तिक लोग ईश्वर में एक और गुण मानते हैं अर्थात् अनन्तता।

प्रश्न यह है कि यह अनन्तता केवल चतुर मनुष्यों के मस्तिष्कों की उपज है या इसके लिए कुछ युक्ति भी है।

सब से बड़ा आक्षेप यह है कि मनुष्य सान्त है उसका मस्तिष्क भी सान्त ही है। फिर सान्त मनुष्य ईश्वर की अनन्तता को कैसे जान सकता है?

जानने के लिये दो बातें होती हैं एक तो किसी वस्तु को तर्क द्वारा सिद्ध करना और दूसरा मन द्वारा अनुभव करना। पहली बात तर्कशास्त्र (Logic) से सम्बन्ध रखती है और दूसरी मनोविज्ञान (Psychology) से। यह दोनों

शास्त्र एक दूसरे के विरुद्ध तो नहीं जाते क्योंकि तर्कशास्त्र का मूलाधार भी मनोविज्ञान ही है और होना चाहिये। परन्तु ऐसा बहुधा होता है कि मनुष्य किसी वस्तु का मन द्वारा अनुभव तो कर सके परन्तु तर्क द्वारा सिद्ध न कर सके। या तर्क द्वारा सिद्ध कर सके परन्तु उसके मन की शान्ति न हो। जिस बात को अनुभव और तर्क दोनों पुष्ट करते हैं उस पर मनुष्य का दृढ़ विश्वास हो जाता है।

हम यहां "अनन्तता," के भाव की मीमांसा करते हैं। प्रश्न यह उठाया गया है कि 'अनन्तता' के भाव में क्या आपत्ति है जो वह सान्त मस्तिष्क में न आ सके? इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि मनुष्य का मस्तिष्क सान्त है। इसकी सीमा का सभी अनुभव करते हैं। जो अद्वैतवादी वेदान्ती लोग मनुष्य के मस्तिष्क (अर्थात् जीव) को ब्रह्म ही मानते हैं वह तो कह देंगे कि जो व्यवहार में अल्प प्रतीत होता है वह तत्त्वतः अनन्त है। इसलिये अनन्त को अनन्तता का अनुभव करने में कुछ कठिनाई नहीं होती। परन्तु जीव को ब्रह्म मानने में इतनी आपत्तियां हैं कि हम उन लोगों से सहमत नहीं हो सकते और न अन्य सभी लोग उनका अनुकरण कर सकते हैं। इसलिये इस प्रश्न का उत्तर जीव की अल्पता को मान कर ही देना होगा।

वस्तुतः अनन्तता का भाव निषेधात्मक है। अर्थात् हम उस वस्तु को अनन्त कहते हैं जिसके अन्त का या तो हम अनुभव नहीं कर सकते या तर्क से सिद्ध नहीं कर सकते। यह दोनों बातें सान्त मस्तिष्क के लिये किसी प्रकार असम्भव नहीं हैं। हम नित्य संसार में अन्त वाली वस्तुयें देखा

करते हैं। कोई देश की अपेक्षा से परिमित हैं। कोई काल की अपेक्षा से। कोई दोनों की अपेक्षा से। जिस क़लम से मैं लिखता हूं वह एक छोटी सी वस्तु है। उसके किनारे हैं, उसमें लम्बाई, चौड़ाई और मुटाई है। इसलिये देश की अपेक्षा वह अन्त वाली है। वह सान्त प्रदेश को घेरे हुये है। यह क़लम अनादि नहीं है। इसको किसी ने बनाया था। इसको मैं अभी तोड़ कर जला सकता हूँ। फिर वह क़लम नहीं रहेगी। इस प्रकार काल की अपेक्षा से भी यह सान्त है। मुझे क़लम की सान्तता का अनुभव है। मेरे मस्तिष्क ने भली प्रकार जान लिया है कि क़लम सान्त वस्तु है। कुछ वस्तुयें ऐसी हैं जो क़लम से तो बड़ी हैं परन्तु फिर भी उनका अन्त है जैसे पहाड़। मैं पहाड़ की ओर देखता हूँ। मुझे उसकी चोटी दिखाई पड़ती है। मैं समझता हूँ कि यह चोटी ही पहाड़ का अन्त है। काल की अपेक्षा से भी मुझे अनुभव होता है कि यह पहाड़ कभी न कभी बना है। तर्क शास्त्र भी यही कहता है कि इस पहाड़ का कभी न कभी अन्त होगा। इस प्रकार पहाड़ की सान्तता का भी मुझे ज्ञान है। परन्तु जब क़लम मेरे सामने आती है तो उसकी सान्तता मुझे प्रत्यक्ष होती है। पहाड़ के सम्मुख खड़ा होकर जब देखता हूँ तो उसकी लम्बाई चौड़ाई का अन्त भी नहीं दिखाई देता। उस समय मेरे मन में यह भाव उत्पन्न होता है कि यद्यपि पहाड़ सान्त है तो भी देखने में मुझे उसके अन्त का पता नहीं चलता। यदि मैं तर्क न कर सकता तो शायद यह कहने के लिये तैयार हो जाता कि पहाड़ अनन्त है। अब देखना चाहिये कि वह कौन सी बात है

जो मुझे पहाड़ को अनन्त कहने के लिये बाधित करती है? अन्त का न होना या अनुभव न होना! सान्त मस्तिष्क के लिये यह स्वाभाविक बात है कि वह अन्त का अनुभव न कर सके। जितना सान्त मस्तिष्क होगा उतना ही वह छोटी से छोटी वस्तु के भी अन्त को अनुभव न कर सकेगा। जो बात मुझे पहाड़ के विषय में प्रतीत होती है वही एक चींटी को मेरे मकान की दीवार के विषय में प्रतीत होगी। जिस प्रकार हिमालय पहाड़ के तले खड़ा हो कर मैं न तो पहाड़ की चोटी देख सकता हूँ न उसके सिरे, इसी प्रकार चींटी को मेरे घर की दीवार के तले खड़ा हो कर उसकी चोटी या सिरों का अनुभव न होगा।

इससे यह सिद्ध हुआ कि मस्तिष्क की सान्तता अनन्तता के भाव को समझने में साधक है बाधक नहीं। बहुत से निषेधात्मक शब्द जिनका हम प्रयोग करते हैं इसी अपेक्षा से प्रयुक्त होते हैं और उनके निर्माण का कारण भी यही भाव है। उदाहरण के लिये हम समुद्र के तट पर खड़े होकर दृष्टि डालते हैं तो हमको पानी ही पानी दिखाई पड़ता है। कहीं उसका अन्त नहीं दीखता तो हम कहने लगते हैं कि अपार समुद्र है। 'अपारता' का अनुभव ही पार के न देखने से होता है। यदि हमारा शरीर इतना बड़ा होता और हमारी दृष्टि इतनी तीव्र होती कि बम्बई के पोत स्थल पर खड़े हो कर हम अफ्रीका का तट देख सकते तो हमारे मन में अरब सागर की अपारता का उसी प्रकार भाव न होता जैसे यमुना के तट पर खड़े होकर उसकी अपारता का भाव नहीं होता। यमुना के दोनों तट दीखते हैं परन्तु समुद्र के

नहीं दीखते। इसलिये एक को अपार कहते हैं और दूसरे को अपार नहीं।

वस्तुतः जब बच्चा उत्पन्न होता है उसी समय उसकी इच्छा वस्तुओं का पार या अन्त जानने की होती है। जब तक वह किसी चीज़ का अन्त नहीं जान पाता उस समय तक वह उसको अनन्त ही समझता है। इस प्रकार अनन्तता का भाव स्वभावतः ही हमारे हृदय में होता है। सान्तता ज्ञान के साथ बढ़ती है। इस लिये सान्त मस्तिष्क के लिये अनन्त वस्तु की अनन्तता का अनुभव करना दुष्कर नहीं। हां, अनन्त वस्तु को भली प्रकार समझ लेना न केवल दुस्तर ही है किन्तु असम्भव भी। क्योंकि जो वस्तु भली प्रकार समझ में आ गई वह सान्त हो गई अनन्त कहां रही? सैंकड़ों सान्त वस्तुयें ऐसी हैं जिन को सान्त मस्तिष्क अनन्त समझ सकता है परन्तु ज्ञान की वृद्धि पर उनको सान्त मानने लगता है। हां, जो वस्तु वस्तुतः अनन्त हैं उसकी अनन्तता ज्ञान के बढ़ने पर और भी अधिक अनुभव होने लगती है।

यहां प्रश्न यह उठता है कि यह मान लेने पर भी कि सान्त मस्तिष्क अनन्तता का अनुभव कर सकता है यह कैसे सिद्ध हो कि ईश्वर अनन्त है? जिस प्रकार ज्ञान की वृद्धि पर वह वस्तुयें भी जो पहले अनन्त मानी जाती थीं सान्त सिद्ध हुईं उसी प्रकार क्या यह सम्भव नहीं है कि जिस ईश्वर को थोड़ा ज्ञान वाले अनन्त समझते हैं उसको ज्ञान बढ़ने पर सान्त मानना पड़ जाय? सम्भव है किसी न किसी दिन हम ईश्वर का भी अन्त पालें, जैसे कई वस्तुओं का पा चुके है।

ईश्वर की अनन्तता के विरुद्ध एक और युक्ति दी जा सकती है। हमने सृष्टि की रचना को देखकर यह पता लगाया कि ईश्वर है। सृष्टि सान्त है। कोई नहीं कह सकता कि सृष्टि अनन्त है। अतः सृष्टि का रचयिता भी सान्त होना चाहिये। जिसकी क्रिया सान्त है वह अनन्त कैसे हो सकता है ?

इस आक्षेप का उत्तर स्पष्ट है। जो सान्त सत्ता है वह अनन्त क्रिया उत्पन्न नहीं कर सकती। जो अनन्त सत्ता है उसके लिये सान्त क्रिया करना दुस्तर या असम्भव नहीं। क्योंकि सान्तता अनन्तता के अन्तर्गत है।

हम अब ईश्वर की अनन्तता की मीमांसा करते हैं। हम ऊपर कह आये हैं कि किसी बात के मानने के लिये अनुभव और तर्क दोनों चाहियें। प्रथम तो अनुभव को लीजिये। हम दूसरे अध्याय में दिखा चुके हैं कि मनुष्य अल्प है। यदि सृष्टि-शिरोमणि मनुष्य ही अल्प हुआ तो अन्य प्राणियों की अल्पता में कोई सन्देह नहीं रह जाता। हम सृष्टि के जिस पदार्थ को देखते हैं वही पूर्णतया हमारी समझ में नहीं आता। उसका कोई न कोई अंश अज्ञात अवश्य रह जाता है। इसलिये हम अपने अनुभव से कह सकते हैं कि सृष्टि की प्रत्येक वस्तु और प्रत्येक घटना में अनन्त नियमों का हाथ है। सायंस आरम्भ से आज तक इन्हीं नियमों की खोज में लगी है। जितनी नियमों की खोज होती जाती है उतनी अज्ञात नियमों में वृद्धि होती जाती है। जितना जितना हम एक विषय का ज्ञान प्राप्त करते जाते हैं उतना ही वह अवश्य अधिक क्लिष्ट होता जाता है। प्याज़ के छिलकों के समान एक के भीतर दूसरा छिलका निकलता आता है। वस्तुतः हम को

ऐसा जान पड़ता है कि हम उस पक्षी के समान हैं जो आकाश की थाह लेने के लिये ऊपर उड़ता है। और जितना ऊँचा जाता है उतना ही उसको आकाश की विशालता का अधिक अनुभव होता जाता है। वस्तुतः ईश्वर की सृष्टि सान्त नहीं किन्तु अनन्त है। देश के विचार से भी और काल की अपेक्षा से भी।

प्रथम काल की अपेक्षा से लीजिये। क्या इस सृष्टि का आदि है? आप कहेंगे कि अवश्य है क्योंकि ईश्वर-सिद्धि का आरम्भ ही हमने इस कल्पना से किया था। इसमें सन्देह नहीं कि जिस सृष्टि को हम इस समय आंखों से देख रहे हैं वह अवश्य सादि है। परन्तु हमारा तात्पर्य स्वरूप से नहीं किन्तु प्रवाह से है। हमारे पूछने का तात्पर्य यह है कि क्या इस सृष्टि से पहले कभी सृष्टि न थी और क्या इसके पश्चात् न रहेगी। यदि कहो कि इससे पहले एक और सृष्टि थी या इसके पश्चात एक और सृष्टि रहेगी तो हम फिर उस सृष्टि के आगे या पीछे के विषय में प्रश्न करते जायंगे। और यदि आप यह उत्तर देते गये कि अमुक सृष्टि से भी पहले सृष्टि थी और अमुक सृष्टि के पश्चात् भी सृष्टि होगी तो हमारा सिद्धान्त ठीक हो जाता है कि सृष्टि का प्रवाह काल की अपेक्षा से अनादि और अनन्त दोनों है। जिस प्रकार दिन के पहले रात और रात के पहले दिन होता है इसी प्रकार बनना और बिगड़ना, जन्म और मृत्यु, रचना और प्रलय सब का प्रवाह चलता रहता है। इसीलिये संस्कृत में इसको संसार चक्र के नाम से पुकारा गया है। जिस प्रकार चक्र अर्थात् पहिये का आदि और

अन्त पाना दुस्तर है इसी प्रकार सृष्टि के प्रवाह का भी आदि और अन्त नहीं है।

कुछ मतानुयायी और विशेष कर ईसाई और मुसल्मान इस बात को नहीं मानते। मैं समझता हूँ कि इन दो धर्मों का सब से बड़ा दोष यही है कि वह सृष्टि के प्रवाह को अनादि और अनन्त नहीं मानते। यों कहना चाहिये कि इसी दोष ने उनके और कई सिद्धान्तों को अकथनीय अवस्था में छोड़ रक्खा है। एक इस बात के न मानने के कारण वह कई ऐसी बातों को मानने लग गये हैं जिनका उनके पास कोई प्रमाण नहीं। इस दोष ने उनसे बहुत सी ऐसी बातें मनवाली हैं जिनके कारण उनपर आक्षेपों की बौछार होती है और वह उसका उत्तर नहीं दे सकते। वे मानते हैं कि ईश्वर ने यह सृष्टि शून्य से उत्पन्न की और इसके पहले कोई सृष्टि न थी। सृष्टि का नेस्ती से हस्ती में लाना अर्थात् शून्य से उत्पन्न होना ऐसा सिद्धान्त है जिससे यदि ईश्वर को वर्त्तमान सृष्टि से पूर्व अन्य सृष्टियों का कर्त्ता भी माना जाय तो भी इस सृष्टि और पूर्व सृष्टियों में सम्बन्ध स्थापित नहीं होता।

यदि वस्तुतः वर्त्तमान सृष्टि ईश्वर की पहली ही कारीगरी है तो जो नास्तिक लोग इस सृष्टि में बहुत से दोष निकालते हैं उनसे कहने के लिये हो सकता है कि शायद दूसरी सृष्टि इससे अच्छी बन सके क्योंकि पहली कारीगरी की त्रुटियां दूसरी कारीगरी में सुगमता से दूर हो सकती हैं। परन्तु फिर वह ईश्वर ईश्वर नहीं रहता। न तो उस अर्थ में जिसमें हम ईश्वर को ईश्वर समझते हैं न उस अर्थ में जिसमें ईसाई और मुसल्मान ही उसको ईश्वर समझते हैं।

यदि वर्त्तमान सृष्टि ही ईश्वर की पहली सृष्टि होती तो सब से बड़ा प्रश्न यह उठता है कि बैठे बिठाये ईश्वर ने यह जंजाल अपने सिर क्यों बांध लिया ? उसको क्या सूझी ? किस बात ने उसको प्रेरणा की कि अब सृष्टि बननी चाहिये। जिस ईश्वर ने इस से पहले कभी सृष्टि उत्पन्न करने का विचार नहीं किया उसमें यकायक ज्ञान और क्रियायें कहां से आ गईं कि वह सृष्टि बनाने लग पड़ा ? यदि ज्ञान और शक्ति पूर्व से विद्यमान थी, तो अब तक वह शिथिल क्यों थीं और अब उनमें इतना भेद क्यों पड़ा ? यह तो कह नहीं सकते कि ईश्वर का यह स्वभाव था। स्वभाव तो तभी होता जब नित्य सृष्टि का बनना, बिगड़ना हुआ करता। यदि यह बात नित्य नहीं तो पहली अवस्था और दूसरी अवस्था में भेद का क्या कारण है ? जब कभी नई घटना होती है तो उसका कारण होता है। उसका कोई प्रयोजन होता है 'नई घटना' और 'उसके कारण' का सम्बन्ध हमारे मस्तिष्क में ऐसा बैठा हुआ है कि जब कभी नई घटना होती है तो मनुष्य स्वभावतः ही ऐसा प्रश्न कर बैठता है। मुझ से कोई आकर यह नहीं पूछता कि आज तुम ने क्यों सांस ली या आज तुम ने निमेष या उन्मेष क्यों किया ? क्योंकि वह जानते हैं कि सांस लेना या निमेष उन्मेष करना मेरा स्वभाव है। हां यदि मेरी सांस बन्द हो जाय या अधिक वेग से चलने लगे तो नूतन घटना समझ कर वह "क्यों' और 'किस लिये' की बौछार करने लगेंगे। इसी प्रकार यदि यह सृष्टि पहली ही बार बनी है तो स्वभावतः मनुष्य के हृदय में 'क्यों' और 'कैसे' का प्रश्न उठने लगता है।

मुसलमान और ईसाइयों की ओर से अब तक इस प्रश्न का कोई सन्तोष जनक उत्तर नहीं मिल सका। यह प्रश्न उनके हृदयों में भी उठा अवश्य और उठता क्यों न? जैसे वह मनुष्य, वैसे ही अन्य मनुष्य। ईसाई, मुसलमानों का मनोविज्ञान दूसरे मनुष्यों के मनोविज्ञान से भिन्न नहीं। वह दूसरे संसार मे नहीं रहते। परन्तु वह एक प्रकार की ऐसी सामाजिक परिस्थिति में रहा किये हैं कि उनको ऐसे प्रश्नों का उत्तर विचारने का कभी साहस नहीं हुआ और जब कभी हुआ भी तभी उनको अपनी जान के लाले पड़ गये। कुछ लोगों का तो यहां तक कहना है कि ऐसे प्रश्न करने का हम को अधिकार ही नहीं है हम क्यों ऐसे प्रश्नों को उठावें जिनका समाधान हमारी बुद्धि से परे है? परन्तु बात यह है कि प्रश्न उठाना हमारे अधिकार या वश में तो है नहीं। हमारी बुद्धि के अनुसार ही वह प्रश्न उठ खड़े होते हैं। यदि बुद्धि प्रश्नों के उठाने में सहायक या प्रेरक होती है तो वह उनका समाधान करने में भी अवश्य सहायता करेगी। कम से कम आस्तिक लोगों का तो यह मानना उचित या सुसंगत प्रतीत नहीं होता कि ईश्वर ने बुद्धि को हमें धोखा देने के लिये बनाया हो। यदि मनुष्य के पास कोई ऐसी वस्तु है जिसके द्वारा वह अपनी कठिन से कठिन समस्याओं का समाधान कर सकता है तो वह बुद्धि ही है। इससे इतर अन्य कोई वस्तु तो है नहीं। खाने पीने की छोटी से छोटी वस्तु से लेकर पारमार्थिक बड़े से बड़े प्रश्न का समाधान यही कर सकती है और व्यक्तियों या समाज की ओर से इसको दबाना मनुष्य जाति के सन्मार्ग में रोड़ा अटकाना

है। बहुत से लोगों ने अन्धविश्वास को आस्तिकता का चिह्न या रक्षक समझ रक्खा है इसी लिये वह कभी अपने धर्म के नेताओं या संस्थापकों के विषय में वैसे प्रश्न नहीं करना चाहते या कर सकते जैसे उनको नित्य प्रति अन्य विषयों में करने पड़ते हैं। वह पहले से ही उनमें कुछ दैवी शक्तियां मान बैठते हैं और इसलिये उनको माने हुये मनघड़न्त सिद्धान्तों पर भी विश्वास करना ही पड़ता है। जैसे यदि यह मान लिया गया कि ईसाई धर्म का पूज्य प्रवर्तक ईश्वर का इकलौता बेटा था या मुसलमानी धर्म का आदरणीय संस्थापक ईश्वर का एक विशेष दूत था तो फिर हम उन्हीं प्रश्नों को उठाना सुसंगत समझते हैं जो इन प्रवर्त्तकों के द्वारा समाधान हो सकते हैं। हम अपने धर्म रूपी भवन को रेत की नींव पर बना बैठते हैं और जब विशाल भवन खड़ा हो जाता है तो उस नींव की रक्षा को भवन की रक्षा के लिये अनिवार्य समझ कर उसको ठेस लगाना नहीं चाहते। परन्तु रेत की नींव फिर भी रेत की ही है और एक न एक दिन वह समस्त-भवन को ले गिरती है। नास्तिकता के प्रचार का अधिक कारण इसी प्रकार का विश्वास हुआ है। हमने ऊपर यह दिखाने का यत्न किया है कि सृष्टि प्रवाह से अनादि और अनन्त है। वस्तुतः अनादि और अनन्त दोनों का अर्थ एक ही है। अनन्त वही है जिसका अन्त न हो अर्थात् न होने से पूर्व और न होने के पश्चात्। सादि वस्तुयें अनन्त नहीं कही जा सकती क्योंकि उनका आदि से पूर्व अस्तित्व न होने के कारण एक सिरा होता है। जिस का एक सिरा है उसका दूसरा सिरा भी अवश्य होगा? एक

किनारे की नदी का अभाव है। काल स्वयं ही एक नित्य पदार्थ है जिसका आदि और अन्त कहीं नहीं। वस्तुतः इसी को नित्यता (Eternity) कहते हैं।

यदि देश की अपेक्षा से देखा जाय तो भी सृष्टि का अन्त नहीं है। सृष्टि रूपी श्रृङ्खला में इतनी कड़ियाँ हैं कि यद्यपि हम को कड़ियों का आदि अन्त दीखता है तथापि उस श्रृङ्खला का अन्त कहीं दिखाई नहीं पड़ता। यदि हम केवल इस बात पर विचार करें कि मनुष्य ने सृष्टि के कितने अंश को अभी ज्ञान पाया है तो हम को मनुष्य की अल्पता का भयानक अनुभव होता है। बड़े से बड़े ज्ञानी मनुष्य का ज्ञान या समस्त मनुष्य जाति के ज्ञान का योग उस ज्ञान से जो सृष्टि में उपस्थित है पहाड़ के सामने चींटी के समान भी तो नहीं है। संभव है गणितज्ञ लोग हिमालय पर्वत और चींटी के परिमाणों की निष्पत्ति (ratio) लगाने में सफल हो जायं परन्तु सृष्टि का परिमाण जानना असम्भव ही है। क्या हम सोच सकते हैं कि अमुक स्थान या अमुक प्रदेश पर सृष्टि समाप्त हो गई, अब उसके आगे कुछ नहीं है? बड़े से बड़े वैज्ञानिक से पूछो। देखें वह क्या कहता है? बड़े से बड़े ज्योतिषी से प्रश्न करो देखें वह क्या उत्तर देता है? क्या इनका विज्ञान और ज्योतिष दोनों एक ही बात सिद्ध नहीं करते अर्थात् सृष्टि की अनन्तता?

इस विषय में सर आलीवर लौज ने क्या अच्छा लिखा है :—

Let us admit, as scientific man, that of real origin, even of the simplest thing, we know

nothing; not even of a pebble. Sand is the debris of rocks and fresh rocks can be formed of compacted sand ; but this suggests infinity, not origin. Infininity is non-human and we shrink from it, yet what else can there be in space ? And if in space, why not in time also ? Much might be said here perhaps, but let it pass. We must admit that science knows nothing of ultimate origins. Which first, the hen or the egg ?—is a trivial form of a very real puzzle. That the world, in the sense of this planet, this homely lump of matter we call the earth—that this had an origin, a history, a past, intelligible more or less, growingly intelligible to the eye of science, is true enough. The date when it was molten may be roughly estimated ; the manner and mechanism of the birth of the moon has been guessed ; the earth and moon then *originated* in one sense ; before that they were part of a nebula, like the rest of the solar system ; and some day the solar system may again be part of a nebula, in consequence of collision with some at present tremendously distant mass. But all that is nothing to the Universe ; nothing even to the visible universe. The collisions there take

place every now and again before our eyes. The universe is full of lumps of matter of every imaginable size; the history of a solar system may be written—its birth and also its death, separated perhaps by millions of millions of years; but what of that? It is but an episode, a moment in the eternal cosmogony, and the eye of history looks to what happened before the birth and after the death of any particular aggregate; just as a child may trace the origin and the destruction of a soap bubble, the form of which is evanescent, the material of which is permanent. (Man and the Universe, by Sir Oliver Lodge pp. 29-30).

"सायंस जानने वालों की हैसियत से हम को स्वीकार कर लेना चाहिये कि सरल से सरल वस्तु यहां तक कि कंकड़ के भी आदि मूल का हम को कुछ ज्ञान नहीं। चट्टानों के टूटने फूटने से रेत बनता है और उसी रेत से इकट्ठा होकर फिर चट्टानें बन सकती हैं। परन्तु इससे अनन्तता का पता चलता है न कि आदि मूल का। अनन्तता मनुष्य के ज्ञान से परे है और हम उससे भागते हैं, परन्तु अवकाश में और हो भी क्या सकता है? और जो बात अवकाश के विषय में है वही काल के विषय में भी क्यों नहीं? शायद इस सम्बन्ध में बहुत कुछ कहा जा सकता है। परन्तु जाने दो। हम को यह मानना पड़ेगा कि सायंस को आदि मूल

का कुछ भी ज्ञान नहीं। पहले क्या था मुर्गी या अण्डा? यह उस जटिल समस्या का एक साधारण रूप है। यह सत्य है कि इस पृथ्वी का, अर्थात् इस ग्रह का जो मिट्टी का बना हुआ एक लोथड़ा है आरम्भ अवश्य था, और इतिहास भी अवश्य था। सायंस को अवश्य इसका कुछ न कुछ ज्ञान है। उस समय का भी पता लग ही सकता है जब यह पिघली हुई वस्तु थी। चांद कैसे और किसके द्वारा उत्पन्न हुआ इसकी भी अटकल लगाली गई है। इस प्रकार एक अर्थ में पृथ्वी और चांद दोनों की उत्पत्ति अवश्य हुई। इससे पहले वह शेष सौर्य्यमण्डल के समान एक नैवूला (Nebula) का भाग था और सम्भव है कि यह सौर्य्यमण्डल फिर किसी दूरस्थ बड़ी वस्तु से टकराकर फिर नैवूला के रूप में हो जाय। परन्तु सृष्टि के सामने यह कुछ नहीं। इन्द्रियगोचर सृष्टि के सामने भी यह कुछ नहीं। हमारी आँखों के सामने नित्य प्रति ही वस्तुयें टकराया करती हैं। सृष्टि में भिन्न २ परिमाण के प्रकृति के ढेर हैं। सम्भव है कि एक सौर्य्यमण्डल का इतिहास लिखा जा सके। इसका जन्म भी और इसकी मृत्यु भी! चाहे उनमें अरबों वर्षों का अन्तर ही क्यों न हो। परन्तु इससे क्या? यह तो जीवन का एक छोटा सा भाग है। अनन्त सृष्टि का क्षण-मात्र है। इतिहास की आंख तो जन्म के पहले और मृत्यु के पीछे की दशा जानने को उत्सुक है! जिस प्रकार कि बच्चा साबुन के बुलबुले के आदि और अन्त को। इस का रूप क्षणिक है परन्तु जिससे वह बना है वह नित्य है "(सर आलीवर लाज कृत "मनुष्य तथा सृष्टि")

अनन्त नियम, अनन्त देश और अनन्त काल के लिये इनका अनन्त नियन्ता और अनन्त स्वामी भी अवश्य ही चाहिये। इसलिये ईश्वर अनन्त है। यदि सान्त होता तो कभी सृष्टि बना ही नहीं सकता था। डीन इंज (W. R. Inge) का कथन है कि:—

" The spirit who makes the world and sees it as it is must be a transcendent god ; for finite spirits do not know the external world as it is ; none of them know much of it ; and there are parts of it which are entirely unknown to any finite mind. By far the largest part of the ponderable matter in the universe is withdrawn from the knowledge of any finite living being. My view of the world depends, therefore, on the belief that the creator of the universe lives his own life not in it but above it ".

(Contemporary British Philosophy by J. H. Muirhead—Philosoply and Religion by W. R. Inge p. 194).

"जो चेतन शक्ति संसार को बनाती है और उसको नियम में रखती है उसके लिये अनन्त होना आवश्यक है। क्योंकि सान्त जीव यह नहीं जानते कि ऊपरी दुनिया कैसी है। इनमें से कोई सृष्टि के विषय में अधिक ज्ञान नहीं रखते। इसके बहुत से भाग तो ऐसे हैं जिनका सान्त जीवों

को कुछ भी ज्ञान नहीं। सृष्टि का बहुत सा विचारणीय भाग किसी सान्त जीव को ज्ञात नहीं। इसलिये सृष्टि के विषय में जो कुछ धारणा की जाय वह यही मानकर की जा सकती है कि सृष्टिकर्त्ता अपना जीवन सृष्टि के भीतर नहीं किन्तु उसके ऊपर बिताता है अर्थात् वह सर्वोपरि है। यही महाशय आगे चलकर कहते हैं :—

"The world reflects, in an imperfect medium, the mind and nature of its creator. It is perpetual, as its creator is eternal; it is boundless as its creator is infinite; it is regular, as its creator is changeless; it is rational, as its creator is all-wise" (p. 198).

"सृष्टि पर ईश्वर की बुद्धि तथा प्रकृति की एक अपूर्ण छाया पड़ती है। सृष्टि सदा रहती है क्योंकि इसका रचयिता नित्य है, यह अनन्त है क्योंकि इसका बनाने वाला अनन्त है। सृष्टि नियमित है क्योंकि इसका बनाने वाला एक रस है। सृष्टि बुद्धिमय है क्योंकि कि उसका कर्त्ता बुद्धिमान है" (पृ० १९८)

वेदों में ईश्वर की अनन्तता के विषय में बहुत उत्तम प्रमाण उपस्थित हैं। जैसे

यो भूतं च भव्यं च सर्वं यश्चाधितिष्ठति।

(अथर्व वेद काण्ड १०।२३।४।१)

अर्थात् ईश्वर भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान तीनों कालों से परे है (He transcends time)

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।
स भूमिँ सर्वतःस्पृत्वाऽत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ॥

(यजुर्वेद अ० ३१ मं० १)

ईश्वर अनन्त मस्तिष्कों (बुद्धि) वाला, अनन्त आंखों (दर्शनशक्ति) वाला, अनन्त पैरों (क्रिया शक्ति) वाला है। वहसृष्टि को चारों ओर से घेरकर उससे भी ऊपर रहता है।

(यो भूतं च भव्यं च सर्वं यश्चाधितिष्ठति) डीन इंज कहता है कि ईश्वर सृष्टि में नहीं किन्तु उससे परे या ऊपर रहता है (The creator of the Universe lives his own life not in it but above it). परन्तु वेद कहता है कि वह सृष्टि के भीतर और बाहर सभी स्थानों पर है। सृष्टि में रहने के कारण ही उसको "पुरुष" नाम से पुकारा गया है वेद की दृष्टि में सृष्टि ईश्वर से अलग कोई ऐसी वस्तु नहीं है जिस पर ईश्वर की छाया पड़ती हो (imperfect medium of reflection) किन्तु ईश्वर से व्याप्त है।

एक अन्य स्थान पर इस अनन्तता का दूसरे रूप में वर्णन किया है :—

एतावानस्य महिमाऽतो ज्यायांश्च पूरुषः। पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि।

"इतनी उसकी महिमा है। परन्तु ईश्वर उससे बड़ा है। समस्त सृष्टि उसका एक चौथाई भाग है। तिगुना भाग तो अमृत है।"

कहने का तात्पर्य यह है कि जो कुछ हमको सृष्टि में दिखाई देता है वह तो केवल एक अंश मात्र है। इसका

अधिक भाग जो अमृत है वह तो इससे अलग है। सृष्टि रचा हुआ पदार्थ है। नित्य नहीं। अतः इसमें ईश्वर का अमृतत्व कैसे दिखाई दे सकता है ? जो लोग सृष्टि को देख कर उसकी इयत्ता समझ बैठते हैं वह भूलते हैं। स्वामी दयानन्द ने ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका में इसी मन्त्र का अर्थ करते हुये लिखा है:—

"अस्य पुरुषस्य भूतभविष्यद्वर्त्तमानस्थो यावान् संसारोस्ति तावान् महिमा वेदितव्यः। एतावानस्य महिमास्ति चेत्तर्हि तस्य महिम्नः परिच्छेद इयत्ता जातेति गम्यते। अत्र ब्रूते नैतावन् मात्र एव महिमेति। किं तर्हि। अतोऽप्यधिकतमो महिमानन्तत्तस्यास्तीति गम्यते। अत्राह (पादोऽस्य०) अस्यानन्तसामर्थ्यस्येश्वरस्य (विश्वा) विश्वानि प्रकृत्यादिपृथ्वीपर्य्यन्तानि सर्वाणि भूतान्येकः पादोऽस्ति एकस्मिन्देशांशे सर्वं विश्वं वर्त्तते। (त्रिपादस्या०) अस्य दिवि द्योतनात्पके स्वस्वरूपेऽमृतं मोक्ष सुखमस्ति। (पृ० १२१)

तात्पर्य यह है कि ईश्वर का अमृत रूपी स्वस्वरूप केवल सान्त सृष्टि को देखने से ही समझ में नहीं आता। ईश्वर अनन्त है उसकी अनन्तता उसके अमृतत्व में है। वस्तुतः अमृतत्व ही अनन्तता है क्योंकि उसका उलटा, "मृतत्व" सान्तता का द्योतक है।

अब प्रश्न यह होता है कि ईश्वर को अनन्त मानने की क्या आवश्यकता है ? क्या सान्त ईश्वर से हमारा काम नहीं चल सकता ? यदि यह मान लिया जाय कि ईश्वर एक स्थान विशेष पर उपस्थित है और अमुक समय से अमुक समय तक वहाँ रहता है तो इसमें क्या हानि होगी ? क्या स्वयं आस्तिकों का ऐसा ही विचार नहीं है ? हम

ईसाइयों के धर्म ग्रन्थों में पढ़ते हैं कि ईश्वर चौथे आस्मान या आकाश में विराजमान् है। मुसलमानों के धर्म ग्रन्थ केवल आकाश के क्रम को बढ़ा कर चौथे से सातवां कर देते हैं। हिन्दुओं के पुराणों में विष्णु जी के लिये विष्णु-लोक और क्षीर सागर आदि विशेष शयनागार उपस्थित हैं। ऐसे ही अन्य भिन्न २ धर्म ग्रन्थों में अन्य स्थान माने गये हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि ऊपर के स्थान-विशेषों से ईश्वर की अनन्तता का खण्डन होता है। परन्तु हमारा तात्पर्य यहाँ प्रत्येक धर्म की प्रत्येक बात को पुष्ट करने का नहीं है। इन धर्मों में यह बातें कैसे प्रविष्ट हो गईं यह एक दूसरी कथा है और उसके वर्णन के लिए यह उचित स्थल नहीं है। पहली बात तो हम यह कहना चाहते हैं कि जिन धर्म ग्रन्थों में ईश्वर के लिए बड़े मनोरञ्जक और मनुष्य के लिए चित्ताकर्षक भवन बताये गये हैं उन्हीं धर्म ग्रन्थों में ईश्वर की अनन्तता की भी झलक पाई जाती है। अर्थात् सब धर्मों में एक बात सामान्य है वह है ईश्वर की अनन्तता। हां इसके साथ ही साथ भिन्न २ धर्म ईश्वर के भिन्न २ स्थान भी बताते हैं। यह परस्पर विरोध है जिसको दूर करना उन धर्म ग्रन्थों के पढ़ने वालों का काम है। दूसरी बात यह है कि इन धर्म के अनुयायियों ने स्वयं इन स्थानों को स्थान विशेष न मान कर अलङ्कार सिद्ध करना आरम्भ कर दिया है। आज शायद ही कोई शिक्षित ईसाई या मुसलमान होगा जो चौथे या सातवें आकाश को अटारी के समान मानता हो या कोई बिरला ही हिन्दू पौराणिक होगा जो

क्षीर सागर को ऐसा समुद्र मानता है। जिसमें विष्णु जी मछली के समान। आनन्द विहार करते हों।

फिर यदि यह मान भी लिया जाय कि इन धर्मों ने ईश्वर को अनन्त नहीं माना तो भी क्या? हम ऊपर सिद्ध कर चुके हैं कि अनन्त सृष्टि के लिये अनन्त ईश्वर की आवश्यकता है। यदि कल्पना कर ली जाय कि ईश्वर एक स्थान विशेष पर है। तो उसके आगे क्या होगा? शून्य? फिर शून्य भी तो समझ में नहीं आता। क्या शून्य वस्तु विशेष का नाम है? तो फिर शून्य कैसा? यदि शून्य सभी के अभाव का नाम है तो यह अभाव कैसे स्थित हो सकता है? यह बात मानवी मस्तिष्क में नहीं आ सकती। और न ईश्वर का उत्पन्न होना ही समझ में आ सकता है। यदि ईश्वर उत्पन्न हुआ तो किससे और किसके द्वारा? यदि ईश्वर का भी पिता या बनाने वाला है तो उस पिता का भी कोई पिता होगा और इस प्रकार प्रश्नों का कहीं अन्त नहीं होगा। यदि ईश्वर स्वयं ही उत्पन्न हो गया तो अन्य वस्तुयें भी स्वयं ही उत्पन्न क्यों नहीं हो जाती? जिस ईश्वर को स्वयं उत्पन्न होने की आवश्यकता है वह कभी दूसरी वस्तुओं को उत्पन्न नहीं कर सकता।

वस्तुतः ईश्वर किन्हीं दो वस्तुओं के मेल से बना नहीं है। अतएव उसका बनना सिद्ध नहीं होता। जो वस्तु बनी नहीं वह समय की अपेक्षा से अवश्य ही अनन्त होगी। इसमें सन्देह नहीं है।

इससे ईश्वर हर प्रकार से अनन्त सिद्ध होता है।

कुछ लोगों का आक्षेप है कि ईश्वर को सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, सर्वज्ञ आदि नामों से पुकारा गया है। अतः वह अनन्त नहीं हो सकता क्योंकि 'सर्व' शब्द से ही सान्तता प्रकट होती है। 'सब मनुष्य' 'सब वस्तुयें' 'सब स्थान'। इन सब वाक्यांशों में 'सब' शब्द सान्तता का वाचक है। या तो ईश्वर को सर्वव्यापक कहो या अनन्त। या सर्वज्ञ कहो या अनन्तज्ञ। दोनों कहना एक ही ईश्वर में परस्पर विरुद्ध गुणों का आरोपण करना है। जब तक 'अन्त' या 'सीमा' का ज्ञान नहीं होता उस समय तक हम 'सब' शब्द का प्रयोग ही नहीं कर सकते।

हमारी दृष्टि में यह आक्षेप इतना सारगर्भित नहीं है जितना समझा जाता है इसमें अधिकतर खाल रहित बाल की खाल निकालने की कोशिश की गई है। इसमें सन्देह नहीं कि 'सब' शब्द से 'सीमा' का भाव प्रतीत होता है। परन्तु 'सब' कह देने से अनन्तता का खण्डन नहीं होता। मैं ईश्वर के लिये तीन शब्द कह सकता हूं। ईश्वर अनन्तज्ञ है ईश्वर सर्वज्ञ है और ईश्वर हृदयज्ञ है। अर्थात ईश्वर को "अनन्त वस्तुओं" का ज्ञान है, "सब वस्तुओं" का ज्ञान है और "मेरे हृदय" का ज्ञान है। इन तीनों में उत्तरोत्तर वाक्य संकुचित विचारों का बोधक है। परन्तु इनमें न तो परस्पर विरोध है न एक दूसरे का खण्डन है। क्योंकि जो ईश्वर अनन्त है वह उन वस्तुओं में भी होगा जो मेरे विचारानुसार 'सब' शब्द से संज्ञात होती हैं। इसी प्रकार जो ईश्वर "सब वस्तुओं" में है उसके 'मेरे हृदय' में होने में सन्देह ही क्या रहा? जिसको समस्त पुस्तक का ज्ञान है उसे उसके एक पृष्ठ का भी है।

इस लिये जो ईश्वर अनन्त ज्ञान वाला है उसमें वह सब ज्ञान तो अवश्य होगा जिसे मैं "सब" नाम से पुकारता हूं। और यदि उसमें सब ज्ञान है तो 'सब' के अन्तर्गत होने से मेरे हृदय का ज्ञान भी उसमें अवश्य होगा। इसलिये ईश्वर के लिये 'सब' शब्द का प्रयोग करना उसकी अनन्तता का किसी प्रकार भी विरोधी नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः 'सब' शब्द के भीतर भी अनन्तता का संकेत उपस्थित है। हम 'सब' शब्द उसी के लिये प्रयोग में लाते हैं जो हमारी विचार-परिधि के भीतर आ सकता है। परन्तु इसके साथ ही साथ हमको अपने विचारों की सीमा का भी अनुभव होता है। मैं किसी ऊंचे टीले पर खड़ा होकर अपनी दृष्टि फैलाता हूँ तो वह एक नियत सीमा तक ही पहुंच सकती है। परन्तु इसके साथ ही साथ मैं यह नहीं समझ लेता कि सृष्टि उतनी ही है जितनी दूर तक मेरी दृष्टि जा रही है। मेरा आन्तरिक भाव यह होता है कि सृष्टि इससे बहुत आगे है और मेरी आन्तरिक इच्छा भी यही होती है कि यदि किसी प्रकार मेरी दृष्टि कुछ अधिक बढ़ जाती तो मैं इस नियत सीमा के बाहर की सृष्टि भी देख लेता। दृष्टि की संकीर्णता सृष्टि की संकीर्णता की सूचक नहीं है और न यह भाव मेरे हृदय में ही उत्पन्न होता है। मैं 'सब' शब्द तो उन वस्तुओं के लिये प्रयुक्त करता हूं जो दृष्टि की सीमा के अन्तर्गत हैं परन्तु उसके साथ ही साथ मैं यह भी जानता हूं कि सबसे आगे कुछ और है जिस के लिये अनन्त शब्द ही उपयुक्त हो सकता है।

कुछ लोग कह सकते हैं कि यदि तुम्हें अनन्तता का ज्ञान है तो वह अनन्तता परिमित हो जाने से अनन्तता नहीं रह

सकती। अर्थात् हमारी बुद्धि परिमित होने से उसके अन्तर्गत जो कुछ आयेगा वह परिमित होगा और यदि अनन्तता का ज्ञान नहीं है तो भी अनन्ता कोई वस्तु नहीं ठहरती। जिसका हमको ज्ञान ही नहीं उसके विषय में हम क्या कह सकते हैं? इस प्रकार दोनों प्रकार से अनन्तता का खण्डन हो जाता है और हम ईश्वर को अनन्त नहीं कह सकते।

परन्तु यह आक्षेप भी ऐसा ही निस्सार है जैसा इससे पहले का आक्षेप था। इस आक्षेप का मूल कारण यह है कि हम मानवी विचारों की गति का भली भांति निरीक्षण नहीं करते। वस्तुतः हमको अनन्तता का ज्ञान तो है परन्तु पूर्ण ज्ञान नहीं। यह बात न केवल अनन्तता के विषय में ही ठीक है किन्तु सान्त वस्तुओं के लिये भी। मेरे हाथ में लेखनी है। लेखनी एक परिमित या सान्तवस्तु है। परन्तु क्या मुझे इसका पूर्ण ज्ञान है? बड़े से बड़े विद्वान को भी इसके सम्बन्ध में बहुत सी बातों का ज्ञान न होगा। जब मनुष्य को सान्त वस्तुओं का ही पूर्ण ज्ञान नहीं तो अनन्त वस्तुओं का पूर्ण ज्ञान कैसे हो सकता है? वस्तुतः यदि हम अनन्तता के ज्ञान के विश्लेषण का प्रयत्न करें तो ज्ञात होगा कि उसमें दो भाव विद्यमान हैं। एक तो किसी वस्तु के विषय के कुछ ज्ञान का भाव और दूसरे अधिक ज्ञान न होने का भाव। यदि अन्धे को कुछ नहीं दीखता तो इसके साथ ही साथ वह यह नहीं समझ लेता कि चूंकि मैं कुछ नहीं देख सकता इसलिये कोई चीज़ है ही नहीं। यदि ऐसा होता तो अन्धे को अपने अन्धेपन का अनुभव न होता। परन्तु ऐसा नहीं है। वह नित्य प्रति अपने अन्धेपन का अनुभव करता है और उस पर खेद प्रकट करता है। यदि

उससे कोई कहे कि मैं तुम्हारा अन्धापन दूर कर दूंगा तो उसे अत्यन्त हर्ष होता हैं। इसी प्रकार न्यून-दृष्टि वालों का हाल है। इस लिये यह कहना ठीक नहीं कि हमारा मस्तिष्क सान्त होने से हमको अनन्तता का ज्ञान होई नहीं सकता।

ईश्वर के लिये 'अनन्त' के अतिरिक्त 'अजन्मा' 'अनादि' 'अनुपम' 'अजर' 'अमर' आदि शब्द भी प्रयुक्त होते हैं। इनको 'अनन्त' का ही रूपान्तर समझना चाहिये। जो अनन्त है वह अनादि अवश्य होगा। क्योंकि आरम्भ और अन्त दोनों ही किसी वस्तु या घटना के दो तट या सीमायें हैं। इन दोनों को ही अन्त कह सकते हैं। जो अनन्त है वह अजर और अमर भी अवश्य होगा क्योंकि 'जरा' तथा 'मृत्यु' दोनों ही अनन्तता के बाधक हैं। 'अजर' 'अमर' आदि शब्दों का प्रयोग केवल 'अनन्तता' पर बल देने के लिये है।

अनन्तता के सम्बन्ध में केवल दो प्रश्न और हैं जिनका हम इस स्थान पर वर्णन करना चाहते हैं। सम्भव है कि साधारण पाठक गण को इस अध्याय से कुछ विशेष आल्हाद न हुआ हो। परन्तु अस्तिकवाद के साथ अनन्तता का इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि इसकी मीमांसा करनी अत्यावश्यक थी।

पहला प्रश्न तो यह है कि यदि ईश्वर अनन्त है तो क्या और यदि सांत है तो क्या? हमारे व्यावहारिक जीवन में ईश्वर की अनन्तता का क्या उपयोग है? हम अनन्तता की मीमासां में माथापच्ची क्यों करें। यदि हम ईश्वर को सांत ही मान लें तो हमारी क्या हानि होगी। और यदि हम

सान्तता और अनन्ता के झमेले को ही छोड़ दें तो क्या हानि होगी ?

इसका सीधा उत्तर यह है कि हमारे हृदय पर अनन्तता का जितना विशाल प्रभाव पड़ता है उतना 'सान्तता' का नहीं पड़ सकता आस्तिकवाद कोई ऐसी वस्तु नहीं है जिसको अपनी इच्छा के अनुसार ग्रहण या त्याग किया जा सके। इसका सम्बन्ध मानवी मस्तिष्क से है। इसका जीवन पर विशेष प्रभाव पड़ता है। आस्तिक और नास्तिक दोनों के जीवन एक से नहीं हो सकते। मैडेम ब्लैवेट्स्की ने सच कहा है:—

No God, no soul? Dreadful, annihilating thought! The maddening nightmare of a lunatic—atheist; and presenting before his fevered vision, a hideous, ceaseless procession of sparks of cosmic matter created by *no one*; self-appearing, self-existant, and self-developing; this self *no* self, for it is *nothing* and *nobody*, floating onward from *nowhence*, it is propelled by no cause for there is none, and it rushes *nowhether*. And this in a circle of Eternity blind, inert, and—*causeless*. (Isis Unveiled vol I, XXIV).

"ईश्वर भी नहीं ? जीव भी नहीं ? भयानक विनाशकारी कल्पना ! उन्मत्त का प्रमाद नास्तिक का अपनी मनोचक्षु के सम्मुख प्रकृति की चिनगारियों की अपरिमित श्रृङ्खला के ऐसी कुरूप की कल्पना करना जिसकी उत्पत्ति शून्य से हुई, जो स्वयं

ही प्रकट हुआ, स्वयं ही स्थित है और स्वयंही विकसित होता है—यह "स्वयं" भी कुछ नहीं, क्योंकि न यह कोई शक्ति है न पुरुष है—प्रवाहित हो रहा है परन्तु कहीं सेन हीं। इसका कारण कोई नहीं क्योंकि कारण का सर्वथा अभाव है—और यह जा रहा है परन्तु कहीं को नहीं। यह अनन्तकाः चक्र है, अन्धा, निष्क्रिय और अकारण"।

नास्तिकता के विषैले प्रभाव से जीवन तभी बच सकता है, जब वह अपने परमात्मा की अनन्तता का विचार करता है। अनन्तता का भाव उसके हृदय में श्रद्धा उत्पन्न करता है। उसे विशाल और उदार बनाता है और उसको अधः पतन से बचा लेता है। अनन्त ईश्वर की अनन्त सृष्टि की ओर आंख उठाने से ही मनुष्य के हृदय में एक अकथनीय प्रभाव पड़ता है जिसको वाणी वर्णन नहीं कर सकती और क़लम लिख नहीं सकती। यद्यपि मनुष्य की परिमित आंख सृष्टि के परिमित भाग को ही देख सकती है और यद्यपि विशाल सष्टि में छोड़ देने से भी वह अपने लिये एक परिमित घेरा ही बनाती है तथापि आंख के भीतर अपार सूर्य प्रकाश में विचरने की एक आन्तरिक इच्छा है जिसको प्रत्येक मनुष्य की प्रत्येक आंख अनुभव करती है। इस आन्तरिक इच्छा का उपयोग साधारणतया मालूम नहीं पड़ता। परन्तु इसका उपयोग अवश्य है। उपयोग न होता तो इच्छा क्यों होती? इच्छा है तो वह इस बात की भी सूचक है कि यह इच्छा और इस इच्छा की पूर्त्ति आंख के लिये अवश्य लाभ प्रद होगी। आप कमरे के भीतर पुष्कल

प्रकाश में पुस्तक पढ़ते रहें। परन्तु जिस समय कमरे के बाहर निकल कर आप अनन्त प्रकाश का सहारा लेंगे उसी समय आपको एक अपूर्व आनन्द प्राप्त होगा। जो नित्य प्रति बन्द कमरों में काम करते रहते हैं उनको पुष्कल प्रकाश मिलते हुये भी उनकी आंखों में विकार उत्पन्न हो जाता है। क्योंकि आंख की वह इच्छा जो उसे अपनी अल्पता के साथ विश्व की अनन्तता का सम्बन्ध जोड़ने के लिये प्रेरित करती है पूरी नहीं होती। यही दशा जीव की है। जीव अल्प है, उसका मस्तिष्क अल्प है, उसकी अन्तःकरण की दृष्टि भी अल्प है। परन्तु इस सब अल्पता के होते हुये भी उसको अनन्त विश्व की अनन्तता से सम्बन्ध जोड़ने में जो आनन्द होता है वह अन्यथा नहीं होता। ऋग्वेद में एक मंत्र आता है।

तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः। दिवीव चक्षुराततम् ॥

अर्थात (सूरयः) बुद्धिमान लोग (विष्णोः) अनन्त परमात्मा के (तत् परमं पदं) उस परम पद की ओर (सदा पश्यन्ति) सदा उसी प्रकार देखा करते हैं जैसे (आततं) खुली हुई (चक्षुः) आंख (दिवि) सूर्य्य को।

जीव और ईश्वर के सम्बन्ध को दिखलाने के लिये 'आंख' और सूर्य्य के सम्बन्ध से बढ़कर उत्तम कोई दृष्टान्त नहीं है। सूर्य्य के आनन्द को 'आततं चक्षु' अर्थात् खुली हुई आंख ही देख सकती है। रोग ग्रसित आंख उससे आनन्द नहीं पा सकती। इसी प्रकार सुविकसित हृदय अपार ईश्वर के सम्बन्ध से जो आनन्द उठाता है वह अविकसित हृदय को प्राप्त नहीं हो सकता। अल्प जीव का अनन्त ब्रह्म

के साथ सम्बन्ध हो विकास है और इस अनन्तता के पूर्ण-अनुभव को ही वैदिक साहित्य में मुक्ति के नाम से पुकारा गया है। परन्तु पूर्ण विकास एक साथ ही नहीं आ जाता। धनपतियों को अपना कोष भरने के लिये एक एक कौड़ी जोड़नी पड़ती है। इसी प्रकार उस पूर्ण विकास की प्राप्ति से पहले जब कि जीव "ब्रह्मविद् ब्रह्म एव भवति" का अनुभव करता है, उसे विकास की छोटी छोटी श्रेणियां से होकर गुजरना पड़ता है, यह श्रेणियां उसकी उन्नति की श्रेणियां हैं, इनमें वह उस अनन्तता के अनुभव करने का अभ्यास करता है, ज्यों ज्यों अभ्यास बढ़ता जाता है उसकी भूख भी बढ़ती जाती है। एक बार अनन्त सृष्टि की अनन्तता के भीतर विचरने से ही ऐसी प्रफुल्लता उत्पन्न होती है कि वह फिर संकुचित घेरे में रहना पसन्द नहीं करता। जो पक्षी अपार आकाश में उड़ने का अभ्यासी है वह पिंजड़े में रहना क्यों चाहेगा? पिंजड़ा छोड़कर आकाश में उड़ना ही विकास का आरम्भ है और तुच्छ पिंजड़े से घृणा तथा विकसित आकाश से अटूट्य प्रेम हो जाना ही विकास का अन्त है। इसका यह तात्पर्य्य नहीं है कि पक्षी को उस समस्त आकाश की आवश्यकता है। एक प्रकार से आवश्यकता है भी और एक प्रकार से नहीं। यदि पक्षी की उड़ान को ही जीवन का उद्देश्य माना जाय तो उसे केवल उतने ही आकाश की आवश्यकता होती है जिसमें वह भली भांति उड़ सकता है। परन्तु उड़ान एक और उद्देश्य का साधन मात्र है वह केवल उसके विकास में एक श्रेणी है। उड़ान का उपयोग यह भी है

कि पत्ती की अल्पता का आकाश की अनन्तता से सम्बन्ध हो जाय। इस सम्बन्ध के लिये नपे तुले आकाश से काम नहीं चलता इसके लिये तो अनन्त आकाश ही चाहिये।

कहते हैं कि जल मनुष्य की तृष्णा के लिये आवश्यक है। मैं पूछता हूँ कितना जल? एक गिलास या दो गिलास? इतने से उसकी तृप्ति हो सकती है। परन्तु फिर मनुष्य के हृदय को समुद्र के तट पर खड़े हो कर देखने से क्यों विशेष आनन्द होता है? क्या मनुष्य समस्त समुद्र का जल पी जायगा? क्या उसे उसकी आवश्यकता है? आवश्यकता है परन्तु शारीरिक प्यास बुझाने के लिये नहीं। आवश्यकता है अनन्तता से सम्बन्ध जोड़ने के लिये, आवश्यकता है आन्तरिक अल्पता को कम करने के लिये, आवश्यकता है अपना हृदय विशाल बनाने के लिये।

प्लेटो (Plato) से पूछिये वह क्या कहता है:—

"Beyond all finite existences and secondary causes, all laws, ideas, and principles, there is an *intelligence, mind* (nous, the spirit), the first principle, of all principles, the Supreme Idea on which all other ideas are grounded; the Monarch and the Law giver of the Universe; the ultimate substance from which all things derive their being and essence, the first and efficient *cause* of all the order, and harmony, and beauty, and excellency, and goodness, which pervades the Universe—who is called, by way of pre eminence

and excellence, the Supreme Good, the God (o theos), the God over all". (o epi pantin theos)

(Cocker : Christianity and Greek 'Philosopy' quoted in the Isis Unveiled p. XVIII).

"सब अल्प सत्ताओं के परे, सब गौण कारणों, नियमों, विचारों और सिद्धान्तों के उस पार एक बुद्धि या ज्ञान (आत्मा) है जो सब नियमों का आदि मूल नियम है। वह परम विचार है जो अन्य विचारों का आधार है। वही सृष्टि का राजा तथा नियन्ता है। वह आदि मूल सत्ता है जिससे सब पदार्थ अपने स्वत्व तथा तत्व को प्राप्त करते हैं। यह समस्त सङ्गठन, सौन्दर्य, तथा उत्तमता का जो सृष्टि में व्यापक है, मूल कारण है। इसी को श्रेष्ठता तथा सर्वोपर्यता के कारण, परम उत्तमता या ईश्वर कहते हैं। यही सब का अधिष्ठाता है।"

इसी भाव को नीचे लिखे उपनिषद् वाक्य में दिखाया गया है।

नित्योऽनित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान् (क० २।५।१)

दूसरा प्रश्न यह है कि ज्ञानोन्नति से अनन्तता के भाव में क्या परिवर्त्तन होता है?

यद्यपि अल्प जीव अपनी अल्पता और ईश्वर की अनन्तता का भाव साधारणतया भी रखता है। परन्तु अज्ञानी जीव ब्रह्म की अनन्तता का वही भाव नहीं समझता जो ज्ञानी समझता है। कुएं का मेंडक 'अनन्तता का केवल इतना ही तात्पर्य समझता है कि कोई वस्तु है जो कुएं से बड़ी है। इससे

अधिक उसका मस्तिष्क काम ही नहीं करता। परन्तु यदि उसी मेंडक को कुएं से बाहर किसी बड़े तालाब में डाल दिया जाय तो उस के अनन्तता के अर्थ में भी परिवर्त्तन हो जाता है। अब वह 'अनन्तता' को केवल कुएं से ही बड़ा नहीं किन्तु तालाब से भी बड़ा समझने लगता है। यही हाल मनुष्य का है। एक जंगली असभ्य मनुष्य के हृदय में भी ईश्वर की अनन्तता का भाव विद्यमान है और एक ज्ञानी के हृदय में भी! परन्तु अनन्तता का जो भाव न्यूटन के हृदय में आ सकता था वह अफ्रीका के नीग्रो के हृदय में नहीं आ सकता। एक ज्योतिषी ज्योतिष विद्या पढ़ कर जिस समय बड़े २ तारागण के परिमाण तथा आकार पर विचार करता है और ब्रह्म के बृहतत्व की विशाल लोकों से तुलना करता है तो अनन्तता भी विचित्र ही रूप में उसके सामने आ जाती है। ईश्वर की अनन्तता से प्रभावित होने के लिये अपनी उन्नति भी आवश्यक है। ज्यों ज्यों हम ऊपर चढ़ते जांयगे त्यों त्यों ही हमारा क्षितिज का वृत्त भी बढ़ता जायगा। इसी प्रकार ज्यों ज्यों हमको सृष्टि के विषय में अधिक ज्ञान होता जायगा त्यों त्यों हमको ईश्वर की अनन्तता का भी अधिक अनुभव होगा।

यदि हम विचार करके देखें तो ईश्वर के जो गुण सृष्टि के आदि में माने जाते थे वही आज कल भी माने जाते हैं! जो गुण असभ्य जातियों के भीतर प्रचलित हैं वही सभ्यों के भी। ईश्वर को सभी उत्पादक पालक दयालु तथा अनन्त मानते हैं। परन्तु सभ्य जातियों को जितना परिष्कृत ज्ञान इन गुणों का हो सकता है उतना असभ्यों को नहीं। उत्पादक की उत्पादकता का अनुभव उसी को होगा जो उत्पन्न वस्तु के ऊपर

भली भांति विचार करता है। एक बच्चा घड़ी को देखता है और समझता है कि इसका बनाने वाला अवश्य है। परन्तु उसने तो केवल घड़ी के ऊपर ही दृष्टि डाली है अतः वह घड़ी साज़ की बुद्धि का परिमाण कैसे जान सकता है? परन्तु जो पुरुष घड़ी का विश्लेषण करता है। उसके एक एक पुरज़े पर विचार करता है, यह सोचता है कि अमुक पुरज़ा ऐसा ही क्यों बनाया गया भिन्न क्यों नहीं बनाया गया उसको घड़ीसाज़ की बुद्धिमता से अधिक परिचय होगा! इसी प्रकार जिस मनुष्य ने सृष्टि की अनेक वस्तुओं को लेकर उन पर विचार करने का यत्न किया है वह ईश्वर की विशालता का जो अनुभव प्राप्त कर सकते हैं वह दूसरों को प्राप्त नहीं हो सकता।

नवां अध्याय

कर्म और फल

'जैसी करनी वैसी भरनी' एक सर्वव्यापक लोकोक्ति है। इसके पर्य्याय प्रत्येक देश तथा युग की भाषा में पाये जाते हैं। चाहे आस्तिक हो चाहे नास्तिक, चाहे अध्यात्मवादी हो चाहे आधिभौतिक वादी, चाहे आत्मवादी हो, चाहे अनात्मवादी, चाहे सायंस का पक्षपाती हो चाहे मतमतान्तरों को मानने वाला हो। संसार में कोई भी ऐसा मनुष्य नहीं है जो कर्म और उसके फल की अवहेलना करता हो। तुलसीदास जी कहते हैं।

कर्म प्रधान विश्व करि राखा।
जो जस करे सो तस फल चाखा॥

इसलिये यदि कोई ऐसा सिद्धान्त है जिस पर सब मनुष्य सहमत हैं तो "कर्मफल वाद" है। जैसा करोगे वैसा पाओगे" ((As you sow, so you will reap) की सत्यता से कोई भी विमुख नहीं है।

इस अध्याय में हम देखना चाहते हैं कि इस सिद्धान्त का आस्तिकता से क्या सम्बन्ध है।

सब से पहले हमको कर्म तथा फल की मीमांसा करनी होगी। तत्पश्चात् उसके परिणामों का विचार करना होगा।

मनुष्य चोरी करता है और राज की ओर से उसे २ वर्ष का कारागार होता है। लोग कहते हैं कि चोरी कर्म है और कारागार फल। अब प्रश्न यह है कि 'चोरी' में कौन सी ऐसी बात है जो इसको 'कर्म' की कोटि में रखती है और कारागार में कौनसा लक्षण है जो उसको फल की कोटि में आने के लिये बाधित करता है।

इसी प्रकार एक मनुष्य एक मास तक नौकरी करता है। मास के अन्त में उसका स्वामी उसे वेतन देता है। लोग कहते हैं 'नौकरी' कर्म था और 'वेतन' उसका फल। प्रश्न यह है कि 'नौकरी' में कौन सी बात है जिससे वह कर्म है और 'वेतन' में कौन सी विशेषता है कि वह फल।

कर्म और फल का विषय बड़ा जटिल है! इस पर अनेक लोगों के अनेक मत हैं। इसीलिये गीताकार को कहना पड़ा।

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः। (४।१६)

पहले तो यह देखना चाहिये कि कर्म का क्या अर्थ है। साधारणतया 'कर्म' 'कृ' धातु से निकलता है जिसका अर्थ है क्रिया।

कणाद मुनि वैशेषिक दर्शन में कर्म का यह लक्षण करते हैं :—

एक द्रव्यमगुणं संयोग विभागेष्वनपेक्षकारणमिति कर्म लक्षणम्।

(१।१।१७)

अर्थात् कर्म वह है जो एक द्रव्य के आश्रित हो, गुण न हो और संयोग तथा विभाग में अनपेक्षकारण हो।

तर्क दीपिका में अन्नंभट्ट ने यह लक्षण दिये हैं :—

संयोग भिन्नत्वे सति संयोग समवायि कारण कर्म।

अर्थात् कर्म वह है जो संयोग तो न हो परन्तु संयोग का समवायि कारण अवश्य हो।

इस प्रकार पांच कर्म गिनाये गये हैं :—

उत्क्षेपणा वक्षेपणा कुञ्चनप्रसारणगमनानि पंच कर्माणि।

अर्थात् (उत्क्षेपण) ऊपर को चलना (अवक्षेपण) नीचे को आना (आकुञ्चन) सकुड़ना (प्रसारण) फैलना तथा (गमन) चलना।

इन लक्षणों तथा प्रकारों से ज्ञात होता है कि प्रत्येक गति का नाम कर्म है। वायु का चलना, पृथ्वी का आकर्षण करना, अग्नि की ज्वाला का उठना, आम का वृक्ष से गिरना, चींटी का दौड़ना, मनुष्य का निमेष तथा उन्मेष आदि क्रियायें करना यह सब कर्म हैं।

परन्तु जब हम "कर्म तथा फल" की मीमांसा करते हैं तो कर्म का यह अर्थ नहीं लेते। यहाँ हमको कर्म के योग-रूढ़ी अर्थ लेने होते हैं। इस अर्थ में प्रत्येक क्रिया या गति का नाम कर्म नहीं है। वस्तुतः कर्म वह शारीरिक, मानसिक या वाचिक क्रिया है जिसके लिये कर्त्ता को उत्तरदाता होना पड़ता है और जिसके लिये वह सुख या दुःख रूपी फल भोगता है।

हमने ऊपर कर्मों के दो दृष्टान्त दिये हैं एक चोरी तथा दूसरी नौकरी। इन दोनों में कर्त्ता अपने २ कर्मों का उत्तर-दाता है ? कारागार तथा वेतन प्राप्ति भी क्रियायें हैं परन्तु उन की गणना कर्म की कोटि में नहीं है क्योंकि कर्त्ता इनके लिये स्वतंत्र नहीं है।

इसलिये प्रथम तो कर्म करने में कर्त्ता को स्वतंत्र होना चाहिये। यदि स्वतंत्रता नहीं है तो उस क्रिया को कर्म नहीं कहेंगे। हम निमेष उन्मेष करते या श्वास प्रश्वास लेते हैं। यह क्रियायें अवश्य हैं परन्तु इनमें हमको स्वतंत्रता नहीं है अतः इन को कर्म नहीं कह सकते। चोरी कर्म का आश्रय हमारे ऊपर है। चाहे हम उसको करें चाहे न करें। इस लिये इसका नाम कर्म है।

दूसरे कर्म जिस प्रयोजन के लिये किया जाता है या जो कर्म का अन्त होता है उसको कर्म का फल नहीं कहते। जैसे चोरी मनुष्य इसलिये करता है कि मुझे कुछ रुपये की प्राप्त हो जाय, और बहुधा चोरी करने से रुपये की प्राप्ति हो भी जाती है। परन्तु यह प्राप्ति चोरी का फल नहीं है। न कर्म का अन्त ही फल है। चोरी करने का अन्त कभी धन की प्राप्ति और कभी पकड़ा जाना भी होता है। परन्तु इन दोनों को हम फल नहीं कह सकते।

प्रयोजन का कर्म के भले या बुरे होने पर अवश्य प्रभाव पड़ता है। यदि कर्म अच्छे प्रयोजन को दृष्टि में रखकर किया गया है तो वह कर्म पुण्य कहलाता है। यदि बुरे प्रयोजन के विचार से किया गया है तो उसे पाप कहते हैं।

अब एक और प्रश्न उठता है। किस प्रयोजन को अच्छा कहा जाय? और किसको बुरा? क्योंकि प्रयोजन की भलाई बुराई पर ही काम की बुराई भलाई निर्भर है। इसके लिये हमको सृष्टि क्रम के ऊपर दृष्टि डालनी चाहिये। सृष्टि के नियम एक विशेष उद्देश्य की पूर्त्ति करते हैं। वह उद्देश्य है जीवों का कल्याण। यद्यपि जीव अपने काम करने

में स्वतंत्र है तथापि यह स्वतंत्रता परिस्थिति के अन्तर्गत रहती है। एक प्रकार से जीव कर्म करने में स्वतंत्र है और दूसरी अपेक्षा से परतंत्र भी है। अर्थात् उसकी स्वतंत्रता की मर्य्यादा है उससे बाहर वह नहीं जा सकता। उस मर्य्यादा के भीतर ही उसको अमुक काम करने, न करने या उलटा करने की स्वतंत्रता है। यह परिस्थिति उसकी बनाई नहीं है। वह सृष्टि निर्माता ने रची है। यह परिस्थिति इस प्रकार रची गई है कि जीव को काम करने की स्वतंत्रा भी रहे और उसका अन्त में कल्याण भी हो।

अब जो प्रयोजन इन नियमों की पुष्टि में होता है वही पुण्य है और जो इनको उल्लङ्घन करता है वही पाप है। इसी को दृष्टि में रखते हुये ऋषि मुनियों ने या धर्म ग्रन्थों ने पाप और पुण्य की विवेचना कर दी है। साधारण मनुष्य सृष्टि के नियमों को भली प्रकार जान नहीं सकता और न प्रत्येक कार्य्य में यह निश्चय कर सकता है कि अमुक कार्य्य सृष्टि-नियमों के अनुकूल होगा या प्रतिकूल। इस लिये उसके लिये निरपेक्षिक पुण्य पाप का उल्लेख है अर्थात

सत्यंवद, धर्मंचर इत्यादि।

परन्तु कहीं कहीं मनुष्य की परिस्थिति ऐसी हो जाती है कि पुण्य करने की इच्छा करता हुआ भी किंकर्त्तव्य विमूढ़ हो जाता है उसे पता नहीं चलता कि यह काम करना पुण्य है या वह काम करना, ऐसे असमंजस की अवस्था में उसे अपने आत्मा की आवाज़ या आप्त पुरुषों का सहारा लेना चाहिये।

वेदों में दो प्रकार के कर्म बताये गये हैं एक निष्काम

कर्म और दूसरे सकाम। यह दोनों विभाग पुण्य के हैं पाप के नहीं। पाप तो सदा सकाम ही होता है निष्काम हो नहीं सकता। निष्काम पुण्य को सकाम पुण्य से इस लिये उत्कृष्ट कहा है कि उसमें स्वार्थ न होने से उसके प्रयोजनों में कभी सन्देह नहीं हो सकता। साधारणतया मनुष्य जब किसी काम का प्रयोजन निश्चय करता है तो उसकी सुरी और आसुरी प्रकृतियों अर्थात् वासनाओं में एक प्रकार का युद्ध होता है और बहुधा ऐसा होता है कि उसकी आसुरी वासनायें सुरी वासनाओं को दबा लेती है। इसलिये सकाम कर्म करने में उसकी अवस्था संदिग्ध सी होती है। कामना स्वयं एक अच्छी भावना नहीं है। जिस प्रकार धूल में बैठ कर संध्या करने से भी वस्त्रों के मैले होने का भय रहता है, इसी प्रकार सकाम अच्छे कर्म करने में भी प्रयोजन में स्वार्थ आने का भय रहता है। कल्पना करो कि दान देना एक पुण्य कर्म है। यह दान दो रूपों में दिया जा सकता है एक सकाम रूप में और दूसरे निष्काम रूप में। यदि दान देने में ख्याति के उद्देश को भी शामिल कर दिया जाय तो बहुधा ऐसा होगा कि योग्य पात्र को दान देने के स्थान में ऐसे को दिया जायगा जिसमें ख्याति अधिक हो सके और इस प्रकार दान की महिमा में बहुत कुछ बट्टा लग जाने का भय रहेगा। परन्तु यदि दान निष्काम भाव से किया जाता है, यदि उसमें ख्याति या यश की प्राप्ति का उद्देश्य शामिल नहीं है तो उसके अनुचित होने का भय नहीं रहेगा। वस्तुतः निष्काम कर्म वही हैं जो सर्वथा सृष्टि के नियमों की पुष्टि को दृष्टि में रख कर किये जाते हैं।

अब देखना यह है कि हमारे कर्मों का सृष्टि के नियमों पर तथा हमारे ऊपर क्या प्रभाव पड़ता है। यह बात याद रखना चाहिये कि सृष्टि के नियम ऐसी दृढ़ता से काम करते हैं कि उनका उथल पुथल कर देना हमारे कर्मों की सामर्थ्य से बाहर है। चाहे हमारा उद्देश्य इन नियमों की पुष्टि हो चाहे इनका उल्लङ्घन। हम सृष्टि के नियमों के उल्लङ्घन की इच्छा मात्र कर सकते हैं उनका उल्लङ्घन नहीं कर सकते। ईश्वर ने इन नियमों को इस प्रकार स्थिर किया है कि हमारे समस्त प्रयत्न इनको उथल पुथल करने में व्यर्थ हो जाते हैं। एक अंगरेज़ी कवि ने ठीक कहा है:—

There is a divinity that shapes our ends,
Rough hew them how we will.

अर्थात् हम चाहे किसी प्रकार से अपने कामों को बिगाड़ा करें, पर ईश की कृपा से वह ठीक ही हो जाते हैं अर्थात् हमारी बुरी भावनायें सृष्टि को कभी ऐसी अवस्था में नहीं ला सकतीं कि वह जीवों के लिये कल्याणकारी न रहे।

यह बात एक दृष्टान्त से समझ में आ सकती है। कल्पना कीजिये कि राजा है जिसके राज्य में प्रत्येक प्रकार से सुराज्य है। उसमें पापी और पुण्यात्मा सभी बसते हैं। पापी पाप भी करना चाहते हैं, उनकी बहुधा यह इच्छा होती है कि पुण्यात्माओं को त्रास दें। परन्तु उस राज्य के नियम ऐसे सुव्यवस्थित हैं कि पापियों को दूसरों को कष्ट देने या राज में विप्लव उत्पन्न करने का अवसर नहीं मिलता। पापी पाप करने की इच्छा अवश्य करते हैं। परन्तु यह इच्छा उन्हीं को हानि पहुंचाती है। उस इच्छा की पूर्ति के लिये प्रयत्न

द्वारा उन का मन कलुषित हो जाता है परन्तु वह किसी को सता नहीं पाते।

यही हाल समस्त सृष्टि का है। यदि मैं चाहूं कि अमुक पुरुष को हानि पहुंचा दूं, तो मेरी यह इच्छा कभी पूर्ण न होगी। परन्तु वह इच्छा या उस इच्छा से प्रेरित किये हुये काम मेरे आत्मा पर बुरा प्रभाव अवश्य डालेंगे। कभी कभी ऐसा होता है कि हम दूसरों को कष्ट देने में सफल हो जाते हैं। परन्तु हमारी यह भूल है कि हम उन कष्टों को अपने कर्मों से सम्बद्ध करते हैं। कल्पना कीजिये कि मैंने इच्छा की कि अमुक पुरुष को मार डालूं। यह इच्छा में स्वतंत्रता से कर सकता हूँ। इसकी पूर्त्ति के लिये प्रयत्न भी कर सकता हूँ। परन्तु जब तक उस पुरुष की मृत्यु उसी के कर्मों का फल न होगी उस समय तक मैं कभी उसके मारने में कृतकार्य्य नहीं हूँगा। यह कर्मों और फलों का तांता सृष्टि में इस प्रकार फैला हुआ है कि बहुधा हम को धोखा हो जाता है और हम समझने लगते हैं कि अमुक पुरुष को मारने या जिलाने वाले हम हैं। इसी लिये गीता में श्रीकृष्ण कहते हैं कि कुरु लोग तो मरे हुये ही हैं। हे अर्जुन तू केवल निमित्त मात्र हो जा।

हां! जो कर्म हम करते हैं उनका संस्कार हमारे आत्मा पर अवश्य पड़ता है। वह उसी प्रकार होता है जैसे एक मोम की पट्टी पर किसी वस्तु के चिन्ह बन जायं। इन चिन्हों का नाम ही संस्कार है। यह संस्कार फल नहीं है। वस्तुतः यह कर्मों के चिन्ह हैं जो हमारे आत्मा पर पड़ते हैं। या यों कहना चाहिये कि हमारे सूक्ष्म शरीर पर पड़ते हैं।

शरीर तीन प्रकार के हैं। एक स्थूल शरीर, दूसरा सूक्ष्म, तीसरा कारण शरीर। स्थूल शरीर दो कोषों का नाम है अर्थात् अन्नमय कोष तथा प्राणमय कोष। यह शरीर जो हम को दीखता है, जिस में हाथ, पैर आदि इन्द्रियाँ उपस्थित हैं स्थूल शरीर है। जो अन्न जल हम खाते पीते हैं उनसे यह शरीर बनता है इसलिये इसको अन्नमय कोष कहते हैं। परन्तु इसी स्थूल शरीर में सूक्ष्म प्राण भी हैं जो प्राणमय कोष कहलाते हैं।

दूसरा सूक्ष्म शरीर है। इसके दो भाग हैं मनोमय कोष और ज्ञानमय कोष। यह स्थूल नहीं है। हम इसको देख नहीं सकते। परन्तु अपने अन्तःकरण की वृत्तियों पर विचार करने से इसका पता लग सकता है। जब हम स्वप्न देखते हैं तो उस समय स्थूल शरीर से हमारा कोई सम्बन्ध नहीं रहता। परन्तु स्थूल शरीर द्वारा किये हुये व्यापारों की प्रतिच्छाया हमारे सूक्ष्म शरीर पर उसी प्रकार बनी रहती है जैसे फोटो की प्लेट पर बाहर का दृश्य। ज्ञान, स्मृति, सुख, दुःख आदि सब इसी सूक्ष्म शरीर की वृत्तियाँ हैं।

तीसरा कारण शरीर अत्यन्त सूक्ष्म है। इसका स्वप्न में भी भान नहीं होता। इसको केवल आनन्दमय कोष कह सकते हैं। जीव जिस समय सुषुप्ति अवस्था में होता है उस समय इसका अनुभव करता है। वस्तुतः इसका अनुभव भी केवल आनन्द रूप ही होता है क्योंकि उस समय सुख, दुख, ज्ञान आदि की वृत्तियां तिरोभूत हो जाती हैं।

यह तीनों शरीर आत्मा के ऊपर इस प्रकार मढे हुये हैं

जैसे किसी वस्तु के ऊपर तीन खोल हों। यह खोल क्रमशः स्थूल होते गये हैं। जो कुछ हम करते हैं उसका प्रभाव पहले स्थूल शरीर पर पड़ता है। परन्तु वह वहीं रह नहीं जाता किन्तु छन कर सूक्ष्म शरीरों तक पहुंच जाता है। भेद केवल इतना है कि छनने में प्रभाव की स्थूलता दूर हो जाती है। सूक्ष्म शरीर स्थूल प्रभावों को ग्रहण नहीं कर सकते। केवल सूक्ष्म सार ही उन तक पहुंचता है। इसका कुछ २ दृष्टान्त फोटोग्राफ़ी में मिल सकता है। ६ इंच लम्बी और ३ इंच चौड़ी प्लेट पर एक पचास फुट ऊंचे मकान की आकृति आती है। परन्तु उस छोटे से प्लेट में इतने बड़े मकान के लिये स्थान नहीं है। अतः जो प्रतिच्छाया बनेगी उस में मकान की स्थूलता न होगी। केवल उसका सार रूप होगा। इसी प्रकार हमारे कर्मों के प्रभावों का हाल है। यह प्रभाव सूक्ष्म और सार रूप में होते हैं। इन्हीं को संस्कार कहते हैं।

सूक्ष्म और सार रूप संस्कारों से क्या तात्पर्य है? इस को हम एक और दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करते हैं। एक मनुष्य एक एक पैसा करके धन कमाता है। जब उसके पास ६४ पैसे हो जाते हैं तो वह उनके स्थान में एक रुपया रख लेता है। वस्तुतः एक रुपये में ६४ पैसों की स्थूलता नहीं है। यह केवल पैसों का सार रूप है। एक रुपये से वही काम निकल सकता है जो ६४ पैसों से निकलता। परन्तु रुपये के रखने में सुगमता है। जब उसके पास सौ रुपये हो गये तो वह रुपयों का रखना भी पसन्द नहीं करता। किन्तु इनका भी सार और सूक्ष्म रूप सौ रुपये का नोट रख लेता है। सौ रुपये का नोट सौ रुपये नहीं हैं। उसमें सौ रुपयों की

स्थूलता नहीं है। परन्तु वह सौ रुपयों का सार रूप अवश्य है।

यह दृष्टान्त हुआ। अब दार्ष्टान्त को लीजिये। एक मनुष्य ने देवदत्त के घर से १००० रूपये चुराये, यज्ञदत्त के घर से २००० रुपये चुराये और सोमदत्त के घर से ५००० रुपये चुराये। स्थूल शरीर पर इन तीनों कर्मों का प्रभाव है। ८००० रुपयों का भी और उन मनुष्यों का भी जिनका धन चुराया गया। परन्तु सूक्ष्म शरीर को इतने स्थूल प्रभावों की आवश्यकता नहीं। सूक्ष्म शरीर पर तो केवल यह संस्कार होगा कि उसने चोरी की। चोरी का संस्कार उसके उन कर्मों से वही सम्बन्ध रखता है जो एक रुपया या सौ रुपये का नोट ६४०० पैसों से। इस प्रकार ज्यों ज्यों उसके बुरे कर्म बढ़ते जाते है उनके सूक्ष्म संस्कार उसके सूक्ष्म शरीर पर पड़ते जाते हैं। सूक्ष्म शरीर विस्तृत लेखा रखने का कष्ट सहन नहीं करता। उसको बोझ बांधने की आवश्यकता नहीं है। वह केवल उनका सार रूप ले लेता है। यह संस्कार स्थूल शरीर को बुरे कर्म करने में वही सुविधा उत्पन्न करते हैं जो सौ रुपये का नोट पैसे भुनाने में। जहां सराफ़ होगा वहां आप का सौ रुपये का नोट भुन सकेगा। इसी प्रकार जहां परिस्थिति होगी वहां चोरी के संस्कारों वाला मनुष्य शीघ्र ही चोरी कर सकेगा। यही कारण है कि जिस मनुष्य को शराब पीने की आदत है उसके मुंह में शराब की बोतल देखते ही पानी भर आता है।

इस को और स्पष्ट करने के लिये हम एक और दृष्टान्त देते हैं। पाठशाला में लड़के गणित सीखते हैं। प्रथम उन

को स्थूल उदाहरण दिये जाते हैं। मोहन ने सोहन से ५००० रुपये उधार लिये और ५ रुपये सैकड़ा के दर से ४ वर्ष में १००० रुपया व्याज दिया। इत्यादि। आरम्भ में लड़कों को ऐसे पचासों स्थूल उदाहरण दिये जाते हैं। परन्तु क्या उनको इन सब उदाहरणों के स्मरण रखने की आवश्यकता है? कदापि नहीं। उनका मस्तिष्क ही इतना बड़ा नहीं कि उसमें यह सब समा सके। इसलिये वह सार रूप व्याज के नियम को याद कर लेते हैं अर्थात् $\frac{\text{मूलधन} \times \text{वर्ष} \times \text{दर}}{१००}$; यह उन सब उदाहरणों का सार रूप है। अब उनको सोमदत्त, यज्ञदत्त, ५००० रुपये आदि के याद रखने की आवश्यकता नहीं। परन्तु जब वह अधिक गणित पढ़ते हैं तो यह नियम याद रखना भी उनको बोझ मालूम होता है। जिस मनुष्य के पास सौ सौ रुपये के १००० नोट हों वह उनको भी बोझ समझ कर उनका एक लाख रुपये का एक नोट रख लेना चाहता है। इसी प्रकार विशेषज्ञ गणित के इन छोटे छोटे नियमों के स्थान में बीज गणित के सूक्ष्म नियम या सूत्र ही याद कर लेना पर्य्याप्त समझते हैं। इन सूत्रों से ही उनका काम निकल जाता है।

जिस प्रकार ज्ञान की यह सूक्ष्म अवस्थायें आती हैं उसी प्रकार संस्कारों की भी सूक्ष्म अवस्थायें होती हैं। कारणशरीर पर सूक्ष्मतम संस्कार पड़ते हैं। और यही संस्कार मृत्यु के पश्चात् एक जन्म से दूसरे जन्म में साथ जाते हैं। लोग व्यर्थ आक्षेप करते हैं कि एक जन्म का किया दूसरे जन्म में याद नहीं रहता। याद स्थूल वस्तुयें नहीं रहतीं। अति

सूक्ष्म संस्कार तो ज्यों के त्यों दूसरे जन्म में चले जाते हैं। और वही परिस्थिति पाकर फूट उठते हैं। यही तो कारण है कि भिन्न २ मनुष्यों की प्रकृतियां भिन्न २ होती हैं। नाक, कान, शरीर आदि एक से होते हुये भी हम देखते हैं कि एक मनुष्य का व्यवहार दूसरे से सर्वथा भिन्न होता है क्योंकि भिन्न २ मनुष्य अपने पूर्व शरीरों के उपार्जित संस्कारों का अति सूक्ष्म रूप अपने साथ लाते हैं। यही उनका धन है। यही सम्पति है, पैसे या आनों के रूप में नहीं, रुपयों के रूप में भी नहीं, किन्तु अति सूक्ष्म नोटों के रूप में। एक एम. ए. के गणित के परीक्षार्थी से कोई यह नहीं पूछता कि तुमने तीसरी कक्षा में जो देवदत्त सोमदत्त के ऋण लेने के विषय में पढ़ा था उसे क्यों भूल गये। यह तो भूलने के ही लिये था। इसकी स्थूलता तो छनने में ऊपर ही रह गई। उसका रस रूप उपस्थित है और वही पर्याप्त है।

यह हुआ संस्कारों के विषय का संक्षिप्त वर्णन। परन्तु यहां हमारा उद्देश्य संस्कारों की मीमांसा करना नहीं है। हमारा प्रयोजन तो कर्म और फल का आस्तिकता से सम्बन्ध दिखा देना है। बहुत से लोग कर्म को भूल भुलैयां कह कर हंसी उड़ाया करते हैं और वह हिन्दू लोगों को पागल समझते हैं। परन्तु यह उनकी स्वयं मूर्खता है। वस्तुतः कर्म की महिमा इतनी ही जटिल है जितना मनुष्य का जीवन और बिना कर्म की मीमांसा किये मनुष्य जीवन के विषय में कुछ समझ में भी नहीं आता। हंसी उड़ाना आसान है। परन्तु कर्म के चक्कर से बचना कठिन ही नहीं किन्तु असम्भव है।

यह संस्कार अर्थात् संस्कारों का अति सूक्ष्म या सार रूप

ही कर्म का अन्त है। स्थूल शरीर से किये हुये कर्म का स्थूल शरीर में ही अन्त नहीं हो जाता। मैंने यदि आज एक मनुष्य को गाली देदी, तो यह स्थूल कर्म हुआ। मैंने समझा कि यह कर्म यहाँ समाप्त हो गया। परन्तु नहीं। यहाँ तो केवल आरम्भ हुआ है। अन्त तब होगा जब कारण शरीर में इसका सार रूप बैठ जायगा। बहुत से लोग संस्कार को ही कर्मों का फल कहते हैं। गौण रूप से यह कहा जा सकता है। परन्तु वास्तविक रूप से यह ठीक नहीं है। संस्कार कर्म का अन्त है। कर्म का फल नहीं।

अब फल पर विचार कीजिये। जो संस्कार आत्मा पर पड़ते हैं वह दो प्रकार के होते हैं एक तो उन्नति के साधक जिनको हम 'इष्ट' कहते हैं और दूसरे उन्नति के बाधक जिनको "अनिष्ट" कहते हैं। आवश्यकता है कि इष्ट संस्कारों को सुरक्षित रक्खा जाय और अनिष्ट को धोया जाय। इष्ट को सुरक्षित रखने के लिये सुख और अनिष्ट को धोने के लिये दुःख होता है यही कर्म का फल है। यह फल कर्त्ता के अधिकार में नहीं किन्तु ईश्वर के अधिकार में है इसी लिये गीता में कहा है,

कर्मण्येव अधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।

स्थूल कर्म करना, उनके सार रूप का सूक्ष्म शरीर तक पहुंचना, उसके अति सार रूप संस्कार का कारण शरीर तक जाना। यहाँ तक तो मनुष्य के अधिकार में था। परन्तु उन संस्कारों में से इष्ट की रक्षा और अनिष्ट के विनाश की सामग्री एकत्रित करना जीव के अधिकार में नहीं रहता। वस्तुतः इस संस्कार से फल उसी प्रकार नहीं फूटता जैसे आम के वृक्ष से

फल निकलता है। आम का फल आम के वृक्ष में से ही उत्पन्न हुआ है वह वस्तुतः आम के वृक्ष का ही भाग है। परन्तु कर्म का फल कर्म में से ही फूट कर नहीं निकला। वह कर्म का भाग नहीं है। वह कर्म क कारण बाहर से आया है। कर्म उसका उपदान नहीं किन्तु निमित्त है। चोर को कारागार जो मिला है वह चोरी कर्म का भाग नहीं है। वस्तुतः वह कर्म में से फूट कर नहीं निकला किन्तु चोरी उसका निमित्त है। चोरी के कारण वह बाहर से आया है। उसका देनेवाला कोई और ही है। इसी प्रकार जो पुरुष एक मास पुलिस में नौकरी करता रहा, उसका वेतन उस नौकरी रूपी कर्म का भाग नहीं है न कर्म से ही निकला है किन्तु वेतन नौकरी के निमित्त होने के कारण राजा के कोष से आता है। इसीलिये न्याय दर्शन में गौतम जी कहते हैं :—

पूर्वकृतफलानुबन्धात्तदुत्पत्तिः ॥ ३ । २ । ६३

पूर्व जन्म में किये हुए कर्म के फल के रूप में शरीर की उत्पत्ति होती है। अर्थात् जो शरीर हम इस जन्म में पाते हैं वह पूर्व जन्म के संस्कारों में से इष्ट की रक्षा और अनिष्ट के विनाश के लिये दिया जाता है।

परन्तु यह शरीर कौन देता है ? क्या जीवात्मा स्वयं देता है ? कदापि नहीं। यदि जीवात्मा का अधिकार होता तो वह अपने लिये दुःख कभी न लेता। चाहे जैसा कर्म करता प्राप्ति सुख की ही करता। क्योंकि अनिष्ट कर्म और अनिष्ट संस्कार भी उसने सुख की प्राप्ति के भ्रम से ही किये थे। अब इन संस्कारों पर उसका कोई अधिकार नहीं रहा अब तो संस्कारों ने उस पर अधिकार जमा लिया। वह चाहता भी

है कि शराब न पियूं। शपथें खाता है। व्रत रखता है प्रतिज्ञायें करता है परन्तु शराब की बोतल सामने आते ही वह सब प्रतिज्ञायें भूल जाता है।

फिर क्या यह संस्कार स्वयं शरीर को उत्पन्न करते हैं? यह भी नही। संस्कार जड़ हैं। उनमें शरीर उत्पत्ति की सामर्थ्य नहीं। दूसरे यदि अनिष्ट संस्कार शरीर को बना सकते या बनाते तो अपने अनुकूल अर्थात् अनिष्ट शरीर ही बनाते। कोई अपने नाश के लिये सामग्री उपस्थित नहीं करता। यदि शरीर पर मैल जम गया है तो मैल स्वयं साबुन नहीं लायेगा। उसके दूर करने के लिये साबुन लाने का कोई और निमित्त चाहिये। इस लिये गौतम जी का एक और सूत्र है:—

ईश्वरः कारणं पुरुषकर्माफल्यदर्शनात्। (न्याय दर्शन ४। १। १९)

पहले सूत्र में तो कहा था कि पूर्व जन्म के कर्मों की वजह से शरीर मिलता है। इस सूत्र में कहते हैं। कि पूर्व जन्म के कर्म स्वयं ही फल रूपी शरीर को उत्पन्न नहीं करते किन्तु कार्यों के अनुसार ईश्वर उनका फल देता है।

इस पर पूर्व पक्ष में एक और सूत्र है:—

न पुरुषकर्माभावे फलानिष्पत्तेः। ४। १। २०

अर्थात् पुरुष के कर्म न हों तो फल न मिले। इस लिये ईश्वर के मानने की क्या आवश्यकता है?

इसका उत्तर शास्त्रकार देते हैं:—

तत्कारितत्वादहेतुः॥ ४। १। २१

अर्थात् यह आक्षेप ठीक नहीं। क्योंकि कर्म का फल ईश्वर आधीन है।

इस प्रकार कर्म का फल मिलने से सिद्ध होता है कि ईश्वर अवश्य है। ईश्वर न्यायकारी है अतः वह फल अवश्य कर्म के अनुकूल देगा।

पुण्यः पुण्येन पापः पापेन (बृहदारण्यक ३। २। २३)

परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि पुण्य स्वयं अपना फल दे लेंगे और पाप स्वयं। बहुत से लोग जैसे जैनी इत्यादि कहते हैं कि कर्म स्वयं अपना फल देता है अतः ईश्वर का अस्तित्व मानने की आवश्यकता नहीं। यदि वस्तुतः कर्म स्वयं भी अपना फल दे सकता तो भी सृष्टि रचना के लिये ईश्वर के अस्तित्व को मानना आवश्यक था जैसा कि हम पिछले अध्याय में लिख चुके हैं। परन्तु जैनी लोगों को यह भ्रम कर्म की मीमाँसा के न समझने के कारण होता है। वह संस्कार को ही कर्म का फल समझ बैठे हैं। वस्तुतः वह कर्म का अन्त है फल नहीं। इसके दृष्टान्त लोक में भी मिलते हैं। कल्पना कीजिये कि मैं अध्यापक हूँ। नित्य विद्यार्थियों को पढ़ाता हूँ पढ़ाना मेरा कर्म है। इस पढ़ाने के सूक्ष्म संस्कार मेरे आत्मा पर बैठते जाते हैं, अर्थात् मेरा ज्ञान और मुझ में विद्यार्थियों के लिये प्रेम बढ़ता है। परन्तु यह संस्कार फल नहीं है। मुझे वेतन जो मिलता है वह फल है, इस वेतन का उपयोग यह है कि जो इष्ट संस्कार हैं, उनकी रक्षा या उनमें वृद्धि हो। यदि मैं अध्यापन में चूक करता हूँ। तो मेरे आत्मा पर अनिष्ट संस्कार बैठते हैं। यह भी मेरी चूक का अन्त है फल नहीं। फल दण्ड स्वरूप मिलता है जिससे यह अनिष्ट संस्कार शीघ्र ही धुल जायं। वेतन की प्राप्ति या दण्ड का मिलना उन संस्कारों के कारण होता है परन्तु उन

संस्कारों द्वारा नहीं होता। यह तो अधिकारी वर्ग की ओर से होता है।

इस लिये कर्मफल का नियम ईश्वर की सिद्धि में एक बहुत बड़ा प्रमाण है। कर्मफल के वास्तविक रूप को समझने से नास्तिकों के बहुत से आक्षेप दूर हो सकते हैं। अर्थात्

(१) ईश्वर दुःख क्यों देता है?

(२) ईश्वर कीट पतंग आदि प्राणियों का शरीर क्यों प्रदान करता है?

वस्तुतः दुःख क्या है? अनिष्ट संस्कारों के लिये साबुन रूप है। न जाने कितने बुरे संस्कारों से हमको दुःख के द्वारा ही छुटकारा मिलता है? जिसके पेट में विकार है उसको रेचक औषधि देनी ही पड़ती है। जिसके फोड़ा है उसको चीरा देने में ही उसका कल्याण है। यदि हम मनुष्येतर योनियों पर विचार करें तो यह भी उसी कल्याण को दृष्टि में रख कर दी जाती हैं। जैसे कल्पना कीजिये कि आंख से बुरे कर्म करने के कारण मनुष्य के आत्मा पर बहुत से अनिष्ट संस्कार जम गये। यदि उसको आंख फिर मिलती तो वह अनिष्ट संस्कार आंख द्वारा बुरे कर्म करने के लिये उसे फिर प्रेरणा करते। अतः यदि उस जीव को दूसरे जन्म में आंखें न दी जायं अथवा ऐसी योनि में डाला जाय जहाँ आँख को उस प्रकार प्रयोग में लाने का कोई अवसर नहीं है तो अन्य परिस्थितियों का भाव और एक विशेष परिस्थिति का अभाव उन अनिष्ट संस्कारों को नाश करने में सहायता देगा।

चूंकि मनुष्य के आत्मा पर इष्ट और अनिष्ट सभी प्रकार के संस्कार जमा हुआ करते हैं और उनके परम्यूटेशन अर्थात् अंकपाश तथा कौम्बीनेशन अर्थात् एकादिभेद (Permutation and combinations) के कारण भिन्न २ प्रकार हो जाते हैं अतः इसमें से किसी की रक्षा और किसी के विनाश को दृष्टि में रख कर योनियाँ भी अनेकों होती हैं। इन योनियों से ईश्वर की क्रूरता नहीं किन्तु अत्यन्त दया प्रकट होती है। जो लोग आवागमन या पुनर्जन्म नहीं मानते वह जीवन की जटिल समस्या का कुछ भी समाधान नहीं कर सकते और न सच्चे आस्तिक ही बन सकते हैं क्योंकि उनकी समझ में ही नहीं आता कि संसार में इतना दुःख क्यों है।

वेदान्त दर्शन में व्यास मुनि ने लिखा है:—

वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्तथाहिदर्शयति । २ । १ । ३४

अर्थात् ईश्वर में न विषमता है न निर्दयता क्योंकि वह भिन्न २ योनियों को कर्म की अपेक्षा से देता है।

पुनर्जन्म न मानने वाले मुक्ति के प्रश्न का भी कुछ समाधान नहीं कर सकते। ईसाई तथा मुसलमान लोग मुक्ति का होना तो मानते हैं परन्तु पुनर्जन्म नहीं मानते। वह कर्मों के संस्कारों की महत्ता को नहीं समझते। जो इसको समझेगा वह कभी एक जन्म में मुक्ति नहीं मान सकता। क्योंकि कारण शरीर पर जो संस्कार पड़ेंगे उसमें से कुछ इष्ट होंगे कुछ अनिष्ट। अनिष्टों को धोने की आवश्यकता होगी। यह योनियों द्वारा ही हो सकेगा और इष्टों की भी कई अपेक्षा से कई श्रेणियाँ होगी। यह इष्ट दूसरे जन्म में अपने से सूक्ष्म इष्टों को उत्पन्न करेंगे और यह सूक्ष्म अपने से भी सूक्ष्म इष्टों को तीसरे

जन्म में। इस प्रकार जब इष्टों की पराकाष्ठा हो जायगी उसी समय पूर्ण ज्ञान होगा। और

ज्ञानान्मुक्ति (सांख्य दर्शन ३। २३)

ज्ञान से मुक्ति प्राप्त होगी।

इस प्रकार पुनर्जन्म तथा कर्म फल से ईश्वर का होना सिद्ध है। पुनर्जन्म का ईश्वर अस्तित्व के साथ इतना सम्बन्ध है कि कई धर्म ग्रन्थों में पुनर्जन्म न मानने को ही नास्तिकता कहा गया है। इसका कारण ऊपर के कथन को पढ़कर स्पष्ट हो सकता है।

वस्तुतः कर्म फल तथा पुनर्जन्म ही है जहाँ जीव का ईश्वर से निकटस्थ सम्बन्ध होता है।

दसवाँ अध्याय

शंका समाधान

स्तिकवाद पर भिन्न २ पुरुषों ने भिन्न २ आक्षेप किये हैं। इनमें से कुछ का तो पिछले अध्याय में यथास्थान उत्तर दिया जा चुका है। परन्तु बहुत से ऐसे हैं जिनका अलग ही वर्णन करना उचित प्रतीत होता है।

१ ली शंका

(१) पहली शंका यह है कि सृष्टि क्रम से यह तो पता चलता है कि इसका बनाने वाला बुद्धिमान है परन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि ईश्वर से ही सब पदार्थों की उत्पत्ति हुई, अर्थात् जिस प्रकार कुम्हार मिट्टी से घड़ा बना देता है इसी प्रकार ईश्वर ने भी प्रकृति के परमाणुओं को विचित्र रीति से रच दिया। इससे तुम्हारा ईश्वर कुम्हार के तुल्य रह जाता है। वह केवल रचयिता (former) है उत्पादक (creator) नहीं।

जर्मनी के प्रसिद्ध दार्शनिक काएट (Kant) ने भी यही आक्षेप किया है:—

This proof gives rise to the following objections :—1st it proves that the *form* of the world is contingent, but not its *matter*. It would lead us, therefore, to infer, at most, an *architect* of the world, but not a *creator* ; 2nd, from the indication of design found in the world we can only reason to a cause that is proportionate to the number and value of these indications. This proof would lead us, therefore, to infer cause that was *most* wise, but not to an absolutely wise cause, since our experience makes known to us nothing absolute and since, moreover, besides these signs of of wisdom, experience shows no irregularities and imperections which we are unable to explain.

इसका भावानुवाद नीचे देते हैं :—

सृष्टि रचना-द्वारा ईश्वर को रचियता सिद्ध कर सकते हैं, उत्पादक (बिना उपादान कारण के उत्पन्न करने वाला) नहीं। दूसरे इससे ईश्वर का बुद्धिमान होना तो सिद्ध होता है परन्तु सर्वज्ञ या पूर्णज्ञ होना नहीं क्योंकि संसार में बहुत सी त्रुटियां दिखाई देती हैं जिनका हमारे पास कोई समाधान नहीं है।

काण्ट के पिछले आक्षेप अर्थात् सृष्टि सम्बन्धी त्रुटियों की विवेचना हम आगे करेंगे। पहला आक्षेप आक्षेप नहीं किन्तु सिद्धान्त की है पुनरुक्तिमात्र है। यह शंका उन लोगों के लिये

हो सकती है जो ईश्वर को ऐसी सत्ता मान हैं जो बिना किसी अन्य पदार्थ के शून्य से ही सब वस्तुयें उत्पन्न कर देती है। हम केवल ईश्वर को ही नित्य पदार्थ नहीं मानते किन्तु जीव और प्रकृति को भी नित्य मानते हैं। हमने पिछले अध्याय में कई स्थानों पर प्रकट कर दिया है कि ईश्वर वह सत्ता है जो जीव और प्रकृति को संसार के रूप में परिवर्त्तित करती है ठीक उसी प्रकार जैसे कुम्हार मिट्टी से घड़े को बनाता है। या घड़ी साज़ घड़ी को। जो लोग यह मानते हैं कि केवल ईश्वर ही नित्य है और वही इस सृष्टि के समस्त पदार्थों को बिना अन्य किसी वस्तु के उत्पन्न कर देता है उनको न केवल इस आक्षेप का उत्तर देना ही कठिन है किन्तु हमारी ओर से भी अनेक आक्षेप हो सकते हैं, जिनका कोई उत्तर ही नहीं हो सकता। जो लोग केवल ईश्वर को ही नित्य पदार्थ मानते हैं उनके लिये सब से कठिन समस्या तो यह है कि वह ईश्वर की सत्ता में सृष्टि की उत्पत्ति के लिये कोई प्रयोजन नहीं बता सकते। यदि सृष्टि से पहले केवल ईश्वर ही ईश्वर था और उसके अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु न थी तो ईश्वर ने सृष्टि क्यों बनाई? जो कुछ कार्य होता है वह या तो अपने लिये या दूसरे के लिये। यदि कहो दूसरे के लिये, तो यह ठीक नहीं क्योंकि ईश्वर से भिन्न दूसरा कोई है नहीं। यदि कहो अपने लिये, तो प्रकट होता है कि सृष्टि की आवश्यकता ईश्वर के लिये है। जिसको आवश्यकता होती है उसके अपूर्ण होने में कोई सन्देह ही नहीं, आवश्यकता की विद्यमानता ही अपूर्णता के लिये एक प्रमाण है। यदि ईश्वर को अपूर्ण मान लिया तो फिर उसको

पूर्ति किसी दूसरी ही सत्ता द्वारा हो सकेगी। दूसरी शंका यह उठती है कि ईश्वर ने शून्य से सृष्टि बनाई या कि अपने में से। यदि कहो कि ईश्वर ने आदि प्रकृति को शून्य से उत्पन्न किया और सृष्टि के समस्त पदार्थों को उस प्रकृति से। तो इससे भी बड़ी आपत्ति उपस्थित हो जाती है। जो ईश्वर प्रकृति को उत्पन्न कर सकता था वह अन्य वस्तुओं को भी शून्य से क्यों न उत्पन्न कर सकता। सायंस से यह बात सिद्ध है कि आजकल हम किसी वस्तु को शून्य से उत्पन्न हुआ नहीं देखते। कोई न कोई वस्तु तो अवश्य चाहिये। कोई बुद्धिमान मनुष्य यह नहीं मान सकता कि अमुक वस्तु शून्य से उत्पन्न हो गई। शून्य से वस्तुओं की उत्पत्ति मानने से उस सृष्टि क्रम का भी खण्डन हो जायगा जिसके आधार पर ईश्वर की सत्ता को सिद्ध किया जा सकता है। यदि कहो कि ईश्वर इन वस्तुओं को तो प्रकृति से बनाता है परन्तु प्रकृति को शून्य से, तो यह ऐसी कल्पना है जिसके लिये हमारे पास न युक्ति है न उदाहरण। जो लोग युक्ति या उदाहरण के न होते हुये भी किसी बात को मानने के लिये तैयार हैं वह जो कुछ चाहें मान सकते हैं। हमारा उनके साथ कोई झगड़ा नहीं है। परन्तु जो युक्ति प्रमाण आदि का मूल्य समझते हैं उनको सोच समझ कर अपने सिद्धान्त बनाने चाहिये।

यदि कहो कि ईश्वर प्रकृति को शून्य में से नहीं किन्तु अपने में से निकालता है जैसे मकड़ी अपने शरीर से जाला पूरती है, तो यह भी समीचीन प्रतीत नहीं होता। मकड़ी दो वस्तुओं से मिलकर बनी है एक चेतन जीव दूसरा प्राकृ-

तिक शरीर। चेतन जीव उस विशेष प्रकार के परमाणु-समूह अर्थात् शरीर में से यथासमय तार निकाला करता है। यदि तुमने मकड़ी का दृष्टान्त इसलिये दिया है कि मकड़ी की चेतनता और उसके शरीर की विद्यमानता को सिद्ध करें तो तुम्हारा सिद्धान्त वही होगा जो हमारा है। अर्थात् ईश्वर परमाणुओं से सृष्टि बनाता है। यदि कहो कि ईश्वर केवल अभौतिक, प्रकृतिरहित चेतन सत्ता है तो उसमें से भौतिक प्रकृति या सृष्टि का बनना वैसाही असम्भव होगा जैसा शून्य से बनना। अप्राकृतिक वस्तु में से प्राकृतिक वस्तुओं का निकलना किसी प्रकार भी सम्भव नहीं हो सकता। अतः सृष्टि क्रम से यही सिद्ध होता है कि ईश्वर सृष्टि का रचयिता है। हम उत्पादक, जनक, पिता आदि शब्दों को रचयिता के अर्थ में ही लेते हैं। किसी दूसरे अर्थ में नहीं। फ्लिण्ट ने भी हमारी ही बात को एक प्रकार से स्वीकार किया है। वह लिखते हैं:--

The inference which the theist requires to draw from the existence of order in the universe is merely the existence of an intelligence who produced that order. It follows that it is an unfair objection to his argument to urge, as has often been urged, that it does not directly and of itself prove God to be the *creator* of the universe, but only the *former* of it—not the author of matter, but only of the collections of matter. This objection, which men even like Hume, and Kant and

J. S. Mill have thought worth emyloying is simply that the argument does not prove more than it professes to prove. (Flint's Theism pp. 170-171)

अर्थात् आस्तिक सृष्टि क्रम से केवल यही सिद्ध करना चाहता है कि एक चेतन सत्ता है जो इस क्रम को उत्पन्न करती है। इससे सिद्ध है कि इसके विरुद्ध यह आक्षेप करना जैसा बहुधा किया गया है अन्याय है कि इस सृष्टि क्रम की युक्ति से ईश्वर केवल रचियता (former) सिद्ध होता है उत्पादक नहीं। प्रकृति का उत्पन्न करने वाला नहीं किन्तु प्रकृति के परमाणुओं का भिन्न २ रूप में रखने वाला। ह्यूम, काण्ट और जे. एस. मिल आदि तक ने इस आक्षेप को करना उचित समझा। परन्तु उनको यह ज्ञात नहीं कि इस युक्ति से केवल उतना ही सिद्ध हो सकता था जितना सिद्ध करने का प्रयोजन था अधिक नहीं (फ्लिण्ट का आस्तिकवाद पृ० १७–१७१)

तात्पर्य यह है कि यदि ईश्वर को प्रकृति के परमाणुओं से सृष्टि रचने वाला माना जाय तो इसमें न तो सायंस को कुछ आक्षेप है न मिल आदि दार्शनिकों को। परन्तु जब ईसाई या मुसल्मान लोग आगे बढ़कर ईश्वर को प्रकृति या जीवों का बनाने वाला भी मानने लगते हैं तो इनको आक्षेप होने लगता है। क्योंकि न तो सृष्टिक्रम से न अन्य युक्तियों से ही यह सिद्धान्त ठीक ठहरता है।

परन्तु फ्लिण्ट ने ईसाइ होने के कारण अपने मत की पुष्टि में एक और युक्ति दी है जिसकी मीमांसा भी आवश्यक है। वह लिखते हैं :—

It is remarkable, too, that those who have

urged this objection have never felt that before employing it they were bound to satisfy themselves and to prove to others that order is a mere surface or superficial thing—outside of matter super-imposed on it. If order be some thing inherently and intrinsically in matter—be of its very essence—belong to what is ultimate in it; if matter and its form be inseparable——than the author of its order must have been also the author of itself; and all that this objection shows us is, that those who have employed it have had mistaken notions about the nature of matter. Now, as I have already had to indicate, modern science seems rapidly perfecting the proof of this. The order in the heavens, and in the most complicated animal organisms, appears to be more wonderful than the order in the ultimate atom of which they are composed. The balance of evidence is in favour of the view that order extends as far and penetrates as deep as matter itself does. The human intellect is daily learning that it is foolish to fancy that there is anywhere in matter a sphere in which the Divine Wisdom does not manifest itself in and through order' (Flint's Theism pp. 171-172).

हम इसका अनुवाद न देकर आशय मात्र लिखते हैं। फ्लिएट का कहना है कि जे. एस मिल आदि यह तो मान लेते हैं कि क्रम किसी चेतन सत्ता का काम है। परन्तु वह यह नहीं समझते कि क्रम केवल ऊपरी ही वस्तु नहीं है किन्तु परमाणुओं के भीतर भी घुसा हुआ है। सायंस निरन्तर इस बात को सिद्ध करती चली जा रही है कि प्रत्येक वस्तु में एक क्रम काम कर रहा है। फिर परमाणुओं के भीतर भी क्रम सिद्ध हो जायगा।

फ्लिएट का तात्पर्य यह है कि यदि क्रम को परमाणुओं के भीतर भी सिद्ध कर दिया जाय तो जिस प्रकार सूर्य्य, चन्द्र आदि परमाणुओं से बनी हुई चीज़ों को ईश्वर द्वारा उत्पन्न हुआ मानते हैं इसी प्रकार परमाणुओं को भी ईश्वर द्वारा उत्पन्न हुआ मानना पड़ेगा।

वह कहते हैं कि मनुष्य अब इस बात का अनुभव कर रहा है कि कोई स्थान ऐसा मानना (चाहे वह ब्रह्माण्ड हो या परमाणु का भीतरी अवकाश,) जहां ईश्वर की सत्ता का प्रकाश नहीं है मूर्खता है।

फ्लिएट की पकड़ तो बड़ी भारी है और साधारण दृष्टि से प्रतीत होता है कि उन्होंने इस युक्ति द्वारा ईश्वर को परमाणुओं का बनाने वाला भी सिद्ध कर दिया। परन्तु जिस प्रकार वह परमाणुओं के भीतर घुसना चाहते हैं उसी प्रकार यदि हेतु के भीतर भी गहरे घुसते तो उनका यह हेतु हेत्वाभास से अधिक सिद्ध न होता। मुझे याद है कि एक बार एक साधारण मनुष्य ने मुझ से इस प्रकार वार्तालाप किया था :—

वह—क्या ईश्वर इस वस्तु में व्यापक है ?

मैं—हाँ है ?

वह—यदि इसको तोड़ कर टुकड़े टुकड़े कर दिया जाय तो क्या उन टुकड़ों में भी ईश्वर व्यापक रहेगा ?

मैं—हां। अवश्य।

वह—यदि इन टुकड़ों के भी अत्यन्त बारीक टुकड़े कर दिये जायं तो ?

मैं—उनमें भी व्यापक होगा।

वह—तो फिर सिद्ध हो गया कि ईश्वर ही ईश्वर है परमाणु नहीं।

मैं—यह कैसे ?

वह—क्योंकि बारीक से बारीक टुकड़े में भी वह व्यापक है तो फिर वही वह रह जाता है और कोई वस्तु नहीं।

मैं—अरे भाई। चाहे कितने ही टुकड़े क्यों न करें, व्याप्य व्यापक का सम्बन्ध तो रहेगा ही। टुकड़े व्याप्य के होंगे न कि व्यापक के। व्याप्य के टुकड़े करते ही व्याप्य व्यापक कैसे हो सकता है ? यह तो सम्भव है कि स्थूल व्याप्य के टुकड़े हो कर सूक्ष्म व्याप्य हो जाय परन्तु रहेगा तो वह व्याप्य ही। जो व्यापक स्थूल व्याप्य में व्यापक है वही सूक्ष्म व्याप्य में भी रहेगा। व्याप्य व्यापक सम्बन्ध कैसे छूट सकता है ?

यह तो थी एक साधारण मनुष्य की युक्ति। मैं समझता था कि उसको युक्ति करना नहीं आता इसलिये उसको भ्रम हो गया। परन्तु जब फ्लिएट जैसे विद्वान भी लगभग उसी प्रकार के हेतु देने लगे तो यह बड़ी आश्चर्य जनक बात है। वह यह समझते हैं कि परमाणु के भीतर भी क्रम (order)

सिद्ध करने से परमाणु भी क्रम हो जायगा। क्रम या नियम के लिये कोई वस्तु चाहिये चाहे वह स्थूल हो चाहे सूक्ष्म। क्रम में और उस वस्तु में भेद है जिसमें वह क्रम रहता है। क्रम और वस्तु एक नहीं हो सकते। कल्पना कीजिये कि किसी दुकान पर कुछ घड़ियाँ क्रमपूर्वक रक्खी हुई हैं। उनमें एक क्रम विशेष है क्योंकि दुकानदार ने मुख्य प्रयोजन को दृष्टि में रख कर उनको चुना है। यह क्रम और घड़ियाँ एक नहीं हैं। क्रम दुकानदार के मस्तिष्क से निकला है। घड़ियाँ अलग वस्तु हैं जिनमें इस क्रम का उपयोग किया गया है। घड़ियाँ क्रम नहीं हैं और न क्रम घड़ियाँ हैं। अब आप इस घड़ियों के समूह को छोड़ कर एक एक घड़ी पर आइये। जिस प्रकार सजावट में एक क्रम था। उसी प्रकार हर एक घड़ी की बनावट में एक क्रम है। घड़ी के पुर्ज़े हैं उन पुर्ज़ों को एक क्रम के अनुसार रखने से ही घड़ी बनी है। परन्तु न तो पुर्ज़ों का नाम क्रम है न क्रम का नाम पुर्ज़े। इसी प्रकार आगे चलिये। एक कमानी को लीजिये। पीतल के टुकड़ों को एक क्रम के अनुसार रखने से कमानी बन गई। उसमें भी एक क्रम उसी प्रकार है जैसे दुकान पर घड़ियों की सजावट में था। परन्तु न तो टुकड़े क्रम हैं न क्रम का नाम टुकड़े है। टुकड़ों में क्रम है। टुकड़े क्रम नहीं। अब इन टुकड़ों को लीजिये। यह पीतल के टुकड़े किन्हीं अणुओं को एक क्रम से रखने से बने हैं। यह अणु क्रम नहीं। और न क्रम का नाम अणु है। अणुओं में क्रम है। कुछ और आगे बढ़िये। यह अणु परमाणुओं से मिल कर बने हैं अर्थात् इन परमाणुओं को एक विशेष क्रम से रख देने से

अणु बना है क्रम परमाणुओं में है। क्रम परमाणु नहीं और न परमाणु क्रम है। परमाणु वह वस्तु है जिसके आगे टुकड़े नहीं हो सकते। अतः यह प्रश्न ही नहीं उठता कि उनमें भी क्रम है। यदि कहो कि हम परमाणुओं के भी टुकड़े कर सकते हैं तो हम कहेंगे कि जो टुकड़े करते करते अन्त में दशा होगी उसी का नाम हम 'परमाणु' रख लेंगे। यदि कहो कि ऐसी दशा आने की ही नहीं। तो हम कहते हैं और बलपूर्वक कहते हैं कि यह कथन उन्मत्त के प्रलाप से बढ़ कर नहीं। टुकड़ों के जितने टुकड़े करते जाओगे टुकड़े होते जायंगे। यह असम्भव है कि अधिक टुकड़े करने से उन टुकड़ों का अस्तित्व भी न रहे। यह दूसरी बात है कि वह हमको दीखें या न दीखें। हां एक बात तुम कह सकते हो, वह यह कि हम उन सूक्ष्मतम परमाणुओं के भी कल्पना द्वारा टुकड़े कर सकते हैं। हम ऐसे कल्पनावादियों से कुछ कहना नहीं चाहते जो बैठे बिठाये बिना किसी आधार के वायुमण्डल में क़िले बनाते रहते हैं। यदि बिना आधार के कल्पना करनी है तो ईश्वर के भी कल्पना द्वारा टुकड़े किये जा सकते हैं। उसके मरने आदि की भी कल्पना की जा सकती है। ऐसी ऊंट पटांग कल्पनाओं या इन कल्पनाओं द्वारा सूझे हुये हेतुओं को हम कल्पित हेतु ही कहेंगे।

हम ऊपर बता चुके हैं कि यदि यह भी मान लिया जाय कि क्रम या नियम परमाणुओं के भीतर भी है तो भी यही मानना पड़ेगा कि क्रम का बनाने वाला ईश्वर है न कि उस वस्तु का जिसमें वह क्रम पाया जाता है।

फ्लिण्ट महोदय आगे लिखते हैं:--

The order of the universe must have originated with intelligence. What is implied in this admission? Clear that the order of the universe cannot have originated with matter, that matter is unintelligent, and cannot account either for intelligence or the effects of intelligence. The supposition that matter is eternal must in this case be supplemented by the admission that mind is eternal. In other words, the affirmation that the former of the world is merely its former--the denial that its former is also its creator--means dualism, the belief in two distinct eternal existences—an eternal mind and eternal matter. Whoever is not prepared to accept this hypothesis must abandon the affirmation and denial from which it necessarily follows. And who can, after due deliberation, accept it? *The law of parsimony of causes* absolutely forbids our assuming, for the explanation of anything, more causes than are necessary to account for it. It forbids, therefore, our belief in an eternal matter and an eternal mind, *unless we can show reason for holding that one of them alone is not a sufficient cause of the universe.*" (Flint's Theism pp. 172-173).

"सृष्टि क्रम की उत्पत्ति अवश्य बुद्धि से हुई। इसका क्या

अर्थ है ? स्पष्टतया यही कि सृष्टि क्रम जड़ प्रकृति से उत्पन्न नहीं हो सकता। प्रकृति जड़ है और उससे बुद्धि या बुद्धि से उत्पन्न होने वाली घटनायें उत्पन्न नहीं हो सकतीं। इसलिये यदि प्रकृति को नित्य मानो तो साथ साथ बुद्धि (चेतन सत्ता) को भी नित्य मानना पड़ेगा। इसलिये यदि ईश्वर को सृष्टि का रचयिता ही मानते हैं और प्रकृति का उत्पादक नहीं मानते तो यह द्वैतवाद हो जाता है अर्थात् दो चीज़ें नित्य माननी पड़ती हैं एक नित्य ईश्वर और दूसरी नित्य प्रकृति। जो इस कल्पना को स्वीकार करने के लिये तैयार नहीं उसको अवश्य अपनी स्थिति बदलनी पड़ेगी। और कौन ऐसा मनुष्य है जो विचार करने के पश्चात् भी इस को मान ले ? यह नियम है कि किसी घटना की मीमांसा करने के लिये हमको न्यूनतम कारणों को मानना चाहिये। इसलिये हम नित्य ईश्वर और नित्य प्रकृति दोनों को नहीं मान सकते जब तक यह न सिद्ध हो जाय कि केवल एक ही नित्यता सृष्टि रचना की व्याख्या करने में असमर्थ है"। (आस्तिकवाद पृ० १७२,१७३)

यहां फ्लिगट महाशय यह तो मान लेते हैं कि सृष्टि क्रम से ईश्वर और प्रकृति दोनों नित्य ठहरती हैं। परन्तु उनको न्यूनतम कारणों का नियम (Law of parsimony of causes) बाधित करता है कि वह दोनों को नित्य मानें। क्या अच्छी युक्ति है ? न्यूनतम कारणों का नियम बाधित करता है कि हम एक बच्चे की उत्पत्ति माता पिता दोनों से मानें, जब अकेले आदम से हव्वा उत्पन्न हो सकती है। जब प्रकृति

मरियम से ईसा उत्पन्न हो सकते हैं। तो फिर संसार के प्रत्येक स्त्री और पुरुष का या तो बाप ही मानना पड़ेगा या केवल माता ही। न्यूनमत-कारणों के नियमानुसार दोनों को मानना ठीक न होगा। जिसने इस समस्या पर पूर्ण विचार किया है वह यही मानेगा कि न केवल चेतन सत्ता ही सृष्टि को बना सकती है न केवल जड़ प्रकृति ही। जड़ प्रकृति में गति और क्रम कहां से आवेगा? और अकेली चेतन सत्ता किस में गति उत्पन्न करेगी? सृष्टि रचना अकर्म्मक क्रिया नहीं है जिसका फल कर्त्ता तक ही समाप्त हो जाय। यह एक सकर्म्मक क्रिया है जिसमें क्रिया का फल कर्त्ता से चल कर कर्म तक पड़ता है। "मैं सोता हूं", 'यहां सोना' अकर्मक क्रिया है। परन्तु "मैं देखता हूं" यहां देखने के लिये कोई वस्तु चाहिये। यदि कोई कहे कि 'मैं देखता हूं' और तुम पूछो "क्या देखते हो?" और वह कहे "कुछ नहीं" तो तुम उसको अवश्य मूर्ख कहोगे। देखना हो ही तब सकता है जब कर्म हो। इसी प्रकार ईश्वर सृष्टि रच ही तभी सकता है जब रचने के लिये प्रकृति हो। मुझे दुकान सजानी है। परन्तु दुकान नहीं तो मैं क्या सजाऊंगा।

प्लिएट तथा अन्य कई दार्शनिक लोगों को "आदि कारण" (First cause) बहुत त्रास देता है। वह कहते हैं कि जब ईश्वर "आदि कारण" है तो फिर प्रकृति नित्य कैसे हो सकती है? जब ईश्वर "पर्याप्त कारण" (sufficient cause) है तो सृष्टि-रचना के लिये प्रकृति की क्या आवश्यकता? परन्तु कितनी आश्चर्य की बात है कि यह लोग 'पर्याप्त कारण' की पर्य्याप्तता को नहीं समझते। पर्य्याप्त कारण का तो केवल

इतना अर्थ है कि उसको अन्य कारणों की आवश्यकता न पड़े। ईश्वर को नहीं पड़ती। मैं आंख से देखता हूं। ईश्वर बिना आंख के देखता है। मैं हाथ से छूता हूं। वह बिना हाथ के छूता है। मैं यंत्रों से काम करता हूं। उसको यंत्रों की आवश्यकता नहीं है। अतः हम कहते हैं कि वह पर्य्याप्त कारण है। परन्तु पर्य्याप्त कारण का यह अर्थ नहीं कि कोई वस्तु न हो और उसे रच दे। कोई बीज न हो और उसे वृक्ष बना दे। पिटने वाला कोई न हो और उसे पीट दे। मरने वाला कोई न हो और उसे मार दे। सोने वाला कोई न हो और उसे सुला दे। दण्ड पाने वाला कोई न हो और उसे दण्ड दे दे।

लोग कहते हैं कि क्या एक चेतन सत्ता से समस्त सृष्टि नहीं बन सकती? क्या पर्य्याप्त कारण अकेला सृष्टि बनाने में असमर्थ है? हम सर्व शक्तिमत्ता की मीमांसा करते हुये कुछ लिख चुके हैं। समर्थता या शक्तिमत्ता के वाग् जाल से निकलने के लिये लोगों को तत्व पर विचार करना चाहिये। हम कह सकते हैं कि अकेली चेतन सत्ता जड़ प्रकृति के बिना जड़ सृष्टि को नहीं बना सकती। "सकना" शब्द के प्रयोग से इतना नहीं डरना चाहिये।

इतना तो फ्लिएट भी मानते हैं कि सृष्टि क्रम से "द्वैतवाद" की सिद्धि होती है। अब इसके आगे इतनी बातों में से एक अवश्य होगी :–

(१) या तो अकेली चेतन सत्ता से ही समस्त सृष्टि मानी जाय।

(२) या अकेली जड़ सत्ता से।

(३) या इन के अतिरिक्त किसी तीसरी सत्ता से।

(४) या दोनों से।

दूसरी तथा तीसरी कल्पना का तो वह भी निषेध करते हैं। पहली के मानने में बहुत से आक्षेप हैं जिनका हम ऊपर वर्णन कर चुके हैं। अब केवल चौथी कल्पना ही शेष रह जाती है। वस्तुतः यह कल्पना (hypothesis) नहीं है किन्तु सुदृढ़ विचार और युक्तियों का निकाला हुआ सिद्धान्त है।

कुछ लोग कहा करते हैं कि "दर्शन शास्त्र (Philosophy) का उद्देश्य यही है कि समस्त वस्तुओं की एक जड़ का पता लगा ले। द्वैतवाद से दार्शनिकों को सन्तोष नहीं होना चाहिये"। हम को ऐसी बातों से हंसी आती है। दार्शनिक लोगों के पास इस कल्पना के लिये क्या आधार हैं कि उनको समस्त सृष्टि का एक ही मूल ढूंढ लेना चाहिये। दार्शनिक लोगों का कर्त्तव्य तत्व अर्थात् सत्य की खोज करना है न कि अद्वैत से प्रेम और द्वैत से घृणा करना। सृष्टि जैसी कुछ है हमारे सम्मुख उपस्थित है उसके विकास की खोज करना दार्शनिकों का काम है। यदि इससे अद्वैत सिद्ध होता है तो वह अद्वैत को मानें। परन्तु यदि अद्वैत नहीं सिद्ध होता तो केवल "दार्शनिक' (फिलासफ़र) कहलाने के लिये द्वैत से घृणा करना दार्शनिकता नहीं किन्तु इसका उलटा है।

अद्वैत प्रेम ने बड़े बड़े दार्शनिकों को भूल भुलइयों में डाल रक्खा। वह अपना उद्देश यही समझते रहे कि किसी प्रकार अद्वैत की सिद्धि करें। शङ्कराचार्य ने मायावाद की इसीलिये कल्पना की कि बिना माया के शुद्ध अद्वैतवाद

सृष्टि की मीमांसा करने में असमर्थ था। द्वैत से उनको घृणा थी। अतः अनिर्वचनीय माया की रचना या कल्पना की गई। परन्तु क्या इससे अद्वैत की सिद्धि हो गई? कदापि नहीं, माया तो फिर भी "ब्रह्म" के गले में लटकती ही रही। यदि मैं अद्वैतवादियों से पूछूं कि क्या शुद्ध ब्रह्म बिना माया के सृष्टि रचने में "असमर्थ" है तो इसका उनके पास कोई उत्तर नहीं।

फिर मैं पूछता हूं कि जो "पर्याप्त कारण" आरम्भ में प्रकृति के परमाणुओं को उत्पन्न करने में पर्याप्त था वह आजकल बिना बीज के वृक्ष उगाने, बिना मा-बाप के लड़का उत्पन्न करने, बिना आक्सीजन हायड्रोजन के जल बनाने, बिना जल के बर्फ़ या ओला बनाने, बिना मिट्टी के पर्वत बनाने के लिये क्यों पर्याप्त नहीं है?

बहुत से लोग डरते हैं कि प्रकृति को नित्य मानने से ईश्वर कुम्हारवत् हो जायगा? परन्तु कुम्हार से इतनी घृणा क्यों? क्या इसलिये कि आधुनिक हिन्दू जाति अपनी मूर्खता से कुम्हार को नीच समझती है? दृष्टान्त का केवल एक अङ्ग लिया जाता है। ईश्वर कुम्हार नहीं किन्तु कुम्हारवत् है। वह भी एक अंश में अर्थात् वस्तुओं के बनाने में। उसमें और कुम्हार में उतना ही भेद है जितना पृथ्वी या सूर्य्य-मण्डल और घड़े में है। यदि कुम्हारवत् कहने में ईश्वर का अपमान होता है तो पिता या पितृवत् कहने में क्यों नहीं? क्या ईश्वर को पिता मानने का यह अर्थ है कि वह सांसारिक पिता के समान स्त्री-भोग द्वारा सन्तानोत्पत्ति करता है? यह केवल दृष्टान्त है। दृष्टान्त को दृष्टान्त की मर्यादा से

आगे नहीं जाने देना चाहिये। यह केवल दृष्टान्त ही है जिसका संकेत गीता के निम्न श्लोक में किया गया है :-

"महद्योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्"

यहां "महद् ब्रह्म" का अर्थ है प्रकृति, उसमें ईश्वर गर्भ धारण करता है अर्थात् अपनी ज्ञान सहित क्रिया का उसमें प्रवेश करता है। इसी का नाम सृष्टि क्रम है। सृष्टि नाम है प्रकृति और क्रम ईश्वर की ओर से आता है।

दूसरी शंका।

"Mr. Spencer, Mr. Lewes, and Professor Tyndall argue that the cause of the universe cannot be known to be intelligent, because the reason of man, being finite can not comprehend the infinite." (Flint's Theism pp. 174).

"स्पेंसर ल्यूएस तथा उपाध्याय टिण्डल का कहना है कि सृष्टि के कारण को ज्ञानवान नहीं कह सकते क्योंकि मनुष्य की बुद्धि अल्प होने के कारण वह अनन्त को नहीं जान सकता"।

(फ्लिण्ट का आस्तिकवाद। पृ० १७४)

हम इस आक्षेप का विस्तृत उत्तर आठवें अध्याय में दे चुके हैं परन्तु इस आक्षेप के उठाने का उन्हीं को अधिकार है जो सृष्टि का चेतन कर्त्ता मानते हैं। जिनको सृष्टि की बुद्धि-मत्ता पर भी विश्वास नहीं उनके लिये सान्त और अनन्त का प्रश्न उठाना ही व्यर्थ है। यदि सृष्टि-क्रम बुद्धिमत्ता युक्त नहीं तो उसको जानने के लिये भी किसी बुद्धिमत्ता की आवश्य-

कता नहीं। परन्तु हम देखते हैं कि इसी सृष्टि के अनन्त न सही थोड़े ही अंश को जानने की कोशिश करने वाले टिण्डल जैसे सायंसज्ञ अपने को बुद्धिमान् ही समझते हैं। क्या यह आश्चर्य नहीं है कि किसी वस्तु के बनाने के लिये तो बुद्धि की आवश्यकता न हो परन्तु उसके समझनेके लिये बुद्धि की आवश्यकता अवश्य हो। पुस्तक तो बिना बुद्धि के भी लिखी जा सके परन्तु उसका पढ़ना केवल विद्वान के लिये ही सम्भव हो। सान्त और अल्प मनुष्य का इस सृष्टि रूपी अनन्त पुस्तक को पढ़ने की नित्य निरन्तर कोशिश करते रहना ही इस बात का प्रमाण है कि यह सृष्टि किसी महान् बुद्धिमान् की बनाई है रही इस बुद्धि की अनन्तता, इसका अनुभव तो मनुष्य के मस्तिष्क को पग पग पर होता है। क्या ज्ञान उतना ही है जितना टिण्डल महोदय ने प्राप्त कर पाया है? या केवल उतना ही है जो बड़े से बड़ा सायंसज्ञ जान सका है? क्या सृष्टि इसके आगे कुछ नहीं बताती? क्या सृष्टि की पुस्तक के उतने ही पृष्ठ हैं जितने हमने पढ़ पाये हैं? यदि नहीं तो सृष्टि या सृष्टि कर्त्ता की अनन्तता में सन्देह क्यों? वस्तुतः थोड़ा सा भी विचार किया जाय तो ज्ञात होगा कि सृष्टि रूपी पुस्तक जिल्द बंधी हुई पुस्तक नहीं है जिसका अन्तिम पृष्ठ हमने पढ़ लिया है या किसी ने पढ़ लिया है। यह वह अपार पुस्तक है जिसके पृष्ठ पर पृष्ठ पलटते जाइये उनका पठन पाठन मनन निदिध्यासन करते जाइये और इसका अन्त होने को नहीं आता एक जीवन नहीं, सहस्र जीवन व्यय करने पर भी यही अनुभव होता है कि अभी इस पुस्तक का आरम्भ ही किया है। इस लिये सृष्टि की सान्तता में तो सन्देह हो सकता था

परन्तु उस या उसके रचियता की अनन्तता में सन्देह करना विचार शून्यता का ही प्रदर्शक है।

तीसरी शंका।

मिस्टर जे. एस. मिल (J. S. Mill) महोदय की शंका को उन के ही शब्दों में देना अच्छा होगा :—

"It is not too much to say that every indication of design in the Cosmos is so much evidence against the omnipotence of the Designer. For what is meant by design? Contrivance, the adaptation of means to end. But the necessity for contrivance---the need of employing means---is a consequence of the limitation of power. Who would have recourse to means if to attain *his end*, his mere word was sufficient? The very idea of means implies that the means have an efficacy which the merest action of the being who employs them has not. Otherwise they are not means, but an encumbrance. A man does not move his machinery to move his arms. If he did, it could only be when paralysis had deprived him of the power of moving them by volition. But if the employment of contrivance is in itself a sign of limited power, how much more so is the *careful, and skilful choice of contrivances*? Can any wisdom

be shown in the selection of means when the means have no efficacy but what is given them by the will of him who employs them, and when his will could have bestowed the same efficacy on any other means? Wisdom and contrivance are shown in overcoming difficulties, and there is no room for them in being for whom no difficulties exist. The evidences, therefore, of natural theology distinctly imply that the author of the cosmos worked under limitations." (Three Essays on Religion, pp. 176, 177).

"इसमें कोई अत्युक्ति नहीं है कि सृष्टि की रचना का प्रत्येक चिह्न रचयिता की सर्वशक्तिमत्ता के विरुद्ध एक प्रमाण है। क्योंकि रचना का क्या अर्थ है? प्रयोग अर्थात् साधनों को इस प्रकार काम में लाना कि साध्य की सिद्धि हो सके। परन्तु प्रयोग की आवश्यकता अर्थात् साधनों को काम में लाने की ज़रूरत ही शक्ति के परिमित होने के कारण होती है। साधनों का प्रयोग कौन करता यदि उसके साध्य की सिद्धि के लिये उसका कथन मात्र पर्य्याप्त होता? साधनों का विचार ही यह प्रकट करता है कि जो काम साधनों से निकल सकता है वह उनके प्रयोग करने वाले से बिना उनके नहीं निकल सकता। अन्यथा वह साधन साधन न होंगे किन्तु व्यर्थ बोझ होगा। कोई पुरुष अपना हाथ उठाने के लिये यंत्रों का प्रयोग नहीं करता। यदि वह करता है तो उसी समय जब फ़ालिज़ मारजाने के कारण उसकी इच्छा मात्र से हाथ नहीं उठ

सकते। परन्तु यदि साधनों का प्रयोग मात्र ही शक्ति के अल्प होने का चिह्न है तो साधनों का विचार और बुद्धि-पूर्वक निर्वाचन इस अल्पता का और भी अधिक प्रमाण होगा! यदि साधनों में वही योग्यता है जो उसके प्रयोग करने वाले ने उन्हें दी है और यदि यह योग्यता वह किन्हीं अन्य साधनों को भी दे सकता था तो उनके निर्वाचन करने में बुद्धि की क्या आवश्यकता है? बुद्धि और साधनों का प्रयोग तो आपत्तियों को दूर करने में होता है। उस सत्ता के लिये इनकी क्या आवश्यकता है जिसके सम्मुख कोई आपत्ति है ही नहीं? इस लिये प्राकृतिक आस्तिकवाद के प्रमाणों से स्पष्टतया यही सिद्ध होता है कि सृष्टि के रचयिता की शक्तियाँ अल्प हैं"

(धर्मसम्बन्धी तीन व्याख्यान पृ० १७६-१७७)

मिल महोदय की इस शंका में कई शंकायें सम्मिलित हैं। अर्थात्

(१) चूंकि ईश्वर अपने साधन की सिद्धि के लिये साधनों का प्रयोग करता है अतः वह सर्वशक्तिमान् नहीं।

(२) चूंकि वह इन साधनों का बुद्धि और विचार पूर्वक प्रयोग करता है अर्थात यह देखता है कि कौन से साधनों का प्रयोग करना चाहिये और कौन सों का नहीं। अतः उसकी शक्ति अत्यन्त अल्प है।

(३) जब उन साधनों को भी वही बनाता है। अर्थात् उन साधनों को अपनी इच्छा के अनुसार ही गुण तथा योग्यतायें देता है तो उनके निर्वाचन में बुद्धिमत्ता भी प्रदर्शित नहीं होती।

यदि दूसरे के बनाये हुये साधनों में से उसे छांट करनी पड़ती तो अवश्य उसे बुद्धिमान् कह सकते।

(४) साधनों का प्रयोग वही करता है जो किसी कठिनाई में हो। अतः ईश्वर को अवश्य कोई कठिनाई प्रतीत होती है।

मिल महाशय यह समझते हैं कि

(१) ईश्वर सृष्टि को अपने किसी साध्य की सिद्धि के लिये रचता है। अर्थात् वह शायद किसी कठिनाई में है या उसको कोई आवश्यकता है जिसकी पूर्त्ति के लिये उसे सृष्टि रचनी पड़ती है।

(२) इस साध्य सिद्धि के लिये वह कुछ साधन बनाता है।

(३) और फिर उन साधनों में से उपयुक्त साधनों को छांटता है।

हमको इनमें से तीनों बातें स्वीकृत नहीं। हम शायद पहले भी किसी स्थान पर कह चुके हैं कि सृष्टि रचने का ईश्वर को कोई अपना प्रयोजन नहीं। क्योंकि उसमें कोई अपूर्णता या आवश्यकता नहीं, आक्षेप मिल महोदय के सजातीय ईसाई धर्मावलम्बियों के प्रति अवश्य हो सकता है जो केवल ईश्वर को ही नित्य मानते हैं और जनसे पूछा जा सकता है कि जब सृष्टि रचना से पहले ईश्वर ही ईश्वर था तो उसको सृष्टि बनाने की क्या ज़रूरत थी? परन्तु हमारा ऐसा मत नहीं। हम तो पहले भी कह चुके हैं कि ईश्वर जीवों के उपकार के लिये सृष्टि बनाता है जिससे जीवों को कर्म और फल पाने के साधन प्राप्त हो सकें। जीव अल्प हैं। उनकी शक्तियां अल्प हैं। उनको काम करने और भोग करने दोनों के लिये शरीर तथा अन्य साधनों की ज़रूरत है। इन्हीं

साधनों का नाम सृष्टि है। अर्थात् यदि आंखें न हों और आंख से देखने के लिये रूप भी न हो तो जीव किस से क्या देखेगा ? यदि उसके मुख न हों, न भक्ष्य पदार्थ हो तो किस से क्या खायेगा ? यदि हाथ न हो, न हाथ के द्वारा पकड़ने के लिये वस्तुयें हों तो हाथों से क्या काम करेगा ? यदि हृदय न हो और हृदय से प्रेम करने के लिये कोई प्रेम करने योग्य वस्तु भी न हो तो किससे किसको प्रेम करेगा ? यदि बुद्धि न हो और बुद्धि से जानने योग्य सृष्टि भी न हो तो किस से किस वस्तु का विचार करेगा ? अतः जीव को पग पग पर प्रत्येक काम करने और प्रत्येक भोग की प्राप्ति के लिये सृष्टि की आवश्यकता है। इसी लिये ईश्वर परोपकारार्थ सृष्टि बनाता है। स्वामी दयानन्द ने सत्यार्थ प्रकाश के आठवें समुल्लास में लिखा है:—"(प्रश्न) जगत् के बनाने में परमेश्वर का क्या प्रयोजन है ? (उत्तर) नहीं बनाने में क्या प्रयोजन है ? (प्रश्न) जो न बनाता तो आनन्द में बना रहता और जीवों को भी सुख दुःख प्राप्त न होता। (उत्तर) यह आलसी और दरिद्र लोगों की बातें हैं। पुरुषार्थी की नहीं। और जीवों को प्रलय में क्या सुख वा दुःख है ? जो सृष्टि के सुख दुःख की तुलना की जाय तो सुख कई गुणा अधिक होता और बहुत से पवित्रात्मा जीव मुक्ति के साधन कर मोक्ष के आनन्द को भी प्राप्त होते हैं। प्रलय में निकम्मे जैसे सुषुप्ति में पड़े रहते हैं वैसे रहते हैं और प्रलय के पूर्व सृष्टि में जीवों के लिये पाप पुण्य कर्मों का फल ईश्वर कैसे दे सकता और जीव क्यों कर भोग सकते ?" (सत्यार्थ प्रकाश, अठारहवीं बार पृ० १९४, १५)

सृष्टि बनाने में ईश्वर का अपना साध्य कुछ नहीं अतः उसमें अपूर्णता का दोष नहीं लग सकता।

अब रहा साधनों के प्रयोग का प्रश्न। यह हम 'सर्वशक्तिमान्' शब्द की व्याख्या करते हुये लिख चुके हैं कि ईश्वर को सृष्टि की रचना के लिये किन्हीं साधनों का प्रयोग करना नहीं पड़ता। न वह साधनों का चुनाव ही करता है। जिनको आप साधन कहते हैं वह भी तो उसी के बनाये हुये हैं। इनके बनाने के लिये उसने कोई अन्य साधन प्रयुक्त नहीं किये। वस्तुतः जिनको लोगों ने साधन कहा है वह भी किन्हीं किन्हीं जीवों के लिये साध्य हैं। क्योंकि उन्हीं के लिये उनका निर्माण हुआ है। कल्पना कीजिये कि एक सुप्रबद्ध देश है, जिसमें दस करोड़ मनुष्य रहते हैं। उनका राजा बड़ा चतुर, दयालु तथा परोपकारी है। इन दस करोड़ मनुष्यों में से भिन्न २ श्रेणियों के हैं, उनको आवश्यकतायें भिन्न २ हैं। अतः वह राजा अपने राज्य में ऐसी संस्थायें खोलता है जिनकी उसको अपने लिये तो कुछ आवश्यकता नहीं परन्तु अन्य पुरुषों के विकास तथा भोग के लिये अवश्य ज़रूरत है। यह संस्थायें किसी जीव के लिये तो साधन होंगी और किसी के लिये साध्य। जैसे डाकखाने का विभाग लीजिये। व्यापारी तथा अन्य गृहस्थ लोगों के लिये तो यह डाक घर साधन मात्र है क्योंकि उनके पत्र व्यवहार के लिये यह खोला गया है परन्तु जो पुरुष डाक घर में नौकर हैं उनके लिये यही साध्य है क्योंकि उसके द्वारा इनकी जीविका चलती है। और इसी विभाग में कार्य करके वह अपनी बुद्धि का भी विकास कर सकते हैं। इसी प्रकार पुलिस, सेना, न्यायालय,

व्यापार-समितियों, तथा बैंकों का हाल है। यह सब किसी पुरुष की अपेक्षा से साध्य और किसी की से साधन हैं। यदि एक का कर्त्तव्य क्षेत्र है तो दूसरे का भोग क्षेत्र। यदि एक पुरुष का पद च्युत करना उसके दण्ड का हेतु है तो वही पदरिक्ति दूसरे पुरुष को पुरस्कार देने का भी हेतु होती है। इसी प्रकार सृष्टि रचना को समझिये। इसमें असंख्य जीव हैं। सृष्टि की एक एक घटना से सैकड़ों जीवों का सम्बन्ध है। उस घटना द्वारा ही बहुत से जीव कर्म करने का अवसर पाते हैं बहुतों को दुःख रूपी दण्ड मिलता है और बहुतों को सुख रूपी पुरस्कार मिलता है! किसी मनुष्य की मृत्यु का ही दृष्टान्त लीजिये। कल्पना कीजिये कि 'क' नामक एक मनुष्य मरता है। यह एक छोटी सी घटना है परन्तु इसी के द्वारा उसकी स्त्री को विधवा होने का दण्ड मिलता है, उसके माता पिता को पुत्र हीन होने का, उसके बच्चों को पितृहीन होने का, उसके सम्बन्धियों को मित्र-विछोह का, उसके शत्रुओं को शत्रुरहित होने का पुरस्कार और उसको स्वयं सम्भव है मृत्यु पुरस्कार के रूप में हो, सम्भव है दुःख के रूप में। फिर उस मृत्यु से न जाने कितने मनुष्यों के लिये कर्मक्षेत्र खुल जाता है जो उसके जीवन में शायद अपना कार्य्य नहीं कर सकते थे। इसलिये यह कहना कि ईश्वर साधनों द्वारा अपने साधनों की सिद्धि करता है ठीक नहीं है। सृष्टि में साध्य और साधन इस प्रकार मिले हुये हैं कि उनके बीच में कोई भेदक भित्ति खींची नहीं जा सकती।

एक प्रकार से समस्त सृष्टि साधन है अर्थात् उसकी रचना जीवों के लिये कर्म क्षेत्र और भोग क्षेत्र उत्पन्न करने

के लिये हुई है। परन्तु इससे न तो ईश्वर की अपूर्णता सिद्ध होती है न उसकी सर्वशक्तिमत्ता में कोई भेद पड़ता है। मिल महोदय का यह कथन तो बड़ा ही विचित्र और हास्य प्रद है कि ईश्वर विचार पूर्वक साधनों का चुनाव करने के कारण निर्बल है। क्या अन्धाधुन्धी साधनों का चुनाव करता तो मिल महोदय उसको सबल कहने लगते ? निर्बलता और सबलता की यह कसौटी केवल उन्हीं की समझ में आसकती है। ज्ञान तथा विचार को सभी लोग शक्तिमत्ता का चिन्ह समझते हैं। संस्कृत की लोकोक्ति है।

बुद्धिर्यस्य बलंतस्य निर्बुद्धेस्तु कुतोबलम्।

अर्थात् जिसके बुद्धि है उसके बल है। बिना बुद्धि के बल कैसा ? यदि ईश्वर की सृष्टि में अन्धाधुन्धी पाई जाती। यदि वह मिल महोदय की आवश्यकताओं का विचार न करके उनके पैर में आंख और पीठ पीछे नाक लगा देता। यदि उनके शरीर में पाचन-शक्ति के यंत्र को मस्तिष्क में रख देता और मुँह से उसका कुछ सम्बन्ध न रखता, यदि मिल साहेब की आंखों में पलकों के नीचे बड़े बड़े नाखून होते तो शायद उनको यह आक्षेप करने का अवसर न मिलता कि "साधनों का विचार और बुद्धि-पूर्वकनिर्वाचन" (careful and skilful choice of contrivances) ईश्वर की अल्पता को प्रकट करता है।

हम ऊपर कह चुके हैं कि जिस प्रकार हम अपने हाथ को इच्छा-शक्ति से ही बिना यंत्र की सहायता के उठा लेते हैं उसी प्रकार ईश्वर भी इच्छा मात्र से ही प्रकृति के परमाणुओं का संयोग और वियोग करके सृष्टि की रचना करता रहता

है। हम को तो हाथ उठाने के लिये शरीर रूपी यंत्रों की आवश्यकता भी पड़ती है। और इन यंत्रों के फ़ालिज द्वारा बिगड़ जाने पर अन्य यंत्रों का भी प्रयोग करना पड़ता है। परन्तु ईश्वर को इन यंत्रों की भी आवश्यकता नहीं पड़ती।

हां बुद्धि-पूर्वक निर्वाचन आवश्यक है। यह माना कि सब साधनों को उसी ने बनाया है और उनमें गुण तथा योग्यतायें भी उसी ने उत्पन्न की हैं। परन्तु जो वस्तु अथवा घटना एक जीव के लिये साधक है वह दूसरे के लिये बाधक। अतः यह आवश्यक है कि प्रत्येक जीव की आवश्यकता के अनुसार साधन दिये जायं। यह तभी हो सकता है जब बुद्धि और विचार को काम में लाया जाय। मिल महोदय का मस्तिष्क और शेर के पंजे दोनों का बनाने वाला ईश्वर है। परन्तु यदि बिना विचारे मिल महोदय को शेर के पंजे दे दिये जाते और मिल साहेब की उंगलियाँ शेर के हाथ में दे दी जाती तो क्या मिल साहेब और शेर जी दोनों की आवश्यकतायें पूरी हो सकती थी? कदापि नहीं। और क्या ऐसा करना ईश्वर की शक्तिमत्ता का चिन्ह होता? कदापि नहीं।

अब केवल एक शंका रहती है। अर्थात् क्या ईश्वर के लिये यह सम्भव नहीं था कि वह इन साधनों का प्रयोग न करके किन्हीं अन्य साधनों का प्रयोग करता अर्थात् क्या यह सम्भव न था कि आंख की पलकों में नाखून भी होते और वह आंख की पुतली में भी न गड़ते? यह शंका तो हास्यजनक ही है परन्तु हम इतना ही कह सकते हैं कि यदि ऐसा होता तो भी मिल महोदय की शंका से बचना संभव

न था क्योंकि वह साधनों के किसी अन्य रूप के सोचने में अपना मस्तिष्क लगाते। जिन्होंने आक्षेप करने का ठेका ले लिया है उनको कौन सी वस्तु से शान्ति हो सकती है ? यदि उनको पूर्ण आखें और पूर्ण नाक दी जाय तो भी वह यह शिकायत करेंगे कि नाक से दीखता क्यों नहीं और आंख से गंध का ज्ञान क्यों नहीं होता। आग प्यास क्यों नहीं बुझाती और पानी से दीपक क्यों नहीं जलता।

चौथी शंका

चूंकि सृष्टि में साधनों का विचार और बुद्धि-पूर्वक प्रयोग पाया जाता है इस लिये जे. एस. मिल ईश्वर के मानने में असमर्थ हैं। अब हम उन लोगों का वर्णन करते हैं जिनको सृष्टि में त्रुटियां ही त्रुटियां दिखाई देती हैं।

प्रथम मिल को ही लीजिये। एक ओर तो वह बुद्धि-पूर्वक साधनों का प्रयोग करने वाले ईश्वर को नहीं मान सकते क्योंकि बुद्धि की अवश्यकता निर्बलता का चिन्ह है। दूसरी ओर अन्धाधुन्धी की भी शिकायत करते हैं :

" Killing, the most criminal act recognized by human laws nature does once to every being that lives—No human being ever comes into the world but another human being is literally stretched on the rack for hours and days, not unfrequently issuing in death......A single hurricane destroys the hopes of a season......Every thing, in short which the worst men commit either against

life or property, is perpetrated on a larger scale by natural agents.......Anarchy and the Reign of Terror are over-matched in injustice, ruin, and death, by a hurricane and a pestilence. (Three Essays on religion pp. 28-31).

"मनुष्य की नियमावलि में प्राण हत्या से भारी कोई पाप नहीं माना गया। परन्तु सृष्टि प्रत्येक जीव की एक बार अवश्य हत्या करती है......एक मनुष्य के उत्पन्न होते समय दूसरे मनुष्य (माता) को घण्टों और दिनों अत्यन्त कष्ट उठाने पड़ते हैं और कभी २ मृत्यु भी हो जाती है। एक तूफ़ान आता है तो फ़सल भर की आशाओं पर पानी फेर देता है।......सारांश यह है कि जीवन या सम्पत्ति के विरुद्ध जो पाप बुरे से बुरा मनुष्य कर सकता है वह इस सृष्टि द्वारा होता है।......जितना अन्याय, नाश, तथा हत्या काण्ड तूफ़ान या रोग के कारण होता है उतना अराजकता या क्रूरता के राज्य में नहीं होता" (धर्म सम्बन्धी तीन व्याख्यान पृ० २८-३१)

प्रोफ़ेसर हेल्म होल्टज़ (Prof. Helmholtz) की यह शिकायत है कि मनुष्य की आंख बहुत भद्दी रीति से बनाई गई है :—

"The eye has every possible defect that can be found in an optical instrument, and even some which are peculiar to itself." "It is not too much to say that if an optician wanted to sell me an instrument, which had all these defects, I should think myself quite justified in blaming his

carelessness in the strongest terms, and giving him back his instrument."

"आंख में वह सब दोष हैं जो किसी देखने के यंत्र में पाये जा सकते हैं और कुछ अधिक भी।" "इसमें कुछ अत्युक्ति नहीं है कि यदि कोई चश्मा वेचने वाला इन दोषों वाला चश्मा मुझे देता तो मैं उसकी मूर्खता या असावधानता को बड़े बलपूर्वक दिखाता और उसके चश्मेको लौटा देता।"

आंख में छः दोष बताये गये हैं :—

1. Chromatic aberration.

2. Spherical aberration and defective centring of the cornea and lens, together producing the imperfection known as astigmatism ;

3. Irregular radiation round the images of illuminated points.

4. Defective transparency.

5. Floating corpuscles.

6. "The blind spot" with other gaps in the field of vision. (Theism, pp. 419).

अर्थात्

(१) वर्णापेरण

(२) गोला पेरण और कार्निया तथा लाल का दोषयुक्त केन्द्रीभवन और असमदृष्टि दोष

(३) प्रकाशित बिन्दुओं की प्रतिच्छायों के चारों ओर विषम विकरण

(४) दोष युक्त पारदर्शिता

(५) बहते हुये कण

(६) दृष्टिक्षेत्र में अन्य रिक्त स्थानों सहित "कालाविन्दु।"

"Comte, following Laplace, has argued that there is no evidence of intelligence or design in the solar system, because its elements and members are not disposed in the most advantageous manner. The moon, in particular, we are assured, should have been so placed that it would revolve round the earth in the same time that the earth revolved round the sun. In that case she would appear every night, and always at the full......... changes in the polar regions, in the physical character of Africa, in the position of the Arctic continent, and in the Pacific Ocean, have been suggested as improvements on the constitution of the world." (Theism p. 235).

"If Greenland were submerged, and the Asiatic and North American Continents so altered that no large rivers should flow into the polar ocean, the climate of Iceland and Canada might be greatly improved." (Theism p. 239).

"Lange and Huxley have said of her procedure, that it is 'like shooting a million or more loaded guns in a field to kill one hare'." (Theism p. 243).

कामटी महाशय लैपलेस का अनुकरण करते हुये कहते हैं कि सौर्य्य मण्डल ऐसा नहीं बना कि जिससे अधिक से अधिक लाभ हो सकता। आवश्यकता थी कि चांद पृथ्वी की चारों ओर उतने ही समय में घूमता जितने में पृथ्वी सूर्य्य के चारों ओर घूमती है। यदि ऐसा होता तो चांद हर रात को पूरा पूरा चमका करता।......ध्रुव के निकटस्थ स्थानों, अफ्रीका, एशिया, पासिफ़िक महासागर को उन्नत करने के लिये प्रस्ताव किये गये हैं। अगर ग्रीनलैण्ड को डुबा दिया जाय और उत्तरी अमेरिका तथा एशिया की बनावट ऐसी कर दी जाय कि इसकी नदियां उत्तर की ओर न बहने पावें तो आइसलैण्ड तथा कनाडा का जल-वायु उत्तर हो सकता है।"

लाँग (Lange) और हक्सले (Huxley) का कथन है कि सृष्टि में उतना ही अपव्यय है जितना खेत में एक खरगोश को मारने के लिये किरोड़ों तोपें छोड़ देने में होता।"

इस प्रकार सृष्टि के रचयिता में मूर्खता, अज्ञानता, क्रूरता तथा अपव्यय सभी अवगुण पाये जाते हैं। यदि कामटी एण्ड को (Comte &co) को सृष्टि बनाने का ठेका दे दिया जाता तो उनकी रची हुई सृष्टि में यह दोष न होते। परन्तु सृष्टि के रचयिता का सब से बड़ा एक दोष यह भी है जो पूर्वोक्त दोषों से भी बढ़ गया है। वह यह कि न अच्छी चीज़ बनाता है न दूसरों को बनाने देता है। जिस हेलमहोलट्ज़ ने आंख के इतने दोष निकाले उस बिचारे को एक आंख बनाने का भी अवसर नहीं मिला। वह स्वयं कहता है "Of course

I shall not do this with my eyes, and shall be only too glad to keep them as long as I can—defects and all." अर्थात् " मैं अपनी आंखों को लौटा नहीं सकता। मैं इतने दोष होते हुये भी इनको जितने दिन हो सकेगा रखने के लिये प्रसन्न होऊंगा।" हम पूछते हैं कि यदि हैल्महोल्ट्ज़ इस प्रकार का चश्मा बनाने वाले का चश्मा वापिस करने को तैय्यार था तो उसने इन दोष सहित आंखों के बदले अच्छी आंखें क्यों न बनालीं। जब वह इस प्रकार की एक आंख भी बना सकता तो उसमें तथा प्राकृतिक आंख में तुलना हो सकती और हैल्महोल्ट्ज को भी अनुभव हो सकता कि प्राकृतिक आंख अधिक उपयोगी है अथवा उस की प्रस्तावित आंख। हैल्महोल्ट्ज़ को कम से कम एक बात पर ही विचार कर लेना चाहिये था। वह यह कि कई पशु पक्षियों की आंखें मनुष्य की आंखों से अधिक प्रबल हैं। उल्लू रात में देख सकता है परन्तु हम नहीं देख सकते। बिल्ली रात और दिन दोनों में देख सकती है। उक़ाब जितनी दूर तक देख सकता है उतनी दूर तक हम दूर बीन से भी नहीं देख सकते। बहुत से पक्षियों की आंखें हमारी अपेक्षा कमज़ोर हैं बहुतों की प्रबल। सर्प के कान हमारे कानों से अधिक तीव्र हैं। हिरन की नाक हमारी नाक से अधिक तेज़ है। इससे यह तो पता चलता है कि सृष्टि का रचयिता हमारी इन्द्रियों से उत्तम इन्द्रियां भी बना सकता था। परन्तु वह हमारे इस शरीर के लिये अधिक उपयोगी होतीं या नहीं, इसमें बड़ा सन्देह है। स्वयं हैल्महोल्ट्ज़ को भी मानना पड़ा कि:—

"The adaptation of the eye to its function is *most complete*, and is seen in the very limits which are set to its defects."

अर्थात् "आंख अपने कर्त्तव्य के पालन में पूर्णतया उपयुक्त है। यह बात आंखों के दोषों की न्यूनता से स्पष्ट होती है।"

यदि आंख अपने काम के लिये पूर्णतया उपयुक्त है तो इससे अधिक क्या चाहिये? जो छिद्रदर्शन द्वारा सृष्टिकर्त्ता की अज्ञानता को प्रकट करना चाहते हैं वह भूल जाते हैं कि हैल्महोल्ट्ज़ या अन्य नेत्रज्ञों ने नेत्रों का ज्ञान भी तो इन्हीं दोषयुक्त आंखों के निरीक्षण से सीखा है। उपनेत्र या चश्मा भी तो उसी मनुष्य के काम में आ सकता है जिसके आंखें हों। ऐसा कौन सा नेत्रज्ञ है जो नेत्र रहितों को नेत्र दे दे। या उंगली में चश्मा लगा कर देखने की आवश्यकता को पूर्ण कर दें। यदि एक भी विद्वान बिना आंखों के निरीक्षण किये एक भी आंख बना सकता तो उसकी कारीगरी थी।

फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि जिस प्राणी को दोषयुक्त आंख या दोष-युक्त अन्य अवयव दिये गये हैं वह इससे अच्छे अवयवों का अधिकारी था? जो उत्तम से उत्तम अवयव या पदार्थ मनुष्य की कल्पना शक्ति में आ सकते हैं वह सब ही सृष्टि में पाये जाते हैं। परन्तु प्रत्येक प्राणी को वह नहीं दिये गये। मछलियां पानी में तैर सकती हैं। पक्षी हवा में उड़ सकते हैं। सांप पृथ्वी के भीतर रह सकते हैं। इसलिये गलफड़े बनाना या परों का निर्माण करना यह दोनों बातें ही सृष्टि कर्त्ता ने बना के दिखा दी हैं। परन्तु मनुष्य चाहता है कि मेरे भी पर तथा गलफड़े होते। ईश्वर की सृष्टि में नित-

लियों के रंग बिरंगे पंख मौजूद हैं परन्तु यदि उसी प्रकार का सौन्दर्य मनुष्य को नहीं दिया गया तो इसका यह अर्थ नहीं कि सृष्टि किसी अज्ञानी की बनाई हुई है। जो जिसका अधिकारी नहीं उसको वह वस्तु कैसे मिलेगी? जो वस्तु जिसके उपयुक्त नहीं वह उसको मिल जाय तो किस काम की? इससे सृष्टि कर्त्ता के सम्यग् ज्ञान की सूचना मिलती है न कि अज्ञानता की।

रही मिल की शिकायत कि सृष्टि बड़ी क्रूर है। इस विषय में हम बहुत कुछ पाप तथा दुःख के सम्बन्ध में लिख चुके हैं। मिल ने संसार के सुखों और दुखों में तुलना ही नहीं की। इनको शिकायत है कि प्रत्येक प्राणी को एक न एक बार मरना पड़ता है। परन्तु मिल को पता नहीं कि यदि मृत्यु न हुआ करती तो सृष्टि की क्या दशा होती। एक पत्र में एक ईसाई महाशय ने हिसाब लगाया था कि यदि आदम महोदय वर्जित वृक्ष का फल न खाते और मृत्यु देव को सृष्टि के भीतर घुसने की आज्ञा न होती तो इस समय इस पृथ्वी पर इतने मनुष्य होते कि एक एक के सिर पर पचासों को खड़ा रहना पड़ता। उस पर भी पृथ्वी पर तिल रखने को स्थान न होता। यदि मिल महोदय के बीस तीस पीढ़ियों के पूर्वज भी जीवित होते तो उनको शीघ्र ही यह शिकायत करनी पड़ती कि सृष्टि कर्त्ता कैसा क्रूर है कि प्राणियों को जन्म देता चला जाता है और यहाँ से निकालता किसी को नहीं। यदि किसी मनुष्य को समस्त आनन्द दे कर एक ही स्थान में रहने के लिये बाधित किया जाय, तो वह कुछ दिनों पश्चात् उन आनन्दों से भी उकता जायगा। इसी प्रकार यदि मृत्यु न होती

और मनुष्य को सदा यहीं रहना पड़ता तो अवश्य ही उसको संसार के आनन्द तुच्छ मालूम पड़ने लगते। यदि एक तूफान से कभी कभी फ़सल की फ़सल बिगड़ जाती है तो जो फ़सलें अच्छी बनी रहती हैं वह क्या मिल जी के प्रताप से ? क्या एक वर्षा असंख्यों प्राणियों के लिये भोजन तैय्यार करने में सहायता नहीं देती ? मिल महोदय को यह तो शिकायत है कि प्रसवकाल में स्त्रियों को बहुत दुःख उठाना पड़ता है परन्तु उनको यह नहीं सूझता कि कितनी स्त्रियां तथा उनके पति नित्य प्रति प्राकृतिक नियमों का उल्लंघन करने का प्रयत्न करते रहते हैं। कितना कृतघ्न है मनुष्य जो उसको भी दोष देने में नहीं चूकता जिसने उसे न केवल भोग्य पदार्थ ही दिये किन्तु उनको भोगने की शक्ति भी प्रदान की। संसार सौन्दर्य्य की खान है यदि किसी में उसके देखने के लिये आंख हो। संसार सुखों का भण्डार है यदि हम में उसके अनुभव करने की योग्यता हो। संसार दया का सागर है यदि हम उस दया को समझ सकें। यदि यह योग्यता और शक्ति नहीं तो इसमें संसार का क्या दोष ? कितने हैं जो आंख होते हुये नहीं देखते ? कितने हैं जो कान होते हुये नहीं सुनते ? कितने रोगी हैं जिनको हलवा कड़वा लगता है ? कितने ऐसे हैं जिनकी आंखें प्रकाश से आनन्द नहीं उठा सकती ? परन्तु इसमें हलवे और प्रकाश का क्या दोष है ?

कामटी और लापलेस के चांद विषयक प्रस्ताव को देख कर मुझे एक वार्त्ता याद पड़ गई। मेरा लड़का चार पांच साल का था। घर में एक पतंग टूट कर आ पड़ी। उसको जोड़ने के लिये गोंद की आवश्यकता हुई। मैंने इस

समय कई पैकिट बनाये थे और गोंददानी में गोंद न बचा था। गोंद को न पा कर मेरा बच्चा बड़ा क्रोधित हुआ और मेरी माता के पास जा कर कहने लगा "अम्मा, पिता जी कैसी ग़लती करते हैं कि पैकिट बनाने में सब गोंद व्यर्थ खर्च कर डालते हैं।" यह बच्चे का दृष्टि कोण था। वह समझता था कि गोंद का ठीक उपयोग यही हो सकता है कि पतंगें जोड़ी जाया करें। उसे पतंग की अपेक्षा पैकिट जोड़ना व्यर्थ प्रतीत होता था। उस अज्ञानी बालक को क्या पता था कि बहुत से पैकिट उसके भोजन वस्त्रादि को सम्पादित करने के हेतु थे? बस यही कामटी महोदय का दृष्टि कोण है। वह समझते हैं कि चांद एक दीपक मात्र है। यदि उसकी पृथ्वी के चारों ओर परिक्रमा का वही समय हो जो पृथ्वी की सूर्य के चारों ओर घूमने का है तो प्रत्येक रात्रि को पूरा चांद उदय हुआ करे। उनको क्या मालूम है कि जिस चांद से समुद्र में ज्वार भाटे उठते हैं, जो चांद गैस के हण्डे के अतिरिक्त अन्य बीसियों बातों के लिये बनाया गया है उसमें उनके प्रस्तावित परिवर्त्तन करने से क्या फल होगा? ऐसे बड़े २ सायंसज्ञों की इस प्रकार की बाल-बुद्धि होना बड़े आश्चर्य की बात है।

हम यह पूछते हैं कि जिस सत्ता ने यह सृष्टि रची उसको क्या यह बात मालूम न थी? क्या सृष्टि रचना से गणित का उतना ज्ञान भी प्रदर्शित नहीं होता जितना लाप्लेस, कामटी या अन्य ज्योतिर्विदों के मस्तिष्क में था? यदि कहो कि नहीं तो यह भयानक विडम्बना होगी। क्योंकि यदि सृष्टि में इतना ज्ञान नहीं था तो इनके मस्तिष्कों में कहां से

आया ! यदि किसी मस्तिष्क में उस गणित का ज्ञान हो जिसका दृष्टान्त सृष्टि की किसी वस्तु में नहीं मिलता तो उसे पागल कहते हैं । यदि कहो कि सृष्टि में इससे भी अधिक ज्ञान की सूचना मिलती है, नहीं नहीं इतने ज्ञान की सूचना मिलती है जिसके सम्मुख इन विद्वानों का ज्ञान समुद्र में बिन्दु के तुल्य भी नहीं तो क्या यह बात सोचने की नहीं है कि चांद को इस प्रकार बनाने में कुछ न कुछ उपयोग अवश्य होगा । कुछ लोगों ने हिसाब लगाया है कि यदि चांद वैसाही बनाया जाता जैसा कामटी का प्रस्ताव है तो उसमें इस चांद से १६ वां भाग ही प्रकाश होता । यदि कामटी का प्रस्ताव ठीक भी हो और ऐसा ही चांद बनाया जाता, तब शायद कामटी कहता कि चांद दिन को क्यों नहीं निकलता । भिन्न २ प्रस्ताव करना तो सरल है परन्तु तत्व खोजना कठिन है । एशिया, उत्तरी अमेरिका तथा अन्य महाद्वीपों की वर्त्तमान बनावट का कुछ न कुछ कारण अवश्य होगा । इस कारण को मालूम करना भूगोल वेत्ताओं का काम है न कि उसको अनुपयोगी बता कर मनमाने प्रस्ताव करना । मनुष्य में सब से बड़ा दोष यह है कि वह प्रत्येक वस्तु को अपने लिये बनी हुई समझ लेता है । और इसी दृष्टिकोण से सृष्टि की समस्त घटना की मीमांसा करता है । वह यह नहीं सोचता कि इस अनन्त सृष्टि में अनन्त जीव हैं । इन सब का उपकार करना ईश्वर का काम है । और यही इस सृष्टि का उपयोग है । जो वस्तु एक प्राणि के लिये हानिकारक है वह दूसरे के लिये लाभदायक है । डाक्टर की दुकान पर विष और शर्बत दोनों हैं और दोनों का उपयोग है । जो

शर्बत के बदले विष पीकर मर जाता है उसे अपने अज्ञान को दोष देना चाहिये न कि विष रखने वाले को। यदि उत्तरी समुद्रों में बहुत सी नदियां गिरती हैं तो इनका कुछ न कुछ उपयोग होगा। जिसने नदियां बनाईं उसको इनका उपयोग भी ज्ञात होगा। नदियां बनाना साधारण काम तो है नहीं जो विना उपयोग का ज्ञान हुये भी हो सकता।

रहा अपव्ययता का दोष। यह तो सर्वथा ही अनुचित है। सृष्टि की कोई घटना इसको सिद्ध नहीं करती। एक खरगोश को मारने के लिये करोड़ों क्या एक भी गोली नहीं चलानी पड़ती। यदि सृष्टि कर्त्ता कभी एक गोली चलाता है तो उस एक ही गोली से सैकड़ों को मारने का काम निकाल लेता है। जितनी मितव्ययता सृष्टि में है उससे अधिक की कल्पना भी नहीं हो सकती। वस्तुतः इस मितव्ययता का भी पूरा अर्थ समझने में हम अशक्त हो जाते हैं। हमारी दृष्टि इतनी संकुचित है कि हम सृष्टि का बहुत थोड़ा भाग ही देख सकते हैं और उसका भी केवल एक अंश। इस लिये हम बहुत सी बातों का उपयोग समझ नहीं सकते। परन्तु विचारशील मनुष्य को अपनी अल्पज्ञता का विचार करके सृष्टि के पदार्थों का उदारतापूर्वक अध्ययन करना चाहिये।

पांचवीं शंका

ईश्वर किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं होता, क्योंकि

" इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्। न्याय सू० १ । १ । ४

जो श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, जिह्वा और घ्राण का शब्द, स्पर्श रूप, रस और गंध के साथ अव्यवहित अर्थात् आवरण रहित सम्बन्ध होता है, इन्द्रियों के साथ मन का और मन के साथ आत्मा के संयोग से ज्ञान उत्पन्न होता है उसको प्रत्यक्ष कहते हैं, परन्तु जो व्यपदेश्य अर्थात् संज्ञासंज्ञी के सम्बन्ध से उत्पन्न होता है वह ज्ञान न हो, जैसे किसी ने किसी से कहा कि "तू जल ले आ" वह लाके उसके पास धर के बोला कि "यह जल है" परन्तु वहाँ "जल" इन दो अक्षरों की संज्ञा लाने वा मंगाने वाला नहीं देख सकते। किन्तु जिस पदार्थ का नाम जल है वही प्रत्यक्ष होता है और जो शब्द से ज्ञान उत्पन्न होता है वह शब्द प्रमाण का विषय है। "अव्यभिचारि" जैसे किसी ने रात्रि में खम्भे को देख के पुरुष का निश्चय कर लिया। जब दिन में उसको देखा तो रात्रि का पुरुष ज्ञान नष्ट होकर स्तम्भज्ञान रहा ऐसे बिनाशीज्ञान का नाम व्यभिचारी है सो प्रत्यक्ष नहीं कहाता। "व्यवसायात्मक" किसी ने दूर से नदी की बालू को देख के कहा कि 'वहाँ वस्त्र सूख रहे हैं जल है वा और कुछ है" "वह देवदत्त खड़ा है वा यज्ञदत्त" जब तक एक निश्चय न हो तब तक वह प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं है किन्तु जो अव्यपदेश्य अव्यभिचारि और निश्चयात्मक ज्ञान है उसी को प्रत्यक्ष कहते हैं"

(सत्यार्थ प्रकाश समुल्लास ३, पृ० ५०)

यहां प्रत्यक्ष प्रमाण के लिये इन्द्रिय और अर्थ का सन्निकर्ष होना आवश्यक है। सभी आस्तिक मानते हैं कि ईश्वर इन्द्रियों का विषय नहीं इसलिये प्रत्यक्ष प्रमाण से ईश्वर की

सिद्धि हो ही नहीं सकती। कपिल मुनि कहते हैं:—

ईश्वरा सिद्धेः—

दूसरा अनुमान प्रमाण है।

"अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववच्छेषवत्सामान्यतोदृष्टञ्च ।

न्या० १।१।५

जो प्रत्यक्षपूर्वक अर्थात् जिसका कोई एक देश वा सम्पूर्ण द्रव्य किसी स्थान वा काल में प्रत्यक्ष हुआ हो उसका दूर देश से सहचारी एक देश के प्रत्यक्ष होने से अदृष्ट अवयवी का ज्ञान होने को अनुमान कहते हैं" (स० प्र० पृ० ५१) अनुमान के लिये एक देश वा सम्पूर्ण द्रव्य का किसी स्थान वा काल में प्रत्यक्ष होना आवश्यक है। ऊपर कहा जा चुका है कि ईश्वर का प्रत्यक्ष नहीं होता। अतः उसका अनुमान भी नहीं हो सकता।

तीसरा उपमान—

प्रसिद्ध साधर्म्यात्साध्यसाधनमुपमानम्। न्याय १।१।६

जो प्रसिद्ध प्रत्यक्ष साधर्म्य से साध्य अर्थात् सिद्ध करने योग्य ज्ञान की सिद्धि करने का साधन हो उसको उपमान कहते हैं" (स० प्र० पृ० ५१)

उपमान प्रमाण के लिये भी प्रत्यक्ष की आवश्यकता है। प्रत्यक्ष से ईश्वर सिद्ध नहीं होता अतः उपमान से ईश्वर की सिद्धि भी असम्भव ही है।

रहा चौथा प्रमाण शब्द

आप्तोपदेशः शब्दः। न्या० १।१।७

आप्तका उपदेश शब्द कहलाता है। सो यह भी प्रत्यक्ष के ही आश्रय है। प्रत्यक्ष का लक्षण करते हुये इसका वर्णन

कर चुके हैं। अतः ईश्वर सिद्धि के लिये कोई प्रमाण नहीं है। बिना प्रमाण के ईश्वर के अस्तित्व को मानना बुद्धिमत्ता नहीं है।

अब हम इसका समाधान करते हैं। वस्तुतः अनुमान प्रमाण का ठीक ठीक अर्थ न समझने के कारण यह शंका उत्पन्न हुई है। जब किसी कार्य्य को देखकर उसके कारण का अनुमान करते हैं तो उस कारण का प्रत्यक्ष करने की आवश्यकता नहीं होती। वस्तुतः यदि प्रत्यक्ष हो सकता तो अनुमान प्रमाण के प्रयोग की आवश्यकता भी न होती। अनुमान प्रमाण वहीं लगाया जाता है जहाँ प्रत्यक्ष से काम न चलता हो। यदि हम किसी मनुष्य को उसके पिता सहित देखते हैं तो पिता के प्रत्यक्ष होने के कारण यह अनुमान करना नहीं पड़ता कि इसका कोई न कोई पिता अवश्य होगा। इसी प्रकार यदि पहाड़ में धुआं और आग दोनों देखते हैं तो आग के प्रत्यक्ष होने के कारण धुएं के अस्तित्व से अनुमान प्रमाण द्वारा अग्नि का अस्तित्व सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं होती। कहावत भी है कि

प्रत्यक्षं किं प्रमाणम्।

अर्थात् प्रत्यक्ष वस्तु के लिये किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं। प्रत्यक्ष स्वयं ही पर्य्याप्त प्रमाण समझा जाता है। सूर्य्य के प्रकाश में दीपक जलाना व्यर्थ है इसी प्रकार अन्य प्रमाणों का तभी काम पड़ता है जब प्रत्यक्ष प्रमाण का अभाव हो। इस लिये यह शंका करना कि जब ईश्वर का प्रत्यक्ष नहीं होता तो अनुमान भी नहीं हो सकता

सर्वथा भ्रम है। यदि ईश्वर प्रत्यक्ष हो सकता तो अनुमान आदि प्रमाणों की आवश्यकता ही न होती। और जिनको ईश्वर प्रत्यक्ष होता है उनको इसकी आवश्यकता नहीं होती। इसका वर्णन हम आगे करेंगे। यहाँ यह मान लेते हैं कि ईश्वर सब को प्रत्यक्ष नहीं होता। इसलिये उनके लिये अनुमान की आवश्यकता होती है।

अनुमान के लक्षण में जो "तत्पूर्वकम्" शब्द पड़ा है उसका अर्थ यह नहीं है कि जिस कार्य्य का हम कारण सिद्ध करना चाहते हैं उस कारण का हमको प्रत्यक्ष हो गया हो। इसका तात्पर्य्य यह है कि उसी प्रकार के कारण और कार्य्य का पहले प्रत्यक्ष हो चुका हो और इस समय केवल कार्य्य का प्रत्यक्ष होता हो और कारण का नहीं।

सांख्य दर्शन में अनुमान प्रमाण का यह लक्षण किया है :—

प्रतिबन्धदृशः प्रतिबद्धज्ञानमनुमानम्। (सां० १। १००)

अर्थात् प्रतिबन्ध या सम्बन्ध के ज्ञान द्वारा सम्बद्ध वस्तु का ज्ञान होना ही अनुमान प्रमाण है।

इसका तात्पर्य यह है कि प्रत्यक्ष सम्बन्ध का होता है न कि सम्बद्ध वस्तु का।

वस्तुतः प्रमाण लगता ही तब है जब बिना प्रमाण के ज्ञान का अभाव हो। सांख्य दर्शन में कहा है :—

द्वयोरेकतरस्य वाऽप्यसंनिकृष्टार्थपरिच्छित्तिः प्रमा। तत्साधकतमं यत् तत् त्रिविधं प्रमाणम्॥ (सां० १। ८७)

(असंनिकृष्टार्थ परिच्छित्तिः) अर्थात् अज्ञात विषय के निश्चय करने को 'प्रमा' या यथार्थ ज्ञान कहते हैं और

(यत्) जो (तत्साधकतमं) उस प्रमा का साधन है वह प्रमाण कहलाता है।

इस प्रकार अनुमान के लिये तीन बातें आवश्यक हैं:—

(१) कारण और कार्य्य का पहले प्रत्यक्ष होना।

(२) अब उसी प्रकार के कार्य्य का प्रत्यक्ष होना।

(३) और इसके कारण का प्रत्यक्ष न होना।

हम ईश्वर सिद्धि के लिये जब अनुमान प्रमाण का प्रयोग करते हैं तो इन तीनों बातों को स्पष्टतया दिखाते हैं। अर्थात्

(१) हम ने घड़ा कुम्हार के द्वारा ही बनते प्रत्यक्ष किया है या घड़ी घड़ीसाज़ के द्वारा ही। अथवा पुत्र पिता के द्वारा ही उत्पन्न होते देखा है। अतः संसार की इस प्रकार की समस्त घटनाओं के प्रत्यक्ष करने से हम इस नियम का प्रत्यक्ष करते हैं कि बिना कारण के कार्य्य उत्पन्न नहीं हो सकता। अर्थात् जब जब कार्य्य होगा तब तब उसका कारण अवश्य होगा।

(२) हम सृष्टि की समस्त घटनाओं को देखते हैं कि उनका आरम्भ है। वह 'कार्य्य', कोटि में रक्खी जा सकती हैं। यह भी हम को प्रत्यक्ष है।

(३) इन का कारण अर्थात् ईश्वर प्रत्यक्ष नहीं है। अतः अनुमान के लिये जो तीनों अवस्थायें आवश्यक थीं वह पूरी हो गईं। फिर कोई कारण नहीं है कि इसमें अनुमान प्रमाण न लगा सकें।

इसी लिये अन्नंभट्ट ने लिखा हैं:—

क्षित्यङ्कुरादिकं कर्तृजन्यं कार्य्यत्वाद् घटवद् इति अनुमानस्य प्रमाणत्वात्।

(तर्कदीपिका पृ० १२)

"पृथ्वी अङ्कुर आदि का अवश्य कोई कर्त्ता है क्योंकि यह भी घड़े के समान कार्य्य की कोटि में आते हैं। इस प्रकार अनुमान प्रमाण सिद्ध है"।

उदयनाचार्य ने न्याय कुसुमाञ्जलि में ईश्वर-सिद्धि में यह युक्तियाँ दी हैं:—

कार्यायोजनधृत्यादेः पदात् प्रत्ययतः श्रुतेः।
वाक्यात् सङ्ख्या विशेषाच्च साध्यो विश्वविदव्ययः। (५।१)

(१) कार्य-सृष्टि कार्य है अतः कारण चाहिये।
(२) आयोजन-परमाणुओं के मिलाने में क्रिया हुई होगी। इसका कर्त्ता चाहिये।
(३) धृति (आदि)-सृष्टि का कोई आधार चाहिये इत्यादि।
(४) पद-अर्थात् बुनना आदि काम पहले किसी ने सिखाये होंगे।
(५) प्रत्यय-अर्थात् वेदों में ज्ञान प्रदान करने की शक्ति किसने दी?
(६) श्रुतिः-अर्थात् वेद किसने बनाये?
(७) वाक्य-अर्थात् भाषा किसने दी?
(८) संङ्ख्या विशेष-अर्थात यह किसको सूझा कि दो परमाणुओं से द्वयणुक बनते हैं इत्यादि।

शब्द प्रमाण में तो कोई आपत्ति हो ही नहीं सकती। आप्त का अर्थ है विद्वान, हितचिंतक तथा सत्यवादी। जब हम समझते हैं कि एक पुरुष विद्वान भी है और सत्यवादी भी। जब उसने ईश्वर को प्रत्यक्ष या अनुमान प्रमाण द्वारा सिद्ध कर लिया है तो उसके "उपदेश" को मानना हमारा

कर्त्तव्य है। यही शब्द प्रमाण का उपयोग है। जब एक ऋषि कहता है :—

त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि

अर्थात् "तू प्रत्यक्ष ब्रह्म है" और वह हमको ईश्वर के विषय में उपदेश करता है तो कोई कारण नहीं कि हम उस को न मानें। हाँ यह प्रश्न हो सकता है कि हम इस पुरुष को अर्थात उपनिषत्कार को 'आप्त' नहीं मानते। यह दूसरी बात है। यहां शंका यह नहीं है कि अमुक ऋषि आप्त है या नहीं। शंका तो यह थी कि शब्द प्रमाण से ईश्वर को सिद्ध कर सकते हैं या नहीं। इसी का उत्तर दिया गया अर्थात शब्द प्रमाण के लक्षणों में कोई ऐसी बात नहीं है जो हमको ईश्वर सिद्धि में इसका प्रयोग करने से रोक सके।

रही आप्त की बात। यह सत्य है कि एक पुरुष को कुछ लोग आप्त समझते हैं कुछ नहीं। जो उसको आप्त नहीं समझते वह उसकी आप्तता पर शंका करें। या ईश्वर सिद्धि को अनुमान प्रमाण से सिद्ध करें। परन्तु बिना शब्द प्रमाण के आज तक न किसी का काम चला और न चलेगा। कारण यह है कि जहाँ अनुमान के लिये 'कार्य्य' का प्रत्यक्ष होना अत्यावश्यक है (देखो शर्त नं० २) वहाँ शब्द के लिये न कार्य्य का प्रत्यक्ष होना अवश्यक है न कारण का। जो पुरुष आप्त के उपदेश से लाभ उठाना चाहता है वह समझ लेता है कि उस आप्त ने प्रत्यक्ष या अनुमान द्वारा इस बात को सिद्ध कर लिया होगा। मुझे उस पर विश्वास है अतः मैं इसकी बात मानता हूं।

संसार में बहुत कम ऐसे हैं जिनको प्रत्येक वस्तु के प्रत्यक्ष

करने का अवसर मिल सके। मैं तो कहता हूं कि एक भी नहीं है। अतः बहुत से लोगों को अनुमान द्वारा ही अपना काम सिद्ध करने की आवश्यकता होती है। परन्तु अनुमान के लिये भी एक अङ्ग का प्रत्यक्ष आवश्यक है। अधिकांश पुरुष तो एक अङ्ग का भी प्रत्यक्ष नहीं कर सकते, अतः शब्द प्रमाण का ही आश्रय लेना पड़ता है। न्यूटन ने भूमि की आकर्षण शक्ति का प्रत्यक्ष नहीं किया। उसको केवल सेब के गिरने की घटना का ही प्रत्यक्ष हुआ। परन्तु उसने अनुमान प्रमाण द्वारा भूमि की आकर्षण शक्ति को सिद्ध किया। गैलीलियो ने भी पृथ्वी की गोलाई का प्रत्यक्ष नहीं किया किन्तु अनुमान ही किया। परन्तु सर्वसाधारण को उन परीक्षाओं के करने का भी अवसर नहीं मिलता जो अनुमान के लिये आवश्यक हैं। अतः उनको धुरन्धर सायंसज्ञों को आप्त मान कर ही चलना पड़ता है। वैद्य ने किसी एक समय प्रत्यक्ष किया कि अमुक प्रकार के ज्वर में नाड़ी की अमुक प्रकार की गति हो जाती है। अब वह एक रोगी को देख रहा है। और उसकी नाड़ी की गति से अनुमान कर रहा है कि उसे अमुक प्रकार का ज्वर होगा। उसे रोगी के पास निरन्तर बैठने और ज्वर तथा नाड़ी का सम्बन्ध प्रत्यक्ष करने का अवसर नहीं। प्रत्यक्ष की अवस्था वह थी जब वह वैद्यक विद्यालय में शिक्षण ग्रहण कर रहा था। अब अनुमान की अवस्था है। परन्तु रोगी के परिचारकों को न प्रत्यक्ष का अवकाश है न अनुमान का। वह न तो ज्वर ही को पहचान सकते हैं न नाड़ी की गति को ही। अतः उनके लिये शब्द प्रमाण ही एक प्रमाण है अर्थात् विश्वासपात्र वैद्य का निश्चय।

अब रहा यह प्रश्न कि ईश्वर किसी को प्रत्यक्ष भी हो सकता है या नहीं। मैं ऊपर दिखा चुका हूं कि कुछ लोग ईश्वर का प्रत्यक्ष करना बताते हैं। उसको केवल गप क्यों माना जाय? जिस बात की सिद्धि अनुमान से होती है उसकी सम्भव है किसी को प्रत्यक्ष द्वारा भी होती हो। इसका यह अर्थ नहीं है कि हम संसार भर को बाधित करें कि तुमको भी अवश्य ईश्वर का प्रत्यक्ष हो जाय, यदि किस को ईश्वर का प्रत्यक्ष नहीं होता तो हम उस पर बलात्कार नहीं कर सकते, न उसको प्रत्यक्ष न करने का दोष दे सकते हैं, परन्तु उसका भी कोई अधिकार नहीं है कि वह उन लोगों को जिन्होंने ईश्वर का प्रत्यक्ष किया है झूठा बनावे जब तक कि उसके पास अनुमान द्वारा ईश्वर के न होने के पर्याप्त प्रमाण न हों।

हम ऊपर कह चुके हैं कि ईश्वर सब को प्रत्यक्ष नहीं होता और न हो सकता है। परन्तु जिन्होंने युक्ति देना या प्रमाणों का ठीक ठीक उपयोग करना सीखा है उनके लिये ईश्वर एक "असिद्ध" वस्तु नहीं रह सकता ईश्वर के प्रत्यक्ष होने के विषय में स्वामी दयानन्द सातवें समुल्लास में लिखते हैं :—

"(प्रश्न) आप ईश्वर २ कहते हो परन्तु उसकी सिद्धि किस प्रकार करते हो?

(उत्तर) सब प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से।

(प्रश्न) ईश्वर में प्रत्यक्षादि प्रमाण कभी नहीं घट सकते?

इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्॥ [अ० १ सू० ४]

यह गौतम महर्षि कृत न्याय दर्शन का सूत्र है—जो श्रोत, त्वचा, जिह्वा घ्राण और मन का शब्द, स्पर्श, रूप, रस, सुख, दुःख, सत्यासत्य विषयों के साथ सम्बन्ध होने से ज्ञान उत्पन्न होता है उसको प्रत्यक्ष कहते हैं परन्तु वह निर्भ्रम हो। अब विचारना चाहिये कि इन्द्रियों और मन से गुणों का प्रत्यक्ष होता है गुणी का नहीं। जैसे चारों त्वचा आदि इन्द्रियों से स्पर्श रूप, रस और गन्ध का ज्ञान होने से गुणी जो पृथ्वी उसका आत्मायुक्त मन से प्रत्यक्ष किया जाता है, ऐसे इस प्रत्यक्ष सृष्टि में रचना विशेष आदि ज्ञानादि गुणों के प्रत्यक्ष होने से परमेश्वर का भी प्रत्यक्ष है" [सत्यार्थ प्रकाश समु० ७ पृ० १७६]

युक्ति बहुत स्पष्ट प्रतीत नहीं होती क्योंकि यदि "रचना विशेष आदि ज्ञान आदि गुणों के प्रत्यक्ष होने से" "परमेश्वर का भी" प्रत्यक्ष हो तो घड़ी की रचना विशेष का प्रत्यक्ष होने से घड़ीसाज़ का भी प्रत्यक्ष होना चाहिये या घड़े की रचना विशेष द्वारा कुम्हार का भी प्रत्यक्ष होना चाहिये। परन्तु इसको सभी नैय्यायिकों ने प्रत्यक्ष में न रख के अनुमान की कोटि में रक्खा है। परन्तु इसमें संदेह नहीं कि शुद्ध आत्माओं को ईश्वर का इसी प्रकार प्रत्यक्ष होता है जैसे हम अपने पास खड़े हुये माता, पिता का प्रत्यक्ष करते हैं। योग दर्शन में कहा है :—

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् (योग० समा० ३)

अर्थात् योग की सिद्धि होने पर जीव को ईश्वर का प्रत्यक्ष होने लगता है। उस समय उसको सृष्टि रचना द्वारा

ईश्वर की सिद्धि की आवश्यकता नहीं रहती। जिस समय मेरा पिता या मेरी माता मुझे प्रत्यक्ष हो रही हैं उस समय मुझे उनके कामों द्वारा उनकी सिद्धि करना अनावश्यक है, परन्तु यह अवस्था सब की नहीं होती। केवल योगियों की ही होती है।

यह तो ठीक है कि गुणों के प्रत्यक्ष होने से गुणी का भी प्रत्यक्ष होता है परन्तु ईश्वर के सभी गुणों का प्रत्यक्ष नहीं होता। हम उन गुणों का अनुमान करते हैं। जैसे सृष्टि-रचना गुण नहीं किन्तु कर्म है। इस कर्म द्वारा हम ईश्वर के 'ज्ञान' रूपी गुण का अनुमान करते हैं अतः ज्ञानी ईश्वर जो गुणी है उसका भी अनुमान हो ही जाता है। इसी प्रकार ईश्वर की दयालुता को हम ईश्वर के कर्मों द्वारा अनुमान प्रमाण से सिद्ध करते हैं। परन्तु जो पुरुष ईश्वर की सत्ता पर पूर्ण रूप से विचार करने के अभ्यासी हैं और जिनका—

तज्जपस्तदर्थभावनम्।

नित्य नियम है वह ईश्वर की दयालुता का प्रतिक्षण प्रत्यक्ष भी कर सकते हैं। उनकी दृष्टि उपकार से चल कर उपकार करने वाली शक्ति पर स्थित हो जाती है। यही आस्तिकता की चरमावस्था है। शायद इसी अर्थ में स्वामी दयानन्द ने कहा है:-"जब जीवात्मा शुद्ध होके परमात्मा का विचार करने में तत्पर रहता है उसको उसी समय दोनों प्रत्यक्ष होते हैं"। (स०प्र० समु० ७ पृ० १८०)

स्वामी दयानन्द ने 'दोनों' शब्द का प्रयोग किया है अर्थात् जीवात्मा तथा परमात्मा' क्योंकि साधारणतया मनुष्य

को अपना अर्थात् 'जीव' का भी प्रत्यक्ष नहीं होता। उसकी इन्द्रियां बाहर होने के कारण वह सृष्टि के पदार्थों में ही लिप्त रहता है। आंख रूपवाली वस्तुओं के रूप को देखती रहती है, कान शब्द इत्यादि को। और मन इन इन्द्रियों द्वारा कते हुये सूत का "ताना बाना" बनाता रहता है। केवल योग अवस्था में ही "चित्त की वृत्तियों का निरोध" होकर जीव को अपने तथा ईश्वर के प्रत्यक्ष करने का अवसर मिलता है। उसी समय उसको यह भी प्रत्यक्ष होता है कि "आत्मा के भीतर से बुरे काम करने में भय, शङ्का, और लज्जा तथा अच्छे कामों के करने में अभय, निःशङ्कता और आनन्दोत्साह उठता है वह जीवात्मा की ओर से नहीं किन्तु परमात्मा की ओर से है" (स० प्र० समु० ७ पृ० १८०)

यह लज्जा तथा उत्साह सभी मनुष्यों के हृदय में उठते हैं। परन्तु सब को यह प्रत्यक्ष नहीं हो सकता कि उपदेश कौन कर रहा है, जिस प्रकार किसी दूरस्थ सुगन्धयुक्त वस्तु की सुगन्धि को तो सभी सूंघते हैं परन्तु यह ज्ञात नहीं होता कि यह किस पुष्प की सुगन्धि है। इसी प्रकार अपने आत्मा में उपदेश की आवाज़ सुनता हुआ भी मनुष्य यह नहीं जानता कि कौन कह रहा है। उपदेश द्वारा उपदेष्टा का ज्ञान होना ही सच्ची आस्तिकता है।

छठी शंका

वेदान्ती लोग ईश्वर को सृष्टि का निमित्त कारण नहीं मानते। यह केवल नैयायिकों का मत है। इस मत पर निम्न शंकायें हो सकती हैं :—

(१) समस्त सृष्टि को रची हुई सिद्ध करना दुस्तर है। सम्भव है कि सृष्टि के भिन्न २ अवयव बने हुये हों परन्तु जो बात अवयवों में पाई जाती है उसका अवयवी में भी होना आवश्यक नहीं। जैसे वायु की चक्की के अवयव घूमते हैं परन्तु चक्की स्वयं नहीं घूमती।

(२) हमारा ज्ञान परिमित है। परिमित ज्ञान से यह नहीं सिद्ध हो सकता कि संसार में कोई वस्तु ऐसी नहीं जो बिना बनी न हो।

(३) नैयायिक लोग स्वयं परमाणु देश, काल तथा आत्मा को नित्य मानते हैं। फिर ईश्वर सब का बनाने वाला कैसे होगा? यदि कहो कि इन चीज़ों को छोड़ कर अन्यों को ईश्वर बनाता है तो ईश्वर सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान नहीं रह सकता।

(४) कर्त्ता के लिये इच्छा होनी चाहिये। जब इच्छा है तो सुख दुःख भी होगा। फिर ईश्वर अन्य जीवों के समान हो जायगा।

(५) सृष्टि को कार्य्य सिद्ध करना कठिन है क्योंकि कार्य्य और कारण सापेक्षिक होते हैं। जब तक ईश्वर को कारण सिद्ध न करो सृष्टि को कार्य्य सिद्ध नहीं कर सकते और जब तक सृष्टि 'कार्य्य' सिद्ध नहीं हो सकती उस समय तक ईश्वर कारण सिद्ध नहीं होता। इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोष आता है।

यह सब शङ्कायें निर्मूल हैं। चाहे वह वेदान्तियों की हों चाहे अवेदान्तियों की। वस्तुतः वेदान्त का वही सिद्धान्त है जिसका हम आरम्भ से प्रतिपादन करते चले आ रहे हैं!

यथार्थ वेदान्त में और उन लोगों के सिद्धान्त में बहुत भेद है जो अपने को वेदान्ती कहते हैं।

(१) दार्शनिक अपेक्षा से पहली शङ्का निर्मूल ही नहीं किन्तु हास्य जनक है। जिस अवयवी के एक अवयव में परिवर्त्तन होता है वह समस्त अवयवी परिवर्त्तनशील माना जाता है। जैसे शरीर के एक अङ्ग में रोग होने से समस्त शरीर को रोगी कहते हैं। वायु-चक्की का दृष्टान्त विषम है। सृष्टि के प्रत्येक अवयव को हम बनता और बिगड़ता देखते हैं। जैसे वृक्ष की एक शाखा बनती बिगड़ती है इसी प्रकार समस्त वृक्ष भी बनता बिगड़ता है। जिस प्रकार एक वृक्ष बनता बिगड़ता है उसी प्रकार बाग़ के बाग़ भी बनते बिगड़ते हैं। जिस प्रकार बाग़ बनता बिगड़ता है उसी प्रकार देश या नगर भी बनते बिगड़ते हैं। जिस प्रकार देश बनते बिगड़ते हैं उसी प्रकार भूमण्डल भी बनता बिगड़ता रहता है। जिस प्रकार भूमण्डल बनता बिगड़ता है उसी प्रकार ब्रह्माण्ड भी बनता बिगड़ता है। अतः यह कहना अयथार्थ है कि सृष्टि समष्टिरूप से नहीं बनती केवल उसके अवयव ही बनते हैं।

(२) परिमित ज्ञान के आधार पर यह समझ बैठना कि कुछ न कुछ घटनायें ऐसी भी हैं जिनका कोई कारण नहीं मूर्खता है। इस प्रकार का कोई ऐसा भी दृष्टान्त या प्रमाण नहीं मिलता जो शङ्का करने का अवसर भी दे सके। परिसीमित ज्ञान के आधार पर क्या तुम कभी यह भी मानते हो कि शायद किसी अज्ञात द्वीप में सूंड वाले मनुष्य रहते हों या कोई प्राणी कान से खाना खाते हों?

(२) जो घटना है उसका अवश्य कारण होना चाहिये। जो संयुक्त वस्तु है वह अवश्य कभी न कभी संयुक्त हुई होगी और संयोग रूपी घटना का कोई न कोई कारण अवश्य रहा होगा। हाँ, जो पदार्थ दो या अधिक पदार्थों के संयोग से नहीं बना जैसे देश, काल, परमाणु इत्यादि उसको 'घटना' की कोटि में नहीं ला सकते और ऐसे पदार्थों को नित्य मानना ही पड़ेगा।

(३) इनके नित्य मानने से ईश्वर की सर्वज्ञता या सर्व-शक्तिमत्ता में बाधा नहीं पड़ती। सर्वज्ञता का अर्थ यह है कि वह सब का ज्ञान रखता हो। जैसे को वैसा जानना ज्ञान है उससे विपरीत जानना अज्ञान। यदि ईश्वर बेबनी वस्तु को बेबनी और बनी को बनी जानता है तो उसकी सर्वज्ञता का किसी प्रकार खण्डन नहीं होता। उसकी सर्वशक्तिमत्ता का सब से बड़ा प्रमाण यही है कि वह इन नित्य पदार्थों को जिस प्रकार संयुक्त करना चाहता है उसी प्रकार संयुक्त कर देता है। देश, काल, परमाणु, आत्मा यह सभी सृष्टि निर्माण की सामग्री हैं और वह परमेश्वर के नियम से बाहर नहीं जा सकते। आत्मा यह नहीं कह सकता कि मैं अमुक शरीरमें ही रहूंगा अन्य किसी शरीर में न जाऊंगा। जब मृत्यु का समय आता है उस समय उसको अपना प्रिय से प्रिय शरीर त्याग देना पड़ता है। परमाणु यह नहीं कह सकते कि हम परस्पर नहीं मिलेंगे या मिल कर अमुक वस्तु न बनायेंगे।

(४) कर्त्ता के लिये इच्छा अवश्य होनी चाहिये परन्तु इच्छा यदि स्वाभाविक होगी तो उसकी पूर्त्ति में सुख दुःख

कुछ न होगा। जिस प्रकार मैं स्वभाव से ही सांस लेता हूं और सांस लेने में मुझे सुख का अनुभव नहीं होता। हां जब स्वभाव में कुछ बाधा पड़ती है तब सांस रुकने में दुःख होता है उसी प्रकार ईश्वर की स्वाभाविक इच्छा में कोई बाधक नहीं हो सकता अतः उसको दुःख भी नहीं होता। लोगों को यह ज्ञान नहीं कि जीवों को कब दुःख होता है और कब सुख। यदि अभीष्ट पदार्थ उपस्थित न हो और परिश्रम करने से उपस्थित हो जाय तो उसमें सुख होता है। यदि उपस्थित होने में बाधा हो तो दुःख होता है। ईश्वर के पास सभी वस्तुएं हैं। और उसका कोई बाधक भी नहीं। इसलिये ईश्वर में सुख और दुःख दोनों नहीं।

(५) कार्य्य और कारण सापेक्षिक अवश्य हैं। परन्तु कार्य्य का कार्य्यत्व सिद्ध करने के लिये कारण की आवश्यकता नहीं। हां कार्य्य को कार्य्यत्व प्राप्त कराने के लिये कारण की आवश्यकता है। बिना घड़ी साज़ को जाने ही घड़ी की प्रकृति को देख कर मैं घड़ी को कार्य्य सिद्ध कर सकता हूँ। किसी वस्तु के कार्य्य होने का ज्ञान उस वस्तु की प्रकृति से होता है। और जब वह 'कार्य्य' सिद्ध हो गई तो अनुमान प्रमाण से उसका कोई अन्य कारण होना भी सिद्ध है।

ईश्वर को सृष्टि का निमित्त कारण मानने में कोई शङ्का नहीं रहती। परन्तु उसको उपादान कारण मानने से तो अनेकों आपत्तियां आ जाती हैं। हम यहां कुछ का वर्णन करते हैं :—

(१) उपादान कारण के दो रूप होते हैं प्रथम तो दो या अधिक वस्तुओं से मिल कर तीसरी वस्तु बन जाना। जैसे घड़ी के पुरज़ों से घड़ी। या मिट्टी के कई परमाणुओं तथा जल से मिल कर घड़ा। या लकड़ी के कई टुकड़ों से मिल कर मेज़, कुर्सी आदि। दूसरे एक ही वस्तु का परिणाम हो कर दूसरी वस्तु बन जाना जैसे जमे हुये घी का पिघल कर पतला घी या पानी की बर्फ़। इस दूसरी अवस्था में भी उपादान कारण एक वस्तु नहीं किन्तु अनेक हैं जैसे जल या घी के अनेक परमाणु तथा अग्नि। इस प्रकार दोनों अवस्थाओं को एक रूप दिया जा सकता है अर्थात् किसी कार्य्य का उपादान कारण एक वस्तु नहीं होती, अनेक होनी चाहियें। यदि एक ही वस्तु हो तो उससे दूसरी वस्तु बन ही नहीं सकती। यदि लकड़ी को काट कर कई टुकड़े न हो सकते तो मेज़ कैसे बनती? यदि मिट्टी के अनेक परमाणु न होते तो घड़ा कैसे बनता? यदि घी या जल के अनेक परमाणु न होते तो वह सिकुड़ या फैल कैसे सकते? जब तक संयोग या वियोग तथा संकोचन और प्रसारण न हो उस समय तक दूसरी वस्तु बन ही नहीं सकती। इससे सिद्ध है कि एक ब्रह्म सृष्टि का उपादान कारण नहीं हो सकता।

(२) उपादान कारण परिवर्त्तनशील होना चाहिये। ब्रह्म को एकरस और अखण्ड मानते हो तो फिर उसमें परिवर्त्तन कैसे होगा? परिणामी ईश्वर ईश्वर नहीं हो सकता। 'एकं ब्रह्म द्वितीयं नास्ति' मानने वाले यह नहीं सोचते कि यदि ईश्वर के अतिरिक्त और कोई वस्तु है ही

नहीं तो ईश्वर में परिणाम होने के लिये ईश्वर से भिन्न कोई दूसरा कारण होना चाहिये। वस्तु दो कारणों से बदलती है, एक उसमें स्वयं अपूर्णता या आवश्यकता हो, दूसरे अन्य कोई वस्तु उसमें परिणाम उत्पन्न करे। यह दोनों बातें वेदान्तियों के ब्रह्म को दूषित बनाती हैं।

(३) शुद्ध चेतन ब्रह्म का परिणाम रूप अचेतन जगत् कैसे हो सकता है? जगत् में हम जड़ और चेतन दोनों ही देखते हैं। यदि कहो कि जड़ वस्तु कोई नहीं केवल चेतनता का लोप मात्र है तो इस लोप का क्या कारण है? लोप या तिरोभाव के लिये भी तो कुछ न कुछ कारण चाहिये। हम श्री शङ्कराचार्य्य जी के शारीरिक भाष्य से कुछ उदाहरण देते हैं जिनसे ईश्वर सृष्टि का उपादान कारण नहीं ठहरता:—

(१) उत्पत्तिमत्वे हि जीवस्यानित्यत्वादयो दोषाः प्रसज्येरन्। ततश्च नैवास्य भगवत् प्राप्तिर्मोक्षः स्यात्; कारणप्राप्तौ कार्यस्य प्रविलय प्रसङ्गात्। (२।२।४२)

यदि जीव ईश्वर से उत्पन्न हुआ होता तो वह अनित्य होता और मोक्ष न मिल सकता क्योंकि कार्य्य कारण में विलय हो जाता है।

(२) ईश्वरस्तु पर्ज्यन्यवद् द्रष्टव्यः। यथाहि पर्जन्यो व्रीहियवादि सृष्टौ साधारणं कारणं भवति, व्रीहि यवादिवैषम्ये तु तत्तद् बीज गतान्येवासाधारणानि सामर्थ्यानि कारणानि भवन्ति, एवमीश्वरो देवमनुष्यादिसृष्टौ साधारणं कारणं भवति। (२।१।३४)

ईश्वर मेंह के समान है जैसे मेह चावल जौ आदि की उत्पत्ति में साधारण कारण होता है और चावल जौ आदि

के बुरे होने का असाधारण कारण उनके बीज में होता है इसी प्रकार सृष्टि का साधारण कारण ईश्वर है।

(३) तस्मादस्त्यविकृतं ब्रह्म (२ । १ । २७)

इस लिये ब्रह्म में विकार नहीं होता। अर्थात् सृष्टि ब्रह्म का विकृत रूप नहीं है क्यों कि ब्रह्म अविकृत है।

(४) ननु मृदादिदृष्टान्त प्रणयनात् परिणामवद् ब्रह्म शास्त्रस्याभिमतमिति गम्यते । परिणामिनो हिमृदादयोऽर्थालोके समधिगताइति । नेत्युच्यते; 'स वा एष महानज आत्माऽजरोऽमरोऽमृतोऽभयो ब्रह्म' (बृ० ४ । ४ । २५), 'स एष नेति नेत्यात्मा' (बृ० ३ । ६ । २६), अस्थूलमनणु, (बृ० ३ । ८ । ८ ।)

इत्याद्याभ्यः सर्व विक्रियाप्रतिषेधश्रुतिभ्यो ब्रह्मणः कूटस्थत्वावगमात्। न ह्येकस्य ब्रह्मणः परिणामधर्मत्वं तद्रहितत्वं च शक्यं प्रतिपत्तुम्। स्थितिगतिवत्स्यादिति चेत्, न; कूटस्थस्येति विशेषणात्। नहि कूटस्थस्य ब्रह्मणः स्थितिगतिवदनेकधर्माश्रयत्वं संभवति । (२।१।१४)

(आक्षेप करने वाला कहता है) कि मिट्टी आदि के दृष्टान्त से ऐसा प्रतीत होता है कि शास्त्र में ब्रह्म को परिणाम वाला माना है, क्योंकि लोक में मिट्टी आदि पदार्थ परिणामी माने जाते हैं। (इसका उत्तर शंकराचार्य देते हैं) ऐसा नहीं, क्योंकि कहा है कि 'ब्रह्म महान्, अज, आत्मा, अजर, अमर, अमृत तथा अभय है'(बृहदारण्यक)'वह आत्मा ऐसा नहीं, ऐसा नहीं,' (बृ०) वह न स्थूल है न अणु है (बृ०) इन सब विकार का खण्डन करने वाली श्रुतियों से ब्रह्म कूटस्थ सिद्ध है। ऐसा नहीं हो सकता कि एक ही ब्रह्म परिणामी भी हो और परिणामी न भी हो। यदि कहो कि जिस प्रकार एक ही वस्तु कभी चलती है और कभी नहीं भी चलती इसी प्रकार ब्रह्म

भी है तो भी ठीक नहीं। क्योंकि ब्रह्म को 'कूटस्थ' कहा गया है। कूटस्थ ब्रह्म में स्थिति और गति के समान अनेक धर्म नहीं हो सकते।*

---

*शंकराचार्य जी ने वेदान्त दर्शन २ १। २४ "उपसंहार दर्शनान्नेति चेन्नक्षीरवद्धि" इस सूत्र का भाष्य करते हुये ब्रह्म को दूध आदि के समान परिणामी माना है। यह ठीक नहीं। और सूत्र २। १। १४ में कहे हुये इस वाक्य के विरुद्ध भी जाता है। हम यहाँ उनकी समस्त व्याख्या पहले देकर फिर उस पर आलोचना करते हैं जिससे ज्ञात हो जाय कि श्री शंकराचार्य के लेखों में किस प्रकार परस्पर विरोध पाया जाता है। वह लिखते हैं :—

चेतनं ब्रह्मैकमद्वितीयं जगतः कारणमिति यदुक्तं तन्नोपपद्यते। कस्मात्? उपसंहार दर्शनात् इह हि लोके कुलालादयो घटपटादीनां कर्तारो मृद् दण्ड चक्रसूत्राद्यनेककारक साधनोपसंहारेण संगृहीतसाधनाः सन्तस्तत् तत्कार्य्यं कुर्वाणा दृश्यन्ते। ब्रह्म चासहायं तवाभिप्रेतं तस्य साधनान्तरानुपसंग्रहे सति कथं स्रष्टृत्वमुपपद्यते? तस्मान्न ब्रह्म जगत्कारणमिति। चेत्, नैपदोषः; यतः क्षीरवद् द्रव्य स्वभाव विशेषादुपपद्यते। यथा हिलोके क्षीरं जलं वा स्वयमेव दधिहिमभावेन परिणमतेऽनपेक्ष्य बाह्यं साधनं तथेहापि भविष्यति। ननु क्षीराद्यपि दध्यादिभावेन परिणाममानमपेक्षत एव बाह्यं साधनमौष्ण्यादिकं, कथमुच्यते क्षीरवद्धीति? नैपदोषः; स्वयमपिहिक्षीरं यां च यावतीं च परिणाममात्रामनुभवति तावत्येव त्वर्यते त्वौष्ण्यादिना दधिभावाय। यदि च स्वयं दधिभावशीलता न स्यान्नैवौष्ण्यादिनापि बलाद् दधिभावमापद्येत। नहिवायुराकाशो वौष्ण्यादिना बलाद् दधिभावमापद्यते। साधन सामग्र्या च तस्य पूर्णता संपाद्यते। परिपूर्णं शक्तिकं तु ब्रह्म। न तस्यान्येन केनचित् पूर्णता संपादयितव्या। श्रुतिश्च भवति—'न तस्य कार्य्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च

(५) मृदादद्बिष्वपि कुम्भकाराद्यधिष्ठितेषु विशिष्टाकारा रचना दृश्यते, तद्वत् प्रधानस्यापि चेतनान्तराधिष्ठितत्वप्रसङ्गः। (२ । २ । १)

मिट्टी आदि में कुम्हार आदि की अधिष्ठातृता में ही रचना दीखती है इसी प्रकार प्रकृति आदि में भी किसी अन्य चेतनशक्ति के अधिष्ठातृत्व में ही सृष्टि की रचना होती है।

दृश्यते । परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकीज्ञानबलक्रिया च, (श्वे० ६ । ८) इति। तस्मादेकस्यापि ब्रह्मणो विचित्र शक्ति योगात् क्षीरादिवद् विचित्र परिणाम उपपद्यते।

इसका भाषानुवाद करने में हम कई विभाग किये देते हैं जिससे पाठकों को एक दूसरे विभाग से तुलना करने का अवसर मिल सके:—

(१) एक अद्वितीय चेतन ब्रह्म जगत का कारण है यह ठीक नहीं। क्यों? साधन की आवश्यकता देखे जाने से। लोक में देखते हैं कि कुम्हार आदि घड़ा आदि बनाने के लिये पहले मिट्टी, दण्डा, चाक, धागा आदि अनेक साधनों को इकट्ठा कर लेते हैं तब कार्य को करते हैं। ब्रह्म एक और असहाय है उसके पास साधन नहीं अतः वह स्रष्टा कैसे हो सकता है? इसलिये ब्रह्म जगत् का कारण नहीं (यहशंका है)

(२) (शंकराचार्य जी इसका समाधान करते हैं) कि वह दोष नहीं। जैसे दूध के समान वस्तुयें स्वभाव से उत्पन्न होती हैं। जैसे लोक में दूध या जल स्वयम् ही दही या बर्फ हो जाता है। बाहरी साधन की अपेक्षा नहीं रखता। वैसा ही यहां भी होगा।

(३) यदि कहो कि दूध आदि के दही आदि बन जाने में गर्मी आदि बाहरी साधन हैं तो फिर दूध आदि का दृष्टान्त कैसे लागू हो सकता है?

(४) (तो इसका उत्तर है) कि यह दोष नहीं। दूध जिस जिस और जितनी जितनी परिणाम मात्रा को अनुभव करता है उतना ही उतना

(६) नहि मृदादयो रथादयो वा स्वयमचेतनाः सन्तश्चेतनैः कुलालादिभिरश्वादिभिर्वानधिष्ठिता विशिष्टकार्य्याभिमुखप्रवृत्तयो दृश्यन्ते । दृष्टाच्चादृष्टसिद्धिः । अतः प्रवृत्त्यनुपपत्तेरपि हेतोर्नाचेतनं जगत्कारणमनुमातव्यं भवति । ननु चेतनस्यापि प्रवृत्तिः केवलस्य न दृष्टा, सत्यमेतत् । तथापि चेतनसंयुक्तस्य रथादेरचेतनस्य प्रवृत्तिर्दृष्टा, नत्वचेतन संयुक्तस्य चेतनस्य प्रवृत्तिर्दृष्टा । (२।२।२)

गर्मी से दही बनता है। यदि दूध मे स्वयं दही के बनने का स्वभाव न होता तो गर्मी के द्वारा भी दही न बनता । जैसे वायु या आकाश गर्मी पाकर दही नहीं बन जाते । साधन सामग्री से उसकी पूर्णता होती है ।

(५) परन्तु ब्रह्म परिपूर्ण शक्ति वाला है । वह किसी दूसरे से शक्ति नहीं प्राप्त करता ।

(६) श्रुति भी है " उसका न कार्य्य है न कारण है। उसके न कोई बराबर है न बड़ा है । उसकी शक्ति बड़ी और अनेक प्रकार की है उसका ज्ञान बल और क्रिया स्वाभाविक हैं" (श्वेताश्वतरोपनिषद् ६।८) ।

(७) इसलिये एक ही ब्रह्म का विचित्र शक्ति के योग से दूध आदि समान विचित्र परिणाम होता है ।

आलोचना—यहां शंकराचार्य्य जी अन्त में ब्रह्म का परिणामी होना सिद्ध करते हैं (देखो भाग ७) उसी प्रकार जैसे दूध से दही बनता है । यह बात प्रथम तो उन्हीं के उन कथनों के विरुद्ध जाती है जिनमें उन्होंने ब्रह्म को अविकृत, कूटस्थ आदि बताया है । दूसरे उस श्रुति के भी विरुद्ध है जिसमें कहा है कि ईश्वर का न कोई (दही आदि के समान) कार्य्य है न करण (साधन) है । (देखो भाग ६) । भाग ५ में ब्रह्म की शक्ति का वर्णन था जिससे साधनों का सम्बन्ध है जैसे चाक, धागा, डण्डे आदि का न कि उपादान कारण का । पहले भाग में 'मिट्टी' शब्द

मिट्टी या रथ आदि स्वयं अचेतन हैं और वह कुम्हार या घोड़े आदि चेतनों के आश्रय बिना कुछ कार्य्य नहीं कर सकते। इसी प्रकार प्रवृत्ति के न होने के कारण कोई अचेतन वस्तु जगत् का (निमित्त) कारण नहीं हो सकती। यदि कहो कि केवल चेतन की भी प्रवृत्ति नहीं देखी जाती यह भी ठीक है। तब भी चेतन द्वारा अचेतन में प्रवृति दीखती है न कि अचेतन द्वारा चेतन में।

यहां पाठकों को **सत्यमेतत्** पर विचार करना चाहिये।

(७) यथायस्कान्तोमणिः स्वयं प्रवृत्तिरहितोऽप्यायसः प्रवर्तको भवति......एवं प्रवृत्तिरहितोऽपीश्वरः सर्वगतः सर्वात्मा, सर्वज्ञः सर्वशक्तिश्चसन् सर्वं प्रवर्तयेदित्युपपन्नम्। (२।२।२)

जैसे अयस्कान्त मणि या मैगनिट में स्वयं गति नहीं

उन्होंने विना आवश्यकता के ही केवल परिणाम सिद्ध करने के लिये रख दिया।

सूत्र का सीधा अर्थ यह है कि 'जिस प्रकार दूध या पानी से दही या बर्फ के बनाने में किसी ऐसे उपसंहार अर्थात् साधन की आवश्यकता नहीं पड़ती जैसे घड़े आदि के बनाने में चाक, डण्डा या धागे आदि की पड़ती है इसी प्रकार ईश्वर को प्रकृति के परमाणुओं से सृष्टि बनाने में किसी साधन (औज़ार) की ज़रूरत नहीं होती।" चूंकि शंकराचार्य्य जी प्रकृति का खण्डन और अद्वैत की सिद्धि करना चाहते थे इसलिये इन्होंने उपसंहार गिनाते हुये 'मिट्टी' भी गिना डाली और न केवल अपने कथनों के ही विरुद्ध लिखा किन्तु श्वेताश्वतर उपनिषद् के वाक्य का भी विरोध किया।

परन्तु लोहे को गतिवान् कर देती है......ऐसे ही ईश्वर सर्व व्यापक, सब का आत्मा, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिवान होने से सब में गति उत्पन्न करता है।

सातवीं शङ्का

तुमने छठे, सातवें और आठवें अध्याय में ईश्वर के गुण वर्णन किये हैं, परन्तु ईश्वर को निर्गुण बताया गया है। उपनिषद् कहती है।

निर्गुणः केवलश्च

समाधान—गुण शब्द कई अर्थों में आता है। साधारण अर्थ में गुण का लक्षण यह है :—

द्रव्याश्रय्यगुणवान् संयोग विभागेष्वकारणमनपेक्ष इति गुणलक्षणम् ।
(वैशेषिक १ । २ । १६)

अर्थात् गुण वह है जो द्रव्य के आश्रय हो, उसमें कोई दूसरा गुण न हो। और संयोग तथा विभाग में कारण न हो। इस अर्थ में कोई वस्तु ऐसी नहीं जिस में गुण न हो। बिना गुण के गुणी की पहचान ही नहीं हो सकती। वेदान्त-दर्शन में नीचे लिखे सूत्रों में भी ब्रह्म के गुणों की ओर ही संकेत किया है :—

(१) आकाशस्तल्लिङ्गात् १ । १ । २२
(२) अतएव प्राणः १ । १ । २३
(३) विवक्षित गुणोपपत्तेश्च ॥ १ । २ । २
(४) अत्ता चराचरग्रहणात् । १ । २ । ९ ।

तीसरे सूत्र के भाषा में श्री शङ्कराचार्य जो लिखते हैं।

तदिह ये विवक्षिता गुणा उपासनायामुपादेयत्वेनोपदिष्टः सत्य संकल्प प्रभृतयस्ते परस्मिन् ब्रह्मण्युपपद्यन्ते। सत्यसंकल्पत्वं हि सृष्टिस्थिति संहारेष्वप्रतिबद्धशक्तित्वात् परमात्मन एवावकल्पते। परमात्मगुणात्वे न च 'य आत्मापहतपाप्मा' (छा० ८।७।१) इत्यत्र सत्यकामः सत्यसंकल्प इति श्रुतम्। आकाशात्मेत्यादिनाकाशवदात्माऽस्येत्यर्थः।१।२।२।

अर्थात् सत्य संकल्प आदि जो शुभ गुण उपासना में बताये जाते हैं वह सब ब्रह्म में उपस्थित हैं। इसी अर्थ में छान्दोग्य उपनिषत् में ब्रह्म को 'अपहतपाप्मा' कहा है। इससे यह तो सिद्ध है कि बिना गुणों के ईश्वर नहीं हो सकता। अब यह प्रश्न शेष रहा कि ईश्वर को निर्गुण क्यों कहते हैं।

निर्गुण के अन्तर्गत गुण के दो अर्थ लिये जाते हैं:—

(१) पहला तो साधारण अर्थ। इस अर्थ में ईश्वर को सगुण और निर्गुण दोनों कहते हैं। "वह परमात्मा सब में व्यापक, शीघ्रकारी और अनन्त बलवान जो शुद्ध सर्वज्ञ, सब का अन्तर्यामी, सर्वोपरि विराजमान, सनातन, स्वयं सिद्ध, परमेश्वर अपनी जीवरूप सनातन अनादि प्रजा को अपनी सनातन विद्या से यथावत अर्थों का बोध वेद द्वारा कराता है वह सगुण स्तुति अर्थात् जिस २ गुण से सहित परमेश्वर की स्तुति करना वह सगुण, (अकाम) अर्थात् वह कभी शरीर धारण वा जन्म नहीं लेता जिसमें छिद्र नहीं होता, नाड़ी आदि के बन्धन में नहीं आता और कभी पापाचरण नहीं करता जिसमें क्लेश दुःख अज्ञान कभी नहीं होता

इत्यादि जिस २ राग द्वेषादि गुणों से पृथक् मानकर परमेश्वर की स्तुति करना है वह निर्गुण स्तुति है"।

(सत्यार्थ प्रकाश समु० ७)

(२) गुण का एक और है अर्थात् प्रकृति के तीन गुण सत, रज और तम। ब्रह्म को निर्गुण कहने का यह भी तात्पर्य है कि ईश्वर में सत, रज और तम तीनों गुण नहीं हैं। यह तीनों गुण केवल प्रकृति के हैं। अन्य के नहीं। उपनिषत् में ब्रह्म को 'निर्गुण' कहने का तात्पर्य यही है कि 'ईश्वर' आत्मा होने से अनात्म प्रकृति के तीनों गुणों से अलग है।

आठवीं शङ्का

हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि मनुष्य अपने मा बाप से उत्पन्न होता है। इसी लिये मा को जननी और पिता को जनक कहते हैं। फिर ऐसा क्यों मानें कि हमको ईश्वर बनाता है।

इसका सीधा सा उत्तर यह है कि जो जिस वस्तु को बनाता है वह उसको जानता भी है। जैसे घड़ीसाज़ ने घड़ी बनाई तो उसको घड़ी के पुरज़े पुरज़े मालूम हैं। परन्तु मा बाप को अपनी सन्तान के शरीरों का कुछ भी ज्ञान नहीं। यदि मा अपने पुत्र के शरीर की निर्मात्री होती तो वह पुत्र के रोगी हो जाने पर वैद्य को न बुलाती। उसे तो यह भी मालूम नहीं होता कि मेरे पेट में लड़का है या लड़की। वह यह भी नहीं जानती कि उस पुत्र के शरीर में कौन २ सी हड्डियां है। अतः स्पष्ट है कि माँ बाप सन्तान की उत्पत्ति के

साधन मात्र हैं और जननी तथा जनक शब्दों का प्रयोग भी उपचार मात्र है।

नवीं शंका

ईश्वर यदि बुद्धिमान होता तो मनुष्य की उत्पत्ति की ऐसी भद्दी और पापमय रीति क्यों बनाता ? जब तक स्त्री पुरुष व्यभिचार न करें तब तक उनकी सन्तान हो ही नहीं सकती। फिर सब से बुरी बात यह है कि मनुष्य को उत्पत्ति के समय कैसे गन्दे स्थान से होकर गुजरना पड़ता है। जो स्थान मूत्र का है वहीं से बच्चा पैदा होता है। मिश्र देश का प्रसिद्ध दार्शनिक प्लोटीनस (Plotinus of Socopolis)* कहता है कि मुझे तो अपनी उत्पत्ति की रीति का ध्यान करके लज्जा आती है। इससे प्रतीत होता है कि या तो ईश्वर सृष्टि को नहीं बनाता या वह बुद्धिमान नहीं है। ईश्वर को चाहिये था कि कान, नाक, या अगूंठा आदि से सन्तानोत्पत्ति करता।

इस शंका के करने वाले कुछ भी विचार नहीं करते। उनको नहीं मालूम कि पाप, भद्दापन तथा व्यभिचार किसे कहते हैं। न उनको गन्देपन का लक्षण मालूम है। हम पाप पुण्य की पर्य्याप्त आलोचना कर चुके हैं। सन्तानोत्पत्ति के लिये विधिवत् स्त्री और पुरुष के सम्बन्ध को व्यभिचार नहीं कहते। न यह पाप है। गृहाश्रम के मुख्यतम कर्त्तव्यों में से एक यह है कि सन्तानोत्पत्ति के लिये पति पत्नी परस्पर संयोग करें। हां विषय वासना के लिये संभोग करना पाप और व्यभिचार है। शरीर में वीर्य्य की उत्पत्ति

---

* Weber's History of Philosophy translated by Thilly p. 46.

ही इसलिये होती है कि उससे शरीर का प्रकृष्टतम भाग अर्थात् मस्तिष्क बन सके। और इसी श्रेष्ठ वस्तु से सन्तान का शरीर बनता है। इसलिये वीर्य्य को या तो अपने मस्तिष्क के बनाने में लगाना चाहिये या प्रिय सन्तान के शरीर की नींव रखने में।

यदि ईश्वर स्त्री पुरुष के संयोग से सन्तानोत्पत्ति का विधान न बनाता तो भिन्न २ मनुष्यों में परस्पर सम्बन्ध भी न स्थापित हो सकता। भाई, बहिन, दादी, बाबा, मौसा, बुआ, चाचा, चाची आदि सभी सम्बन्ध जो मनुष्य समाज के लिये गोंद का काम करते हैं सृष्टि उत्पत्ति की वर्त्तमान रीति के आधार पर स्थित हैं। भिन्न २ परिवार, तथा जातियां एक दूसरे से इसीलिये सम्बद्ध होती हैं कि वह किसी एक माता पिता से उत्पन्न हुई हैं। यदि सन्तानोत्पत्ति की वर्त्तमान रीति न हो तो जितने रिश्ते हैं वे सब निरर्थक हो जायंगे। यही कारण है कि विवाह-संस्कार जीवन के मुख्यतम संस्कारों में गिना जाता है।

रही गन्देपन की बात। सो यदि मनुष्य के शरीर की बनावट पर विचार किया जाय और उसके प्रत्येक अंग के उपयोग को देखा जाय तो इसमें कुछ गन्दापन नहीं है। मैल तो जिस प्रकार मूत्राशय से निकलता है उसी प्रकार नाक, कान तथा मुंह से भी निकलता है। वस्तुतः जो वस्तु शरीर के अवयवों को बनाने में काम नहीं आती और जिसका शरीर से निकल जाना ही अच्छा है वही गन्दी है। पानी या भोजन को सभी पवित्र कहते हैं परन्तु मूत्र और मल इन्हीं के भाग तो हैं, कहीं बाहर से नहीं आते। जो अंश रुधिर बन जाता

है वह पवित्र, जो बाहर निकल जाता है वह अपवित्र है। पवित्रता और अपवित्रता भी तो सापेक्षिक ही हैं। मांस और रक्त छूने देखने तथा खाने की अपेक्षा से अपवित्र हैं परन्तु शरीर के भीतर यह बड़ी पवित्र वस्तुयें हैं। तभी तो वैद्य लोग कहते हैं कि अमुक वस्तु खाओ तो शुद्ध रक्त उत्पन्न होगा। 'शुद्ध रक्त' का क्या अर्थ ? यही न कि वह रक्त जो शरीर में बल उत्पन्न करता है।

गर्भाशय की गन्दगी के भ्रम में पड़के ही पौराणिकों ने नाक से नासिकेत और कान से कर्ण की उत्पत्ति की गप उड़ाई है। परन्तु उन विचारों को यह पता नहीं कि कान और नाक में यदि ईश्वर गर्भाशय बनाता तो सुनने और सूंघने का काम कहां से लिया जाता ? बच्चा उत्पन्न होता है तो उसके मूत्र और मल के स्थान भी तो बाहर आते हैं। यदि ऐसे दुगन्धमय अवयव नाक या मुख से निकलते तो माता को कितना कष्ट उठाना पड़ता। बच्चा तो उस समय ऐसी अवस्था में होता है कि उसको माता के मूत्राशय की दुर्गन्ध का पता भी नहीं चलता। उस समय उसकी इन्द्रियां विकसित नहीं होतीं। उस समय उसको मूर्च्छा सी होती है। इसलिये सन्तानोत्पत्ति का वर्त्तमान मार्ग ईश्वर की बुद्धि मत्ता को प्रकट करता है न कि बुद्धि के अभाव को।

ग्यारहवां अध्याय

आस्तिकता की उपयोगिता ।

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसस्पुरस्तात् ।
तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यते ऽयनाय ।

इस वेद मंत्र का अर्थ यह है कि मैं उस महान् ज्योतिःस्वरूप तथा अन्धकार रहित ईश्वर को जानता हूँ जिसको जान कर ही मनुष्य मृत्यु से बच सकता है। इससे इतर और कोई उपाय दुःख से बचने का नहीं है।

दुःख और मृत्यु से बचने का सभी प्राणी प्रयत्न करते हैं। यह प्रत्येक के हृदय की स्वाभाविक आकांक्षा है। यदि मनुष्य-समाज की भिन्न २ संस्थाओं पर दृष्टि डाली जाय तो उन सब की यही एक उपयोगिता तथा यही एक उद्देश्य जान पड़ता है। कृषि इस लिये की जाती है कि भूख रूपी दुःख से निवृति हो और हम मृत्यु का सामना कर सकें। व्यापार तथा कला कौशल का यही लाभ है कि हमारी शारीरिक आवश्यकतायें पूरी हो सकें। चिकित्सालय इसी लिये खोले जाते हैं कि शारीरिक रोगों से उत्पन्न हुआ दुःख दूर हो सके और मृत्यु हमको शीघ्र ही निगल न जाय। न्यायालय इसीलिये बनाये जाते हैं कि दूसरे मनुष्य अपने स्वार्थ वश हमको सता न सकें।।

सेनायें इसलिये रक्खी जाती हैं कि हम बाह्य आक्रमणों से मुक्त रह सकें।

यह सब संस्थायें हमारे दुःखों के निवारणार्थ ही निर्माण होती हैं। फिर भी वेद कहता है कि ईश्वरप्राप्ति के बिना अन्य कोई मार्ग ही मृत्यु को जीतने तथा दुःख से पार होने का नहीं है।

ऐसा क्यों? क्या हम ईश्वर के बिना अपनी जीवन यात्रा सुख पूर्वक व्यतीत नहीं कर सकते? क्या आस्तिकता का हमारे जीवन से ऐसा घनिष्ट सम्बन्ध है कि इसके बिना हमारा कार्य्य चल ही नहीं सकता? क्या सभी आस्तिकों को सुख मिलता है? क्या सभी नास्तिक दुःख भोगते हैं? क्या वह पुरुष जो जीवन पर्य्यन्त "ऋण कृत्वा घृतं पिबत्" में ही मस्त रहते हैं सुखी नहीं हैं? क्या मनुष्य समाज के सफलीभूत होने का एक मात्र साधन आस्तिकता ही है? जब तक इन प्रश्नों का यथोचित उत्तर नहीं मिलता उस समय तक ईश्वर के विषय में विचार करने का कुछ उपयोग जान नहीं पड़ता।

ईश्वर हो या न हो। सृष्टि ईश्वर की बनाई हुई हो या किसी अन्य की। ईश्वर सर्व व्यापक हो या सृष्टि को बना कर किसी अन्य स्थान को चला गया हो। ईश्वर सर्व-शक्तिमान हो या अत्यन्त निर्बल हो। प्रश्न यह है कि हमारे व्यावहारिक जीवन में ईश्वर-अस्तित्व का क्या उपयोग है? कार्लाइल कहता है कि सृष्टि के आदि से आज तक मनुष्य इस खोज में लगा रहा कि "मैं क्या हूँ?" और आज पर्य्यन्त उसको इसका ज्ञान नहीं हो सका; अतः अब इसके चक्कर

में व्यर्थ समय गंवाना मूर्खता है। सोचना यह चाहिये कि "मुझे क्या करना चाहिये" न कि "मैं क्या हूँ"। यदि "मैं क्या हूँ" प्रश्न सभ्य जातियों के लिये अनावश्यक है तो "ईश्वर क्या है ?" प्रश्न इससे भी अधिक अनावश्यक और व्यर्थ ठहरता है। हमारा जीवन थोड़ा है। समय कम है। काम बहुत है। इस लिये यदि इस लघु जीवन का भी कुछ समय व्यर्थ प्रश्नों की मीमांसा में लगा दिया जाय तो कर्तव्य पालन के लिये समय मिल ही नहीं सकता।

आस्तिकता के पीछे जातियां तथा व्यक्तियां पागल हो रही हैं। इन्हों ने अपना सर्वस्व छोड़ कर काल्पनिक ईश्वर के पीछे दौड़ने में अपना समय यापन किया है। इनका बहुत सा समय ईश्वर स्तुति, प्रार्थना, तथा उपासना में व्यतीत होता है। इनका बहुत सा धन ईश्वर की खोज में व्यय होता है। यदि किसी प्रकार ईश्वर का भूत मनुष्य जाति के सिर से उठ जाय तो इनका समय तथा शक्ति अन्य उपयोगी कामों में व्यय हो सकते है।

ऐसा बहुत से लोगों का मत है और यही कारण है कि आधुनिक शिक्षित समाज इस प्रकार के प्रश्नों से दूर रहना चाहता है।

परन्तु हमारे विचार से यह इनकी भूल है। जितना हम इस प्रश्न से बचते हैं उतना ही हमारा दुःख भी बढ़ता चला जाता है। मानवी समाज की भिन्न २ संस्थायें निःसन्देह हमारे सुख के लिये हैं परन्तु उनसे हमको उस समय तक यथोचित सुख नहीं मिल सकता जब तक हम सच्चे आस्तिक बनने का यत्न नहीं करते।

कार्लायल का यह विचार कि "हम क्या हैं ?" प्रश्न को छोड़ दिया जाय और "हमको क्या करना चाहिये ?" प्रश्न पर ध्यान देना चाहिये वस्तुतः उच्च विचार नहीं है। क्या बिना अपने अस्तित्व पर विचार किये हुये हम अपने कर्त्तव्य को जान सकते हैं ? क्या कर्त्तव्य और अस्तित्व में कुछ भी सम्बन्ध नहीं है ? हमको बिना यह ज्ञान हुये कि "हम क्या हैं ?" यह कैसे पता चलेगा कि हमारा क्या कर्त्तव्य है ? हम संसार में देखते हैं कि भिन्न २ मनुष्यों के भिन्न २ कर्त्तव्य हैं। यह क्यों ? केवल इस लिये कि उनके पदों में भेद है। सभी राज कर्मचारियों का एक ही कर्त्तव्य नहीं होता। सेनापति का वही कर्त्तव्य नहीं है जो कोषाध्यक्ष का है। न्यायाधीश का वही कर्त्तव्य नहीं है जो कोषाध्यक्ष का है। यदि यह लोग यह जानने का प्रयत्न नहीं करते कि "मैं क्या हूँ ?" तो यह अपना कर्त्तव्य कैसे पालन कर सकेंगे ? यदि आप यह जानने से निराश हो गये हैं कि "मैं क्या हूँ" तो आप को शीघ्र ही इस बात के ज्ञान से भी निराश हो जाना चाहिये कि "मेरा कर्त्तव्य क्या है ?" फिर इसके आगे कुछ कर्त्तव्य ही नहीं रहता और मनुष्य तथा पत्थर दोनों पर्याय वाची हो जाते हैं ?

लोग कहेंगे कि इससे और आस्तिकता से क्या सम्बन्ध ? परन्तु हम बताते हैं। सुनिये। मनुष्य समाज कर्त्तव्यों का एक बण्डल है। प्रत्येक मनुष्य कुछ न कुछ करता ही रहता है। इस लिये नित्य प्रति यह प्रश्न उठा करता है कि मुझे क्या करना चाहिये। कुछ लोग तो इस प्रश्न की मीमांसा पर अपनी कर्मपरायणता को आश्रय देते हैं और

कोई केवल समाज की रीति का ही अनुकरण करते हैं परन्तु इन अनुकरण करने वालों के कर्त्तव्य भी बिना विचारे ही स्थिर नहीं हो जाते किन्तु इनका विचार समाज के संचालकों द्वारा हुआ करता है। इन्हीं प्रश्नों का नाम आचार शास्त्र ('ethics') है। प्रश्न यह है कि आचार शास्त्र सम्बन्धी समस्यायें क्या इस प्रश्न को विचारे बिना ही ठीक हो सकती हैं कि मनुष्य क्या है? और क्या प्रत्येक विचार रखने वाले मनुष्य का आचार भी एक सा ही होता है? कम से कम इतिहास से इसकी साक्षी नहीं मिलती।

इस विषय में भिन्न २ मतों को श्रीशङ्कराचार्य्य इस प्रकार दर्शाते हैं:—

(१) देहमात्र चैतन्यविशिष्टमात्मेति प्राकृता जना लोकायतिका प्रतिपन्नाः।
(२) इन्द्रियाण्येव चेतनान्यात्मेत्यपरे।
(३) मन इत्यन्ये।
(४) विज्ञानमात्रं क्षणिकमित्येके।
(५) शून्यमित्यपरे।
(६) अस्ति देहादिव्यतिरिक्तः संसारी-कर्ता-भोक्ते-त्यपरे।
(७) भोक्तैव केवलं न कर्तेत्येके।
(८) अस्ति तद्व्यतिरिक्त ईश्वरः सर्वज्ञः सर्वशक्ति-रितिकेचित्।
(९) आत्मा स भोक्तुरित्यपरे। (शारीरिक भाष्य १।१।१)

अर्थात्

(१) कुछ कहते हैं कि शरीर ही चेतनता पाकर आत्मा हो जाता है। शरीर से इतर कुछ नहीं।

(२) कुछ का मत है कि इन्द्रियाँ ही आत्मा हैं।

(३) तीसरे कहते हैं कि मन ही आत्मा है।

(४) चौथे लोगों का मत है कि विज्ञान मात्र क्षणिक वस्तु को ही आत्मा समझना चाहिये। आत्मा कोई नित्य पदार्थ नहीं है।

(५) पाँचवा मत है कि आत्मा शून्य है।

(६) छठा मत है कि देह आदि से अलग आत्मा है जो कर्त्ता और भोक्ता दोनों है।

(७) सातवाँ मत है कि आत्मा भोक्ता है कर्त्ता नहीं।

(८) आठवें लोग कहते हैं कि इससे अलग ईश्वर है जो सर्व शक्तिमान और सर्वज्ञ है।

(९) नवाँ मत है कि भोक्ता जीवात्मा से ईश्वर भिन्न नहीं।

अब प्रश्न यह है कि क्या इन सब मतों को मानने वालों का सदाचार और व्यवहार एकसा होगा? कदापि नहीं। मनुष्य जैसा सोचता है वैसे ही उसके आचरण होते हैं। उसके सिद्धान्त, उसकी फिलासफ़ी और उसके विज्ञान का उसके जीवन पर बड़ा भारी प्रभाव पड़ता है। इसमें सन्देह नहीं कि कुछ ऐसे भी मनुष्य हैं जिनके आन्तरिक विचार इच्छाशक्ति के निर्बल होने के कारण उनको सामाजिक गति के बाहर जाने नहीं देते। परन्तु इसमें भी संशय नहीं कि आन्तरिक विचार कभी न कभी इच्छाशक्ति को भी पलट देते हैं। मनुष्य की फिलासफ़ी उस जल के प्रवाह के समान

है जो पृथ्वी के नीचे बह रहा है और जहाँ कहीं नर्म ज़मीन पाता है वहीं फूट निकलता है।

जो पुरुष यह मानता है कि मैं शरीर से अतिरिक्त कुछ नहीं। जन्म से पहले मेरा कोई अस्तित्व न था। मृत्यु के पश्चात् न रहेगा। उसके लिये यही लोक परलोक है और मृत्यु ही उसके जीवन का अन्त है। ऐसे पुरुष के विचार अपने शरीर से परे जा ही नहीं सकते। वह तो अवश्य ही ऋण ले लेकर घी पियेगा। और जब तक जियेगा उस समय तक भोग विलास में लगा रहेगा। यदि इस प्रकार के मनुष्य सृष्टि भर में हो जायं तो उनके लिये सदाचार, परोपकार, अहिंसा आदि निरर्थक हो जाते हैं। वह आत्मत्याग करें तो किसके लिये करें? आत्म त्याग का अर्थ ही उनके लिये क्या है? क्या ऐसे पुरुष कुछ कष्ट सहकर दूसरों का भला करने के लिये उद्यत होंगे? मेरा अपना विचार तो यह है कि यदि आज मुझे पूर्ण विश्वास हो जाय कि मैं शरीर के अतिरिक्त और कुछ वस्तु नहीं हूं तो मेरा जीवन ही एक विचित्र अकथनीय विलास-प्रियता में परिवर्तित हो जायगा। यह बात मेरे ही तक परिमित नहीं है। इतिहास बताता है कि भारतवर्ष के चारवाक मतानुयायी तथा यूनान के एपीक्यूरियन लोगों (Epicurians) के जीवन किस प्रकार के रंग में रंग गये थे इन्हीं लोगों की तो उक्ति है कि

अङ्गना लिङ्गनाज्जन्यं सुखमेव पुमर्थता

अर्थात् स्त्री का आलिङ्गन ही पुरुषार्थ है। इनके मत में तो सब से अधिक पुरुषार्थी वही कहलायेगा जो इधर

उधर से सुन्दर युवतियों को इकट्ठा करके उनसे रमण करता रहे।

इसी प्रकार जो समस्त संसार तथा अपने को शून्य मानते हैं उनके कर्त्तव्य परायणता के लिये कौनसी ऐसी वस्तु है जो प्रेरक का काम करेगी? शून्यवाद का प्रचार ही जातियों तथा व्यक्तियों को शून्य की ओर ले जाता है और ज्यों ज्यों इनकी यह भावना बढ़ती जाती है त्यों त्यों उनकी विभूति भी कृष्ण पक्ष के चन्द्रमा के समान घटते घटते अमावस्या रूपी अन्धकार तक पहुंच जाती है।

हम देखते हैं कि जो जातियां अपने को ईश्वर मान बैठी हैं उनका उसी प्रकार का व्यवहार नहीं होता जैसा उनका होता है जो अपने को उन्नतशील जीव मानती हैं। क्योंकि एक स्थान में उन्नति के लिये मार्ग खुला है और दूसरे में, नहीं।

इसी प्रकार जो जाति या व्यक्ति आस्तिक है उसका जीवन नास्तिकों से अवश्य भिन्न होगा और जिस प्रकार के उसके आस्तिकता सम्बन्धी विचार होंगे उसी प्रकार के उसके आचरण भी होंगे।

इस लिये यह कहना ठीक नहीं है कि आस्तिकता सम्बन्धी विचारों की मनुष्य के जीवन में कोई आवश्यकता नहीं पड़ती। वस्तुतः ईश्वर के अस्तित्व का प्रश्न केवल मस्तिष्क सम्बन्धी व्यायाम ही नहीं है। यह प्रश्न मनुष्य जाति की उन्नति के मार्ग में मृत्यु और जीवन का प्रश्न है। इस लिये उपनिषत् कहती है:—

> सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति।
> यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्पदं संग्रहेण ब्रवीमि।

कि जिसके पद का सब वेद गायन करते हैं, जिसके लिये सब तप आदि व्रत किये जाते हैं जिसकी इच्छा से ही लोग ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं वही ईश्वर है। यथार्थ में जिसका ईश्वर पर विश्वास नहीं है, जिसके सम्मुख ईश्वर-प्राप्ति जैसा उच्च आदर्श नहीं है वह ब्रह्मचर्य जैसी कठिन तपश्चर्या क्यों करेगा ? उसके लिये तो ललनालिङ्गन ही समस्त जीवन का उद्देश्य है। यही इसके पुरुषार्थ की इति श्री है।

विचार कीजिये कि मनुष्य का उद्देश्य क्या है ? थोड़ी देर के लिये आस्तिकता के भाव को दूर रख दीजिये। ईश्वर हो या न हो। हमें उससे कुछ प्रयोजन नहीं। हम उसके विषय में सोचें ही क्यों ?

अंजुम शनास को भी ख़लल है दिमाग़ का।
पूछो अगर ज़मीं की, कहे आस्मां की बात॥

हम आकाश पाताल एक नहीं करना चाहते। सच्चे व्यावहारिक मनुष्य की भांति सोचना चाहते हैं। मनुष्य जीवन का क्या उद्देश्य है ? दुःखों का दूर करना ? यह तो निषेधवाचक वाक्य हैं। हमारे दुःख कैसे दूर हो सकते हैं ? फिर हम में तथा कुत्ते बिल्ली में क्या भेद है ? वह भी तो दुःखों के दूर करने में ही लगे रहते हैं:—

आहारनिद्रा भय मैथुनं च सामान्यमेतत्र पशुभिर्नराणाम्।

दुःख के दूर करने के साधारण उपायों को दृष्टि में रखते हुये तो पशु तथा मनुष्य समान ही हैं। फिर मनुष्य का क्या उद्देश्य है ? और उसका ईश्वर अस्तित्व के साथ क्या सम्बन्ध है ?

आधुनिक आचार – शास्त्र वालों ने विना ईश्वर की सहायता के ही मनुष्य के आचार की विवेचना की है। और उनके कई मत हैं। मिल आदि अपने को यूटीलिटेरियन (Utilitarian) या लाभ-वादी कहते हैं। उनका कथन है कि हमको वही काम करना चाहिये जिससे लाभ हो। परन्तु 'लाभ' अनिश्चत् शब्द है। किसका लाभ ? रुपये का, सम्पत्ति का या स्वास्थ्य का ? लाभवादी कहते हैं 'सुख का'। अच्छा यदि सुख ही अभीष्ट वस्तु है तो जो कुछ सुख के लिये किया जाय वह सब उचित होगा। और चोरी, डाका, व्यभिचार आदि खोटे से खोटे कर्म उचित होंगे। 'अनुचित' का नाम ही न रहेगा। यदि कहो कि 'अधिक से अधिक मनुष्यों का अधिक से अधिक सुख' (Greatest happiness of the greatest number of men) ही जीवन का उद्देश्य होना चाहिये तो इसमें सन्देह नहीं कि मनुष्य बहुत से अनाचारों से बचा रह सकता है परन्तु एक मनुष्य अपनी जान को खो कर अधिक से अधिक मनुष्यों के अधिक से अधिक सुख का क्यों सम्पादन करे इसके लिये कोई साधन नहीं है। आज यदि मैं अपनी जान दे दूं तो मेरे देश वालों का भला होगा। उनका दासत्व दूर हो जायगा उनको स्वतंत्रता प्राप्त हो जायगी। परन्तु ऐसा मैं क्यों करूं ? मुझे इसके बदले में क्या मिलेगा ? मेरे मरने के पश्चात् मेरे देश वाले मेरे इस ऋण को किस प्रकार चुकावेंगे। या यदि वह न चुकायेंगे तो मुझे उसका किस प्रकार बदला मिलेगा। यह सब प्रश्न हैं जो केवल लाभवादी नहीं दे सकते। ईश्वर-वादी कह सकता है कि मृत्यु मेरा अन्त नहीं

है। मुझे ईश्वर के नियमों तथा आज्ञाओं का पालन करना है। आज यदि मैं मनुष्य जाति की सेवा में प्राण देता हूं तो मेरा आत्मा उच्च होगा। मैं ईश्वर की ओर से फल पाऊंगा मुझे स्वयं सन्तोष होगा। लाभवादी शायद कहेंगे कि यह भी तो लाभ ही है। लाभ अवश्य है। परन्तु इस लाभ में और उनके कथित लाभ में आकाश पाताल का अन्तर है। यहां प्रेरणाशक्ति बड़ी उच्च है।

जो लोग सदाचार के भवन को ईश्वर-अस्तित्व की नींव पर बनाना नहीं चाहते अथवा जो इस नींव को खोद डालना चाहते हैं वह सदाचार को एक प्रकार से नींव रहित बना रहे हैं। वह मनुष्य जाति के मनोविज्ञान से अनभिज्ञ हैं। वह नहीं देखते कि ईश्वर-विश्वास ने सदाचार को कहां तक दृढ़ किया है!

कुछ लोगों का आक्षेप है कि आस्तिकता ने सदाचार को दासता की कड़ियों में जकड़ दिया है। "पुण्य पुण्य के लिये (Virtue for Vitue's sake) करना चाहिये" यह भाव लोगों में नहीं रहा। वह झूठ इस लिये नहीं बोलते कि ईश्वर दण्ड देगा, चोरी इसलिये नहीं करते कि ईश्वर अप्रसन्न होगा। इस प्रकार लोगों के हृदयों में भय बैठता जाता है। और वह वास्तविक रीत्या सदाचारी नहीं बनते। परन्तु ऐसा कहने वाले गहरे नहीं जाते।

वस्तुतः मनुष्यों की प्रकृति भिन्न २ है। उनके मस्तिष्क में जहां अन्य भाव हैं वहां भय भी है। भय मनुष्यों में स्वभावतः है। कहीं बाहर से नहीं आ गया। वह भावों में से एक है। उसको हम संसार से निकाल नहीं सकते। निकृष्टतम

अवस्थाओं में भय अधिक होता है और उन्नतशील मस्तिष्कों में इसकी न्यूनता होती जाती है। परन्तु यह नहीं कह सकते कि भय के लिये प्रकृति में कोई स्थान ही नहीं।

यह भय क्यों है? इसका उपयोग क्या है? यदि विकासवादी डार्विन आदि से पूछा जाय तो वह कहते हैं कि भय का उन्नति के लिये उपयोग है। उनका सिद्धान्त है कि विना आवश्यकता के कोई भाव होता ही नहीं। हम भी इस बात में उनसे सहमत हैं।

अब देखना यह है कि भय का आचार-शास्त्र में क्या उपयोग है? एक नियम, जैसे सच बोलना, मनुष्य समाज के लिये उपयोगी है; इससे संसार का लाभ होगा। इससे अधिक से अधिक जन संख्या को अधिक से अधिक सुख प्राप्त होगा। इस लिये मनुष्य समाज ने नियम बनाया कि सच अवश्य बोलना चाहिये और जो पुरुष सच न बोलेगा उसको सभा, समाज या राज की ओर से दण्ड मिलेगा। जो उच्च पुरुष हैं वह दण्ड का विचार न करते हुये भी सच बोलेंगे और झूठ से घृणा करेंगे। परन्तु निकृष्ट श्रेणी के मनुष्यों को इसी दण्ड का विचार करके सच बोलना पड़ेगा। याद रखना चाहिये कि यदि हम जनता की वास्तविक दशा का पता लगावें तो मनुष्यों की उच्च से उच्च श्रेणियों में भी ऐसे निकृष्ट लोगों की संख्या मिलेगी। अब इन लोगों को भय का अनुभव कराने के क्या साधन हैं? वह निकृष्ट हैं अतः उनको भय ही नियम में रख सकता है। परन्तु सर्व-व्यापी भय कहां से आयेगी? समाज बल या राज बल प्रत्येक स्थान या प्रत्येक दशा में तो कृतकार्य्य हो नहीं सकता।

पक्ष मनुष्य के झूठ बोलने से ही प्राण बचते हैं। उसके झूठ का समाज या राज्य भी पता नहीं लगा सकता। अब प्रश्न यह है कि वह झूठ क्यों न बोले? ईश्वर विश्वासी तो कहेगा कि समाज न देखे, राजा न देखे परन्तु जो

पश्यत्यचक्षुश्च शृणोत्यकर्णः

बिना आंख के देखता और बिना कान के सुनता है उसकी सूक्ष्म दृष्टि से मैं कैसे बच सकूंगा? इस प्रकार ईश्वर का सच्चा विश्वासी उस समय भी पाप करने से बचेगा जब उसे संसार में किसी का भी भय नहीं है। परन्तु जिसका ईश्वर पर विश्वास नहीं वह ऐसे समय झूठ को ही पुण्य समझेगा क्योंकि झूठ लाभदायक है। यही कारण है कि स्वतंत्र आचार वादियों ने झूठ को विशेष अवस्थाओं में में विहित बताया है। (See Sidgwick' Ethics).

इसमें सन्देह नहीं कि हमारे इस दृष्टान्त में 'भय' सदाचार का साधन है। परन्तु हमारा तो सिद्धान्त ही यह है कि निकृष्ट अवस्थाओं में 'भय' को अवश्य साधन मानना पड़ेगा। और क्यों न मानें? एक शस्त्र उपस्थित है। यदि वह अधिक से अधिक उपयोगी हो सकता है तो उसका अवश्य प्रयोग करना चाहिये।

परन्तु एक बात स्मरण रखनी चाहिये। ईश्वर के भय और अन्य चीज़ों के भय में भेद है। जो ईश्वर से डरता है वह वस्तुतः अन्य किसी से नहीं डरता। यह भय भय नहीं किन्तु अभय का सब से प्रकृष्ट हेतु है। इसी लिये आस्तिक वादियों ने खुदातर्स, गाड-फियरिंग (God-fearing) आदि शब्दों का निर्माण किया है। ईश्वर से डरना उच्चतम गुण

समझा जाता है। क्योंकि जो ईश्वर से डरता है वह उसके नियमों का उल्लङ्घन नहीं कर सकता। वस्तुतः नियमों का उल्लङ्घन करना अभय का चिन्ह है ही नहीं। यह महान नीचता, कायरता तथा निर्बलता का चिन्ह है।

नियमोल्लङ्घन तथा भय में क्या सम्बन्ध हैं? इसके विषय में सर्व साधारण में एक प्रकार का भ्रम फैला हुआ है। प्रायः अशिक्षित या कुशिक्षित या अर्धशिक्षित लोग यह समझते हैं कि वीर वह है जो नियमों को तोड़ सके। इससे अधिक भूल क्या हो सकती है? नियमों के पालन करने के लिये बल चाहिये। तोड़ने के लिये क्या बल? मनुष्य नियमों को क्यों तोड़ता है? इसीलिये कि वह निर्बल है। वह प्रलो-भनों का सामना नहीं कर सकता। थोड़ी सी कोच पाते ही उसका पैर फिसल जाता है। कोई खाद्य पदार्थ देखा मुंह में पानी भर आया। सुन्दर युवती देखी, मन डिगने लगा। यह सब नियमोल्लङ्घन के उदाहरण निर्भयता और वीरता के उदाहरण नहीं है। यदि मनुष्य को एक बार दृढ़ निश्चय हो जाय कि बल और निर्भयता नियमों के पालन में है न कि उनके उल्लङ्घन में, तो सैकड़ों बड़े आदमी सच्चे बड़प्पन को प्राप्त कर सकते हैं। परन्तु लोगों के हृदय में तो

समरथ को नहिं दोष गुसांई

की विषैली शिक्षा बैठी हुई है। वह उनको प्रलोभनों से युद्ध नहीं करने देती। "मैं राजा हूं मेरे राज में मुझ से ऊपर कोई नहीं। अतः मैं सब से अधिक भोग विलास कर सकता हूं। स्त्रियों के सतीत्व नष्ट कर सकता हूं तथा असतियों के गट्ठ के गट्ठ अपने महलों में रख सकता

हूं।" यह विचार क्या वीर पुरुषों के विचार हैं ? क्या यह आत्मा की अभयता को सूचित करते हैं ? वस्तुतः यह तो नीचे दर्जे की निर्बलता है। यह भय का निकृष्टतम रूप है। जिन लोगों का कथन है कि

परस्त्री-कुच-कुम्भेषु कुम्भेषु परदन्तिनाम्।
निपतन्ति न भीरूणां दृष्टयः शरवृष्टयः॥

वह वस्तुतः स्वयं भीरु होते हुये दूसरों को भीरु बता रहे हैं।

सच्चा अभयपन वह है जो आत्मा को संसार के बड़ से बड़े प्रलोभनों से युद्ध करने के लिये उद्यत करता है और यह अभयपन ईश्वर से भय करने से ही प्राप्त होता है। जिसको ईश्वर का भय है उसे संसार में किसका भय है ? और जिसे ईश्वर का भय नहीं वह सृष्टि की तुच्छ से तुच्छ वस्तु से डरेगा। आखें खोल कर देखो और राजा तथा रंक दोनों के जीवन हम को यही उपदेश करते हैं। जिन्होंने ईश्वर से भय नहीं किया और उसके नियमों का उल्लङ्घन करते रहे वह अन्त में बड़ी शोचनीय अवस्था को प्राप्त हो गये।

इसलिये ईश्वर के भय को साधारण भय से तुलना करना भूल है। हम ऊपर कह चुके हैं कि निकृष्ट मनुष्यों को पाप कर्म से बचने के लिये भय बहुत उपयोगी है। परन्तु यही भय शनैः २ मनुष्य को प्रेम की ओर भी लाता है। जो मनुष्य ईश्वर से डरते हैं वह कुछ दिनों में उससे प्रेम भी करने लगते हैं और भय का निकृष्ट भाव प्रेम के उत्कृष्ट भाव में परिवर्त्तित हो जाता है। ईश्वर से डरना और ईश्वर से प्रेम करना यह दोनों अन्त में मिल जाते हैं।

लोग कहते हैं कि प्रेम मनुष्य का उत्कृष्टतम भाव है। प्रेम से पूर्ण हृदय अमूल्य रत्नों का कोष है जिसके सामने संसार की समस्त विभूति पत्थर के तुल्य हैं। परन्तु इस उत्कृष्टतम भाव का उत्कृष्टतम विकास उसी समय होता है जब आत्मा परमात्मा के प्रेम में मग्न होता है। जब उसे न केवल अणु अणु और परमाणु परमाणु में ही अपने प्यारे के दर्शन होते हैं किन्तु अपने निज आत्मा में वह अपार प्रकाश की विभूति को देखता है। उस समय उसे अपनी सुध बुध भी नहीं रहती। उसी समय के लिये उपनिषत् कहती है :—

ब्रह्म विद् ब्रह्म एव भवति*

अर्थात् ब्रह्मज्ञ ब्रह्म हो जाता है।

वस्तुत: ईश्वर-प्रेम के अतिरिक्त मनुष्य को सदाचारी रखने के लिये और किसी वस्तु की आवश्यकता नहीं, सदाचार के जो कुछ नियम बनाये जा सकते हैं वह सब ईश्वर-प्रेम के अन्तर्गत आ जाते हैं। यदि मिल या अन्य लाभ-वादियों के कथनानुसार हम इस बात को मान लें कि "अधिक से अधिक मनुष्यों का अधिक से अधिक सुख" सम्पादन करना ही मनुष्य का कर्त्तव्य है तो भी इसके लिये ईश्वर-प्रेम से अधिक और क्या साधन हो सकता है? जिसको मुझसे प्रेम है उसको मेरे बच्चों से अवश्य प्रेम होगा।

---

*इसका यह अर्थ नहीं है कि जीवात्मा ब्रह्म बन जाता है। ब्रह्म बनने वाली वस्तु नहीं है। जो बना करती है वह ब्रह्म नहीं है। यहाँ वस्तुतः जीव की अवस्था का वर्णन किया है। ब्रह्मज्ञ ब्रह्म के विचार

इसी दृष्टान्त के अनुकूल जिसको ईश्वर से प्रेम है उस को मनुष्य मात्र से अवश्य प्रेम होगा क्योंकि वह जानता है कि समस्त प्राणी उसी परमपिता परमात्मा के पुत्र हैं। मिल तो कहते हैं कि अधिक से अधिक मनुष्यों का सुख सम्पादन करना ही मनुष्य का कर्त्तव्य है। उनका विचार मनुष्य से आगे जा ही नहीं सकता। परन्तु ईश्वर प्रेम की गति आगे चलती है। क्या केवल मनुष्य ही ईश्वर के पुत्र हैं? क्या अन्य प्राणी नहीं? क्या मनुष्य के सुख के लिये अन्य प्राणियों को दुःख दिया जा सकता है? कदापि नहीं। आस्तिक का, सच्चे आस्तिक का यह साहस कहाँ कि वह किसी प्राणी को दुःख दे सके? उसके हृदय से तो यही निकलेगा कि

मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे।

मैं सब प्राणियों को मित्र की दृष्टि से देखता हूं। भाई का भाई से सीधा सम्बन्ध नहीं किन्तु अपने पितृजन के द्वारा सम्बन्ध है। इसी प्रकार मनुष्य का अन्य मनुष्यों तथा प्राणियों से सम्बन्ध और निकटस्थ सम्बन्ध स्थापित करने वाला यदि कोई दृढ़तम सूत्र है तो आस्तिकता है।

कुछ लोग शायद आक्षेप करें कि यदि आस्तिकता वस्तुतः ऐसी सार्वजनिक संजीवन बूटी है तो आस्तिक लोगों को दूसरे मनुष्यों के साथ क्रूरता करते क्यों पाते हैं? क्यों ऐसा होता है कि जो मनुष्य अत्यन्त भक्ति ईश्वर

में इतना मग्न हो जाता है कि उसको अपना कुछ विचार नहीं रहता। उसका मन सर्वथा ब्रह्म के ही विचारों से परिपूर्ण होता है।

की करता है वही सब से अधिक स्वार्थी कपटी तथा क्रूर भी होता है ?

इस आक्षेप में कुछ तो अत्युक्ति है और कुछ भ्रम। ऐसा तो नहीं देखा गया कि जो कोई ईश्वर का जितना भक्त हो उतना ही वह स्वार्थी और कपटी भी हो। वस्तुतः हम ईश्वर भक्तों को ही संसार की भिन्न २ संस्थाओं में सेवा करते पाते हैं। हां कभी कभी ऐसा होता है कि अपने को आस्तिक कहलाने वाले बहुत सी नीचता करते पाये जाते हैं। परन्तु इसका मुख्य कारण आस्तिकता नहीं किन्तु पाखण्ड है। संसार में बहुरूपिये बहुत हैं। वह अनेक रूप धारण कर के संसार को ठगना चाहते हैं। कहीं प्रतिष्ठित पुरुषों का रूप रखते हैं और कहीं आस्तिकों और ईश्वर-उपासकों का। परन्तु बहुरूपियों के दृष्टान्तों से हम ठीक परिणाम तक नहीं पहुंच सकते।

इसके अतिरिक्त दूसरी बात यह है कि अन्य गुणों के समान आस्तिकता का भी विकास होता है। आस्तिकता 'छूमन्तर' या जादू की लड़की से उत्पन्न नहीं हो जाती। जिस प्रकार शनैः २ कक्षा क्रम से पढ़ते पढ़ते ही मनुष्य को गणित, भूगोल तथा अन्य विद्यायें आती हैं उसी प्रकार ईश्वर-विश्वास भी क्रमशः अभ्यास तथा अध्ययन से आता है। इसके लिये गुरु चाहिये, परिस्थिति चाहिये और शिष्य का शुद्ध आत्मा चाहिये। ईश्वर-विश्वास आत्मा की उच्चतम अवस्था का नाम है। हम प्रायः लोगों को ईश्वर-विश्वास की भिन्न २ श्रेणियों में पाते हैं। उनमें कुछ कपटी भी हैं जो चोरी की गाउन (चोले) पहन कर ग्रेजुएट (स्नातक)

बन गये हैं। परन्तु कुछ ऐसे भी हैं जिनमें अभ्यास की कमी है और सामाजिक परिस्थिति का वह सामना नहीं कर सकते। कुछ ऐसे भी हैं जो सच्चे गुरु और सच्चे सिद्धान्तों के अभाव की दशा में कुछ रस्मों या पाखण्ड को ही आस्तिकता समझे हुये हैं। वह पत्थर को हीरा समझे हुये हैं अतः पत्थर का ही मूल्य उनके हाथ लगता है। हीरे का नहीं।

परन्तु इससे आस्तिकता की उपयोगिता में किसी प्रकार की कमी नहीं हो जाती। वस्तुतः उन साधारण आस्तिकों के जीवन भी जिनमें हमको इतनी त्रुटियाँ मिलती हैं अत्यन्त नीच होते यदि उनको आस्तिकता तथा ईश्वर-विश्वास का कुछ भी प्रकाश न मिलता।

ईश्वर-विश्वास मनुष्य को उस समय सत्य मार्ग पर दृढ़ होने के लिये बल देता है जब संसार के अनेक प्रलोभन तथा अनेक भय उसे झूठ बोलने के लिये प्रेरणा करते हैं। ईश्वर-विश्वासी मनुष्य फांसी पाने से भी नहीं डरता और हर्ष-पूर्वक अपने कर्त्तव्य का पालन करता है क्योंकि वह समझता है कि मृत्यु के समय भी ईश्वर का करुणामय हाथ उसके ऊपर है। ईश्वर-विश्वास मनुष्य को सच्ची क्षमा सिखाता है। ईश्वर विश्वास मनुष्य को दम, शम तथा इन्द्रिय निग्रह के अभ्यास में सहायता देता है। ईश्वर विश्वास उसको पापाचरण से रोकता है। वस्तुतः यदि विचार किया जाय तो ईश्वर-विश्वास एक ऐसा पारस मणि है जिसके छूने से ही मनुष्य का जीवन कुछ का कुछ बन जाता है।

लोग कहेंगे कि क्या बिना ईश्वर-विश्वास के हम इन गुणों को धारण नहीं कर सकते ? मैं कहता हूं "नहीं। कदापि नहीं।" कम से कम इतिहास या दृष्टान्तों का इस विषय में अभाव है और यह सिद्ध भी नहीं हो सकता। वस्तुतः आदि सृष्टि से अब तक ईश्वर-विश्वास किसी न किसी रूप में मनुष्यमात्र में प्रचलित रहा है। इसी के आधार पर लोगों ने आचार-शास्त्र की नींव रक्खी है। और इसके आश्रय से वह नियम संसार के वायुमण्डल में प्रविष्ट हो रहे हैं। उनका येन केन प्रकारेण प्रत्येक मनुष्य के ऊपर प्रभाव है। इस लिये यदि कोई मनुष्य ईश्वर पर विश्वास नहीं भी करता तो भी वह नियम उसे एक सीमा तक सदाचार के नियमों को उल्लङ्घन करने नहीं देते और इस प्रकार पाप एक सीमा से बाहर जाने नहीं पाते। अब यदि नास्तिक लोग ऐसे स्थान पर पहुंच सकें जहां ईश्वर-विश्वास का लवलेश भी नहीं है और वह अपने पुराने संस्कारों को भी एक प्रकार से धो डालें तब शायद इस बात का अनुमान किया जा सकता है कि ईश्वर-विश्वास के बिना मनुष्य सदाचारी रह सकता है या नहीं। परन्तु यह कैसे होगा ? मैं यह जानना चाहता हूँ कि पृथ्वी की आकर्षण-शक्ति के बिना भी मैं चल फिर सकता हूं या नहीं। इसके लिये मुझे उन स्थानों पर जाना होगा जहाँ आकर्षणशक्ति का सर्वथा अभाव हो। क्या ऐसा अनुमान संभव है ? कदापि नहीं। जब सम्भावना नहीं तो व्यर्थ कल्पना ही क्यों करनी ? वैज्ञानिक प्रयोगों में जब कल्पना की जाती है तो उसका कोई कारण अवश्य होता है।

फिर एक बात और है। सदाचार से क्या अर्थ लेते हो? यही न कि मनुष्य झूठ न बोले, किसी को त्रास न दे, चोरी आदि न करे? थोड़ी देर के लिये मान भी लिया जाय कि केवल सामाजिक आवश्यकतायें मनुष्य को इन नियमों के पालने के लिये प्रेरक हो सकती हैं। परन्तु फिर भी तो प्रेरणा बाहर से ही आयेगी। और इस सदाचार की एक सीमा होगी। यदि सदाचार के लिये आत्म-शान्ति (Self-satisfaction) भी आवश्यक है तो उसकी प्राप्ति ऊपरी बातों से न होगी। परम सुख या परम आनन्द से मनुष्य उस समय तक वंचित ही रहेगा जब तक वह अपने में एक महती सत्ता का प्रकाश नहीं देखता। चेतन मनुष्य जड़ वस्तुओं से केवल शारीरिक दुःखों से बच सकता है और शारीरिक सुखों को ही प्राप्ति कर सकता है। परन्तु शारीरिक सुख कितने क्षणभंगुर हैं? इनका पता प्रत्येक भोग विलास में लिप्त पुरुष को शीघ्र ही लग जाता है।

पीत्वा पीत्वा पुनः पीत्वा यावत् पतति भूतले।

से भी तो तृप्ति नहीं होती, विलास-प्रियता की अग्नि प्रत्येक आहुति से और अधिक प्रचण्ड होती है और मनुष्य का आत्मा इसमें दग्ध हो जाता है। बाह्य विषय सुख देने के लिये नहीं किन्तु शारीरिक साधारण आवश्यकताओं की पूर्ति-मात्र के लिये हैं। भूख लगे खाना खालो, जिससे शरीर काम करने के योग्य बना रहे। परन्तु यदि यह समझा कि जीवन का उद्देश्य ही खाना है तो खाने से भी बहुत जल्दी दुःख पहुंचने लगता है और मनुष्य उन सुखों से वंचित रह

जाता है जो अति सूक्ष्म और इसलिये अधिक रोचक हैं। मिल ने अपनी पुस्तक यूटीलिटेरियेनिज़्म (Utilitarian-ism) में एक प्रश्न उपस्थित किया है कि यदि सुख चाहना ही मनुष्य का उद्देश्य हो तो उसमें और सुअर में क्या भेद रहेगा? क्योंकि जो आनन्द सुअर को कीचड़ में लोटने से होता है उससे अधिक आनन्द एक राजा को कोमल शय्या पर लेटने से नहीं होता। फिर वही उसका उत्तर देते हैं कि आनन्द आनन्द में भेद है। सुअर का आनन्द सुअर का आनन्द है और मनुष्य का आनन्द मनुष्य का आनन्द है। सुअर में वह शक्ति ही नहीं जो सूक्ष्मतर आनन्द का अनुभव कर सके। मिल का इतना कथन तो ठीक है। परन्तु यदि मिल महोदय अपनी इस युक्ति को और आगे बढ़ाते और आनन्द की उत्कृष्टतम तथा सूक्ष्मतम अवस्था का विचार कर सकते तो उनको पता चलता कि जिस प्रकार मनुष्य का आनन्द सुअर के आनन्द से उच्च कोटि का है इसी प्रकार विषयों में लिप्त मनुष्य के आनन्द से ईश्वर-विश्वासी का आनन्द कई गुना उच्च कोटि का है। एक गणितज्ञ को जो सुख गणित सम्बन्धी प्रश्नों के समाधान में आता है वह लड्डू पेड़े में नहीं आता। परन्तु एक बालक जिसे उस सूक्ष्म आनन्द का कुछ भी ज्ञान नहीं यह नहीं समझ सकता कि लड्डू पेड़े से अधिक मीठी वस्तु भी कोई हो सकती है। यही हाल बाल-बुद्धि मनुष्यों का है। वह तो इन्द्रियों की तृप्ति को ही सुखों का सार भूत समझते हैं। और यह इन्द्रियां मनुष्य को उस समय तक नाच नचाती रहती हैं जब तक चेतन जीव अपने को उनके दासत्व में रखता है। पराई

उंगली के संकेत पर नाचने से न सुख ही मिलता है न दुख की निवृति होती है, इसीलिये वेद में कहा है।

यस्तुसर्वाणि भूतानि आत्मन्देवानुपश्यति। सर्वभूतेपुचात्मानं ततो न विचिकित्सति ॥ ६ । यस्मिन्सर्वाणिभूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः। तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः ॥ ७ ॥ (यजु अ० ४०)

अर्थात् जो समस्त सृष्टि को एक परमात्मा में व्याप्त देखता है उसको किसी प्रकार का मोह या शोक नहीं हो सकता।

यही कारण है कि हम ईश्वर-भक्तों को संसार के सुखों पर लात मारते तथा अपने कर्त्तव्य के पालन करने में किसी का भय न करते हुये देखते हैं। लोग उनको मूर्ख कहें, इसकी उनको चिन्ता नहीं। परन्तु उनका हृदय प्रेम से पूर्ण है। यह वस्तुतः सदाचार का सच्चा आधार है।

कुछ लोगों का आक्षेप है कि जब ईश्वर निराचारी (un-moral) है तो वह हमको सदाचार कैसे सिखा सकता है? निराचारी का अर्थ शायद पाठकगण समझ गये होंगे। एक सदाचार होता है दूसरा दुराचार, यह दोनों सापेक्षिक शब्द हैं। मनुष्य या तो सदाचारी होगा अथवा दुराचारी, परन्तु कुत्ते, बिल्ली आदि प्राणियों में सदाचार दुराचार का प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि उनका काम बुद्धि पूर्वक नहीं होता। इसलिये उन प्राणियों की गणना आचारात्मक प्राणियों (moral beings) में नहीं है। उनको न सदाचारी कह सकते हैं न दुराचारी। इसी प्रकार कुछ लोगों का कहना है कि ईश्वर के सम्बन्ध में भी आचार सम्बन्धी प्रश्न नहीं उठता। वह भी आचारात्मक नहीं अर्थात् निराचारी (Unmoral

being) है। क्योंकि वह एक ही प्रकार के काम करता है उन से विपरीत नहीं कर सकता। इस प्रकार यह लोग कहते हैं कि मनुष्य को आचार वह सिखलाये जो स्वयं आचार युक्त हो। निराचारी सत्ता मनुष्य को सदाचारी कैसे बना सकती है ?

हमारा उत्तर यह है कि जिस प्रकार पत्थर या कुत्ते बिल्ली आदि निराचारी हैं उसी प्रकार ईश्वर नहीं है। वस्तुतः हम जिस अर्थ में एक मनुष्य को सदाचारी कह सकते हैं उसी अर्थ में ईश्वर को भी सदाचारी कहा जा सकता है। ईश्वर सत् है अत एव उसका आचार भी सदाचार कहलायेगा। पत्थर आदि जड़ पदार्थ और कुत्ते बिल्ली आदि प्राणी झूठ नहीं बोलते। चोरी नहीं करते। परन्तु यह केवल निषेधात्मक सदाचार है। बुद्धि पूर्वक नहीं है। ईश्वर के सभी काम बुद्धिपूर्वक होते हैं। अतः केवल इसलिये उसको निराचारी नहीं कह सकते कि वह दुराचार नहीं कर सकता। जिस प्रकार सत्पुरुषों के आचार मनुष्य मात्र के अनुकरणीय हैं, इसी प्रकार ईश्वर के दया, प्रेम परोपकार तथा न्याय भी मनुष्यों को अवश्य अनुकरणीय हैं। ईश्वर को निराचारी (Unmoral) कह कर उस से सदाचार को भिन्न करना केवल वाग्जाल है। इसका कोई वास्तविक अर्थ नहीं। आर.एस. आर्मस्ट्रॉंग ने सच कहा है :—

" Goodness is the life of harmony with the eternal conditions which spring from the being of God ; and Blessedness (the pure and perfect

happiness) is the feeling of that harmony in the life." (God and the Soul p. 141).

कि "उन सत् नियमों के अनुकूल जीवन व्यतीत करना ही सदाचार है जो सत्पुरुष अर्थात् ईश्वर की ओर से हैं और इस अनुकूलता का अनुभव करना ही परमानन्द है"।

कुछ लोगों का कथन है कि आस्तिक लोगों ने ईश्वर के ऐसे गुण और कर्म वर्णन किये हैं कि हम उनको सदाचार की कोटि में नहीं रख सकते; और कोई सदाचारी मनुष्य उनको मानने के लिये तैय्यार न होगा। फिर यह कैसे कहा जाय कि ईश्वर के कर्मों का अनुकरण करके हम सदाचारी बन जायंगे। मिल महोदय ही लिखते हैं :—

" Convince me of it, and I will bear my fate as I may. But when I am told that I must believe this and at the same time call this being by the names which express or affirm the highest human morality, I say in plain terms that I will not. Whatever power such a being may have over me, there is one thing which he shall not do, he shall not compel me to worship him. I will call no being good, who is not what I mean when I apply that epithet to my fellow-creatures; and if such a being can sentence me to hell for not so calling him, to hell I will go."

मिल के कहने का तात्पर्य यह है कि यदि उनको ईश्वर के अस्तित्व का प्रमाण मिल जाय तो वह इसको मान लेगें।

परन्तु वह उसको उन विशेषणों से पुकारने के लिये तैय्यार नहीं हैं जो एक सदाचारी मनुष्य के लिये प्रयुक्त किये जाते हैं चाहे ईश्वर उनको घोर नरक में ही क्यों न डाल दे। अर्थात् वह नरक की यातनायें भी सहन करने को उद्यत हैं परन्तु क्रूर सत्ता को दयालु कह कर झूठ बोलने के लिये उद्यत नहीं।

वस्तुतः यह एक वीरता-युक्त वाक्य है और इसके कहने में मिल अपने लाभवाद की भी परवाह नहीं करते। घोर से घोर दुःख मिलने पर भी वह सत्यवादी बनना चाहते हैं। इस सत्यवाद की प्रेरणा उनको किस ओर से हो रही है? लाभ-वाद (Utilitarianism) और सुखवाद (Hedonism) जिस के वह एक कट्टर प्रचारक हैं उनको दुःख सहन करके सत्य बोलने के लिये कभी प्रेरणा नहीं करेगा। मैं तो समझता हूं कि यह प्रेरणा उसी शक्ति की ओर से हो रही है जिसको स्वामी दयानन्द ईश्वर की आवाज़ कह कर पुकारते हैं। वस्तुतः इस अपेक्षा से देखें तो सदाचार की कसौटी हमारे आत्मा के भीतर ही उपस्थित है। आत्माओं का आत्मा प्रत्येक आत्मा को उपदेश दे रहा है कि पाप से बचो और पुण्य में निष्ठा रक्खो चाहें तुम्हें कितने ही दुःख क्यों न सहन करने पड़ें। जिस सत्ता पर विश्वास करने के लिये मिल के पास कोई प्रमाण नहीं है वही सत्ता मिल को उनके सिद्धान्त के विरुद्ध भी उपदेश दे रही है और मिल सुन रहे हैं कि नरक की यातना भोगना अच्छा है परन्तु झूठ बोलना अच्छा नहीं है। डाक्टर वार्ड (Dr. Ward) ने ठीक ही कहा था कि

"When a crucial case really comes before

him, his better nature compels him to decide sternly, premptorily, effusively, indignantly against his own doctrine."

अर्थात् जब समय आता है तो मिल की उच्च प्रकृतिः उनको अपने मत के विरुद्ध भी इतने बल-पूर्वक निश्चय करने के लिये बाधित करती है।

कैसी आनन्द की बात होती यदि कहीं मिल को यह पता लग जाता कि यह उपदेश, यह सत्य बोलने का उपदेश, यह क्रूर शक्तियों से सामना करने का उपदेश, यह कठिन दुःख उठाते हुये भी सत्वपरायणता का उपदेश, जिस पर मुग्ध हो कर उसकी लेखनी से ऐसे उच्च भावों का उद्गार निकल रहा है उस सत्ता की आवाज़ है जिसने वेदों में कहा थाः—

अश्रद्धामनृते दधाच्छ्रद्धां सत्ये प्रजापतिः।

कि मनुष्य को झूठ में अश्रद्धा और सत्य में श्रद्धा करनी चाहिये।

परन्तु यह संभव नहीं है। यह उस समय तक सम्भव नहीं है जब तक संसार में सच्ची आस्तिकता का प्रचार नहीं होता। कितने धर्म हैं जिनमें ईश्वर को अत्यन्त क्रूर और दुराचरी तक माना गया है। तुलसीदास जी रामायण में लिखते हैं

विघन मनावहिं—देवकुचाली। (अयोध्या काण्ड)

कौन सा पाप है जिसको पुराणों में देवों से सम्बद्ध नहीं किया गया? कौन सी बुराई है जो देवते नहीं करते? ईर्ष्या, डाह, व्यभिचार, झूठ, मक्कारी सभी की गाथाओं से पुराण

तथा पुराण सदृश अन्य धर्म ग्रन्थ भरे पड़े हैं। यूनान के इलियड और ओडेसी को पढ़िये। वहां भी देव और देवियों की इसी प्रकार की करतूतें पढ़ने में आती हैं। यूनान की देव माला पर विचार कीजिये, नहीं नहीं बड़े बड़े धर्मों के धर्म-ग्रन्थ बाइबिल और कुरान को पढ़िये। जो कुछ इनमें ईश्वर के विषय में कहा गया है उससे तार्किक मनुष्य के हृदय में आस्तिकता की ओर से उपरति हो ही जाती है। और जब एक बार नास्तिकता का बीज हृदय में बो दिया गया तो उसके अनेक प्रकार से पल्लवित तथा पुष्पित होने में कोई देर नहीं लगती।

आवश्यकता इस बात की है कि हम ईश्वर के सच्चे स्वरूप को देख सकें। उसी समय हमारा हृदय धर्म के सच्चे भावों से प्रपूरित होगा और उसी समय हम सच्चे सदाचारी बन सकेंगे।

लोगों के इस कथन में कोई सार नहीं कि सच्चे आस्तिक दुःख पाते हैं और नास्तिकों को सुख मिलता है। सुख और दुःख और चीज़ है और सुख तथा दुःख के आडम्बर और चीज़। साधारण मनुष्य केवल ऊपरी आडम्बरों को देख कर ही सुख या दुःख की कल्पना कर बैठते हैं। वह समझते हैं कि महलों में रहने वाले सब सुखी हैं और क़ैद में पड़े हुये सब दुःखी। परन्तु जो सुख तथा दुःख के वास्तविक स्वरूप को समझते हैं वह कभी ऐसी भूल नहीं करते। सुख और दुःख आत्मा के भीतर से आता है बाहर से नहीं। समस्त प्रकृति के वैभव को प्राप्त करके भी मनुष्य का हृदय महा

दुःखी हो सकता है और कारागार में पड़ कर भी आत्मा को सुख की प्राप्ति हो सकती है। जो नास्तिक है उसको तो वस्तुतः यह भी पता नहीं कि सुख है क्या ? वह तो चारवाकों के समान साधारण सुखों की सामग्री को ही सुख समझा हुआ है। जिस समय उस पर आपत्ति आवेगी, जिस समय उसको किसी मानवी-शक्ति का सहारा नहीं मिलेगा, जिस समय उसको धैर्य बंधाने के लिये कोई न होगा उस समय उसके सामने अंधकार ही अंधकार तो होगा, उस समय कौन उसको सान्त्वना देगा ? कौन उस तप्त हृदय से कहेगा कि "घबराओ मत मैं तुम्हारे साथ हूँ"? ऐसे मनुष्य के लिये तो वस्तुतः मध्याह्न भी आधी रात के तुल्य है। वह अपने बाहुबल पर भरोसा रखता है परन्तु एक घड़ी ऐसी आती है जब यह बाहु भी मनुष्य को धोखा दे बैठते हैं। इससे तुलना करो उस मनुष्य की जो ईश्वर का विश्वासी है। निर्जन बन हो, आधी रात हो, समुद्र हो, तूफ़ान उठ रहा हो, कारागार हो, समस्त शरीर रोग ग्रसित हो। अग्निकुण्ड हो, चाहे कैसे ही कष्ट क्यों न हों, ईश्वर का ध्यान आया नहीं उसके आनन्द का स्रोत बहा नहीं। जलते हुये शरीर के होठों पर भी एक बार हर्ष और मुस्काराहट के चिह्न प्रकाशित हो जाते हैं। माता की गोद में रोगी बालक को भी चैन मिल ही जाता है। फिर जगदम्बा की गोद में बैठ कर, उसकी लौरियां सुन कर उसका हाथ अपने सिर पर पाकर कौन सा संतप्त हृदय होगा जो अपने दुःखों को न भूल जाय और जिसमें आह्लाद की किरण का प्रकाश न हो सके।

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्॥

जो लोग नित्यों में नित्य और चेतनों में चेतन परमात्मा को अपने हृदय में देख सकते हैं उन्हीं को वास्तविक सुख मिलता है अन्य को नहीं।

परन्तु कुछ लोग हैं जो इस वास्तविक आनन्द को भ्रम समझते हैं उनका कथन है

"You speak of the starry heavens restoring your soul peace and consciousness of God. I have found a cup of coffee have the like effect. Do you not think that a dose of opium or hashish if of right amount, would open up heaven to you."

कि तुम तारों भरे आकाश को देखकर जो आनन्द और ईश्वर-विचार प्राप्त करते हो मुझे यह आनन्द काफी के एक प्याले में मिल जाता है। क्या पर्य्याप्त परिमाण में अफीम या नशीली वस्तु के खाने से स्वर्ग का द्वार नहीं खुल जाता? शायद ऐसे ही महानुभावों ने

पीत्वा पीत्वा पुनःपीत्वा यावत्पतति भूतले

का सिद्धान्त निकाला था। उनके विचार में बेहोशी का नाम आनन्द है। यदि ज्ञान का तिरोभाव ही आनन्द हो तो पाषाण, काष्ठ आदि हम से कई गुने आनन्दी होंगे। क्योंकि अफ़ीमी की पीनक तो कभी खुल भी सकती है परन्तु मेरी मेज़ और कुर्सी की किसी अवस्था में भी दुःख

का भान नहीं हो सकता। कितने मूर्ख हैं वह लोग जो दुःख से बचने के लिये नशीली वस्तुओं का प्रयोग करते हैं। मुझे याद है कि एक महाशय को जब कोई मानसिक व्यथा सताती थी तो वह एक बोतल ब्राण्डी अपने पेट में उड़ेल लेते थे। वह समझते थे कि शराब एक तोप है जिसको देखकर दुःख दूर भाग जाता है। परन्तु दुःख कभी कभी उनके नशे को भी दूर भगा देता था। यदि शराब में दुःख दूर करने की शक्ति होती तो शराब की दुकान से तो दुःख कोसों दुर रहा करता। परन्तु शराबियों से पूछो कि दुःख किस प्रकार अपनी समस्त सेना के साथ उन पर आक्रमण करता है और उनका पीछा नहीं छोड़ता।

वास्तविक दुःखनिवृत्ति तो तभी होती है जब हमारे हृदय की आंख खुल जाती है।

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वं संशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरं॥

बारहवां अध्याय

ईश्वर प्राप्ति के साधन

श्वर प्रत्येक स्थान और काल में व्यापक होने से प्रत्येक जीव को स्वभावतः ही प्राप्त है। यजुर्वेद में लिखा है।

> तदेजति तन्नैजति तद् दूरे तद्वन्तिके।
> तदन्तरस्य सर्वस्य तदुसर्वस्यास्य वाह्यतः ॥
> (४०।५)

अर्थात् ईश्वर अचल है परन्तु सर्व संसार को चलाता है। वह दूर भी है और निकट भी है। वह सब के भीतर है और बाहर भी।

परन्तु सब के पास होने पर भी वह यथार्थ में दूर है अर्थात् यद्यपि काल और स्थान की अपेक्षा सब के निकट है तथापि सब को प्राप्त नहीं है अर्थात् उसका सब को अनुभव नहीं होता।

यह अनुभव कैसे हो इसी का इस अध्याय में उल्लेख किया जायगा।

ईश्वर प्राप्ति के तीन साधन बताये गये हैं। कर्म, उपासना और ज्ञान। यह तीनों मिलकर ईश्वर की प्राप्ति कराते हैं अकेले नहीं। वस्तुतः जिस प्रकार दाहिनी आंख और बांई आंख दोनों मिलकर देखती हैं और देखने के लिये दोनों आंखों का

होना आवश्यक है इसी प्रकार अकेले कर्म या अकेली उपासना या अकेले ज्ञान से ईश्वर की प्राप्ति नहीं होती। यह तीनों साधन साथ साथ प्रयोग में लाने चाहियें। अलग अलग नहीं। अर्थात् कोई यह नहीं कह सकता कि पहले हम कर्म कर लें फिर उपासना और फिर ज्ञान का अवलम्बन करें। इन तीनों का साथ साथ अवलम्बन करना पड़ेगा इसी का नाम ईश्वर-भक्ति है। और इसी से अन्त में मोक्ष की प्राप्ति होती है।

कर्म

पहले हम कर्म को लेते हैं जो ईश्वर भक्ति का पहला अङ्ग है। हम कर्म और फल की विवेचना करते हुये बता चुके हैं कि मनुष्य को अच्छे कर्म करते रहना चाहिये। वेद में बताया है।

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छत ꣳ समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥

अर्थात् मनुष्य को आयु पर्य्यन्त उत्तम कर्म ही करते रहना चाहिये। यही उपाय है जिससे वह कर्म के बंधन में नहीं फंसने पाता।

बहुत से लोग समझते हैं कि वेदों में कर्म की अवहेलना की गई है। यह भ्रम इनको ऐसे वाक्यों से हो जाता है जैसे।

ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः

अर्थात् ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं होती। परन्तु वह यह नहीं समझते कि बिना कर्म के ज्ञान भी नहीं होता। इसी भ्रम में पड़े हुये बहुत से अपने को वेदान्ती कहने वाले चिमटा हिलाते इधर उधर फिरा करते हैं और कर्म नहीं करते।

यदि हम अपने शरीर पर ही दृष्टि डालें तो पता चलता है कि इसमें ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ दोनों हैं। आंख पैरों को चलने में सहायता देनी है और पैर आंख को ऐसे स्थान पर ले जाते हैं जहाँ वह उत्तम उत्तम दृश्यों को देखकर अधिक ज्ञान की प्राप्ति कर सके। इस प्रकार ज्ञान और कर्म दोनों मिल कर एक दूसरे की उन्नति के कारण होते हैं। कभी कर्म पहले होता है कभी ज्ञान पहले। कभी तो ज्ञान के द्वारा हम कर्म करते हैं। कभी कर्म के द्वारा हमको ज्ञान को प्राप्ति होती है।

कुछ लोगों का विचार है कि सांसारिक कार्य्य करते हुये हम ईश्वर की प्राप्ति नहीं कर सकते। अतः वह संसार छोड़ कर ईश्वर की खोज करते हैं मानों ईश्वर संसार में नहीं किन्तु इसके बाहर किसी स्थान में है। कुछ लोग समझते हैं कि जब तक हम कर्म करते रहेंगे हमको ईश्वर की भक्ति करने का अवसर न मिलेगा। परन्तु वेद इनका विरोध करता है। वेद का उपदेश है कि बिना कर्म किये हुये हमारा कल्याण हो ही नहीं सकता।

जिस समय से बच्चा उत्पन्न होता है उसी समय से उसका कर्म करना आरम्भ हो जाता है। यद्यपि वह स्वयं उन कर्मों का उत्तर दाता नहीं हो सकता जो वह ऐसी छोटी अवस्था में करता है जब उसकी बुद्धि विकसित नहीं होती। तो भी उसके माता पिता तथा परिजनों के कर्मों का प्रभाव उसके आत्मा पर पड़ना आरम्भ हो जाता है। इसी-लिये वैदिक संस्कारों के करने का उपदेश है। यज्ञ इत्यादि इसीलिये किये जाते हैं। जिससे बच्चे के आत्मा पर अच्छे प्रभाव पड़ें। यह शुभ संस्कार ही मनुष्य को आगामी जीवन

में पुण्य करने तथा पाप से बचने के योग्य बनाते हैं। और यही अन्त में उसको ईश्वर की प्राप्ति कराते हैं। यहां हमने 'अन्त में' शब्द प्रयुक्त किया है जिससे हमारा तात्पर्य मुक्ति से है। परन्तु यह नहीं समझना चाहिये कि मुक्ति से पहले इन कर्मों द्वारा ईश्वर को प्राप्ति नहीं होती। वस्तुतः जिस समय से अच्छे संस्कार आरम्भ होते हैं उसी समय से ईश्वर-का अनुभव भी होना आरम्भ हो जाता है। ईश्वर का अनुभव वस्तुतः भोजन के समान है जो शरीर को पुष्टि भी देता है और अधिक भोजन को ग्रहण करने की शक्ति भी प्रदान करता है। अर्थात् अच्छे संस्कार पड़ते ही मनुष्य को ईश्वर का अनुभव होने लगता है और यह ईश्वर का अनुभव मनुष्य को पुण्य कर्म करने में सहायक होता है। पुण्य कर्म अपनी बारी से ईश्वर के अनुभव को अधिक करते हैं। यह अधिक अनुभव अधिक पुण्य कर्मों में सहायता करता है इस प्रकार अन्त को मोक्ष हो जाता है। वेद में कहा है :—

व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षया प्नोति दक्षिणाम्।
दक्षिणया श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते ॥

अर्थात् जब अच्छे कर्म करने का व्रत मनुष्य करता है तो उसको उस कर्म के करने का अधिकार प्राप्त होता है। अधिकार की प्राप्ति से योग्यता मिलती है और योग्यता के लाभ से श्रद्धा अर्थात् उत्साह उत्पन्न होता है। श्रद्धा से सत्य का लाभ होता है।

श्री शंकराचार्य वेदान्त दर्शन के पहले सूत्र की यय [illegible]

करते हुये ब्रह्म जिज्ञासा के लिये चार बातें आवश्यक बताते हैं:—

(१) नित्यानित्य वस्तुविवेकः—अर्थात् यह निश्चय हो जाय कि कौन सी वस्तु नित्य है और कौन सी अनित्य।

(२) इहामुत्रार्थं भोगविरागः—अर्थात् लौकिक और पार-लौकिक सुखों के भोग से वैराग्य का उत्पन्न होना।

(३) शमदमादि साधन सम्पत्:—अर्थात् (शमदमादि रूपस्य साधनस्य संपत् प्रकर्ष इति भामती) शम दम आदि मन तथा इद्रियों को वश में करना।

(४) मुमुक्षत्वं:—अर्थात् मोक्ष की इच्छा।

परन्तु यह नहीं समझना चाहिये कि बिना ईश्वर-भक्ति या ब्रह्म जिज्ञासा के उत्पन्न हुये ही नित्यानित्य का विवेक या शमदमादि साधन सम्पत् आदि साधनों का सम्पादन कोई कर सकेगा। नित्य और अनित्य का विवेक तो तभी होगा जब ईश्वर को मनुष्य पहचानने लगेगा। वस्तुतः नित्य और अनित्य का विवेक तथा ईश्वर का ज्ञान मनुष्य को साथ साथ ही होता है। जैसे दीपक से हम दीपक को भी देखते हैं और अन्य वस्तुओं को भी। वही सूर्य्य का प्रकाश हम को सूर्य्य का भी पता देता है और अन्य वस्तुओं का भी। इसी प्रकार ब्रह्म ज्ञान हमको ब्रह्म तथा अन्य वस्तुओं के विवेक में भी सहायक होता है। इसी प्रकार ब्रह्म के ज्ञान की इच्छा के बिना न तो भोगों से वैराग हो सकता है न इन्द्रियों पर ही दमन हो सकता है। इसलिये यही कहना ठीक होगा कि यह सब साधन और साध्य का काम करते हैं। बच्चा आंख खोलते ही सूर्य्य के प्रकाश को ग्रहण करने लगता है।

परन्तु प्रचण्ड प्रकाश के ग्रहण करने की उसमें शक्ति नहीं। सूर्य के कोमल से कोमल प्रकाश अर्थात् प्रातःकालीन प्रकाश के ही कुछ कुछ ग्रहण करने की उसमें शक्ति होती है। परन्तु वह कोमल प्रकाश ही उसकी आंख में अधिक प्रकाश ग्रहण करने की शक्ति प्रदान करता है। इसी प्रकार ब्रह्म-प्राप्ति की इच्छा का हाल है।

बहुत से लोग समझते हैं कि ब्रह्म जिज्ञासा का कर्म से कुछ सम्बन्ध नहीं। परन्तु यह उनकी भूल है। शंकराचार्य लिखते हैंः—

वेद एवाग्नि होत्रादीनां श्रेयः साधनानामनित्यफलतां दर्शयति "तद्यथेह कर्म चितोलोकः क्षीयते एवमेवामुत्र पुण्यचितोलोकः क्षीयते" (छांदोग्य ८।१।६) इत्यादि।

अर्थात् "वेद में अग्नि होत्र आदि श्रेय साधनों के फलों की अनित्यता का वर्णन है जैसे छान्दोग्य में लिखा है कि जैसे इस लोक के लिये किये हुये कर्म का फल क्षीण हो जाता है इसी प्रकार दूसरे लोक के लिये किये हुये पुण्य का फल भी क्षीण हो जाता है"।

परन्तु फिर अग्निहोत्र आदि को भी श्रेय साधन क्यों कहा? यदि मद्यपान, पर स्त्री गमन आदि कर्मों के फल की भांति अग्निहोत्र आदि कर्मों का फल भी अनित्य है तो फिर इनके करने की क्या आवश्यकता है? इनको श्रेय कहने का क्या प्रयोजन है? अवश्य है? वह दोनों कर्म एक से नहीं हैं। एक कर्म हमको ईश्वर की प्राप्ति की ओर ले जाता है। दूसरा हमको उस मार्ग से हटाता है। साधन उसी समय तक रहता है जब तक साध्य की प्राप्ति नहीं होती। साध्य

की प्राप्ति हुई नहीं और साधन नष्ट हुआ नहीं। खाना पकाने के पश्चात् ही चूल्हे की आग बुझा दी जाती है। क्योंकि साध्य की प्राप्ति हो चुकी। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि चूल्हे की अग्नि अनित्य थी अतः उसका जलना ही निष्प्रयोजन था। छान्दोग्य उपनिषद् ठीक कहती है कि इन कर्मों का फल क्षीण हो जाता है परन्तु फल के क्षीण होते हुये भी वह अपना अर्थात् साधन का काम कर ही जाता है।

हमारे जीवन के सभी शुभ कर्म जो ईश्वर प्राप्ति की इच्छा से किये जाते हैं हमारे लिये अत्यन्त आवश्यक हैं। इनके बिना हम ईश्वर-प्राप्ति के साधनों का सम्पादन नहीं कर सकते। इनमें से कुछ तो दूरस्थ साधन हैं कुछ निकटस्थ। परन्तु मनुष्य साधन से जितना ही दूर होगा उतना ही उसको दूरस्थ साधनों का प्रयोग करना पड़ेगा। इसको एक उदाहरण से स्पष्ट करते हैं।

कल्पना कीजिये कि हम को कोल्हापुर से कलकत्ते जाना है। कलकत्ता यहाँ से दूर है। अतएव प्रथम तो मुझे एक तांगा कर के स्टेशन पहुंचना चाहिये फिर वहाँ से टिकट लेकर मिरेज की गाड़ी में बैठना चाहिये। फिर अनेक स्टेशनों को पार करते हुये और कई स्टेशनों पर रेलगाड़ी बदलते हुये कलकत्ते पहुंचना होगा। मार्ग में कई स्थानों पर भोजन करना तथा स्नान आदि भी करना पड़ेगा। यह सब साधन हैं एक साध्य अर्थात् कलकत्ते पहुंचने का। परन्तु इनमें कुछ दूरस्थ हैं और कुछ निकटस्थ। अर्थात् मिरेज स्टेशन से मैं कलकत्ते के बजाय दूसरे स्थानों को भी जा सकता हूं। परन्तु कलकत्ता स्टेशन पर पहुंच कर अन्य स्थानों पर जाने

की सम्भावना कम है। खाना खाना भी कलकत्ते पहुंचने का एक साधन है क्योंकि बिना खाना खाये कलकत्ता पहुंचना असम्भव होता। परन्तु वही खाना चोरी करने का भी साधन हो सकता है। अतः निश्चय यह हुआ कि वह सब काम जो एक साध्य तक ले जा सकते हैं उस समय उसके साधन कहलाते हैं जब वह साध्य को दृष्टि में रखते हुए किये जाते हैं। अर्थात साधन के लिये दो शर्त ज़रूरी हैं :—

(१) उसमें साध्य तक पहुंचाने की योग्यता हो।

(२) उसका अवलम्बन साध्य को दृष्टि में रख कर किया गया हो।

यदि इनमें से किसी शर्त का अभाव है तो वह साधन नहीं है। मुझे कलकत्ते जाने के लिये मिरेज स्टेशन को जाना है। परन्तु मेरी दृष्टि मिरेज के बजाय कलकत्ते पर ही लगी हुई है। मित्र पूछते हैं "कहां जाते हो ?" मैं कहता हूं "कलकत्ते को"। मैं यह नहीं कहता कि मिरेज को जा रहा हूं।" यद्यपि मैं मिरेज को ही जारहा हूं परन्तु मेरा लक्ष्य कलकत्ते पर है।

इसी प्रकार सांसारिक काम हैं। हम चार प्रकार के काम करते हैं :—

(१) कुछ काम ऐसे जो ईश्वर प्राप्ति कराने की योग्यता रखते हैं और इसलिये किये जाते हैं कि हमको ईश्वर प्राप्ति हो। जैसे दान देना, विद्या पढ़ना दूसरे का उपकार करना।

(२) कुछ काम ऐसे जो ईश्वर-प्राप्ति कराने की योग्यता तो रखते हैं परन्तु इस उद्देश्य से नहीं किये जाते। जैसे

यश के लिये दान देना या किसी स्वार्थ के लिये दूसरे की सहायता करना।

(३) कुछ काम ईश्वर-प्राप्ति की इच्छा से किये जाते हैं परन्तु उनमें ईश्वर-प्राप्ति कराने की योग्यता नहीं। जैसे मूर्त्ति पूजना, अथवा किसो पशु को बलि देना।

(४) ऐसे काम जो न तो ईश्वर-प्रप्ति कराने के योग्य हैं न वह इस उद्देश्य से ही किये जाते हैं। जैसे चोरी, डाका आदि।

तीसरी और चौथी कोटि के काम न तो संसार को लाभ ही पहुंचाते हैं न कर्म करने वाले के आत्मा को उच्च कर सकते हैं। यह निषिद्ध हैं और इनसे व्यक्ति तथा सोसायटी सभी की हानि होती है।

दूसरी कोटि के काम मनुष्य को ईश्वर की प्राप्ति तो नहीं कराते परन्तु वह उसको ईश्वर-प्राप्ति के निकट अवश्य ले आते हैं। वह शुभ काम करता है। परन्तु सकाम भाव से। उसमें शुभ काम के लिये रुचि उत्पन्न हो जाती है और निषिद्ध कर्म उसके आत्मा पर बुरे संस्कार नहीं डाल सकते। स्वार्थ वश पुण्य करने के कारण उसको सन्मार्ग से विचलित होने का भय अवश्य है। उसी प्रकार जैसे मिरज पहुंच कर सम्भाव है कि मैं कलकत्ते के बजाय दूसरे स्थान को चल पड़ूं। परन्तु यह भी सम्भव है कि बिना कलकत्ते जाने के उद्देश्य के भी मैं मिरेज पहुंच कर किसी बात की प्रेरणा से कलकत्ते चल पड़ूं। क्योंकि मिरेज कोल्हापुर की अपेक्षा कलकत्ते से निकट है।

सकाम अर्थात् स्वार्थ वश पुण्य करने वाला मनुष्य ईश्वर प्राप्ति के अधिक निकट है उस पुरुष की अपेक्षा जो निषिद्ध कर्म कर रहा है। इसमें सन्देह नहीं कि छान्दोग्य उपनिषत् के ऊपर दिये वाक्य के अनुसार सकाम कर्मों का फल क्षीण अवश्य होगा। परन्तु वह कर्म मनुष्य को ईश्वर अनुभव के निकट ले आवेंगे।

इसलिये यज्ञ आदि करना व्यर्थ नहीं किन्तु परमावश्यक है। क्योंकि इनसे आत्मा पर अच्छे संस्कार पड़ेंगे। यदि इनको न किया जाय तो मनुष्य आगे चलने के योग्य नहीं हो सकेगा। कल्पना कीजिये कि भोजन करना मनुष्य त्याग दे। तो थोड़े दिनों में उसका शरीर निर्बल हो जायगा। मस्तिष्क चक्कर करने लगेगा। फिर क्या उसमें मुमुक्षुत्व की योग्यता रहेगी? क्या वह योग का साधन कर सकेगा? कदापि नहीं। इसी प्रकार अन्य सांसारिक शुभ कर्मों का हाल है। जो मनुष्य विना इन कर्मों के ईश्वर प्राप्ति करना चाहता है वह भ्रम में है उसको ईश्वर प्राप्ति तो क्या उसका निकट भी प्राप्त नहीं हो सकेगा।

वह शुभ कर्म क्या हैं?

(१) पंचमहायज्ञादि यज्ञ करना।

(२) अपने निर्वाह के लिये शुभ कर्म करना।

(३) दान करना।

(४) दूसरे जीवों के दुःख दूर करने के लिये उपाय सोचना।

इन चार कोटियों के अन्तर्गत सब काम आ जाते हैं जो मनुष्य को ईश्वर की प्राप्ति के निकट ले जाते हैं।

परन्तु यदि यह ईश्वर-प्राप्ति को दृष्टि में रख कर किये जाते हैं तो ईश्वर-प्राप्ति सुगम हो जाती है और बहकने का भय नहीं रहता। यदि यह ईश्वर-प्राप्ति को लक्ष्य में रख कर नहीं किये जाते तो प्रथम तो बहकने का भय होता है। दूसरे आत्मा में मुमुक्षुत्व उत्पन्न नहीं होता और न नित्यानित्य विवेक में ही कुछ सहायता मिल सकती है।

हम कुछ मनुष्यों को देखते हैं कि वह केवल होम आदि को ही कर्म काण्ड समझते हैं। वह नित्य प्रातःकाल उठ कर सन्ध्या करते हैं, हवन करते हैं, अन्य यज्ञों में भी भाग लेते हैं परन्तु न तो वह अपने निर्वाह के लिये शुभ कर्म करते हैं न दान देते और न ही वह सामाजिक दुःखों को दूर करने का प्रयत्न करते हैं। ऐसे पुरुष कभी उन्नति नहीं कर सकते। यह कर्म काण्ड नहीं, पाखण्ड काण्ड है। होम आदि करना पाखण्ड नहीं है। परन्तु अपने कर्त्तव्यों को वहीं तक सीमित करना बड़ा पाखण्ड है। हिन्दू जाति में आजकल ऐसा पाखण्ड बहुत है। होम आदि कर्मकाण्ड के अंग मात्र हैं। वह आवश्यक अंग अवश्य हैं परन्तु बहुत बड़ा अङ्ग नहीं हैं। जो मनुष्य खेत जोतकर छोड़ देता है और उसमें बीज नहीं बोता वह मूर्ख और पाखण्डी है क्योंकि यद्यपि खेत जोतना कृषि का आवश्यक भाग था परन्तु बहुत बड़ा भाग नहीं था। पंच महायज्ञ करना एक प्रकार से अपने आत्म-क्षेत्र को अन्य कार्यों के लिये तैयार करना है।

गृहस्थ धर्म का पालन करना, सन्तानोत्पत्ति, तथा परिवार के पालन के लिये धनोपार्जन, यह भी कर्मकाण्ड का एक मुख्य अङ्ग है। विवाह करना स्वयं स्वार्थता के आगे एक पग बढ़ाना तथा शम दम आदि का अभ्यास करना है। यदि गृहस्थधर्म के पालन का विचार छोड़ दिया जाय। यदि परिवार के पालन की चिन्ता न रहे तो मनुष्य को बहुत से अनुभवों की प्राप्ति न हो जो उसकी उन्नति के लिये आवश्यक हैं। स्मृतियों तथा धर्मशास्त्रों में चातुर्वर्ण्य और चतुराश्रम की व्यवस्था तथा उनके कर्त्तव्यों का निर्देश इसीलिये है कि वह न केवल अभ्युदय की ही प्राप्ति कराते हैं किन्तु उसके साथ ही साथ निश्रेयस के लिये भी साधन होते हैं, उदारता, कोमलता तथा प्रेम का विकास गृहस्थ के भीतर ही होता है। यह वास्तविक प्रेम या वास्तविक परोपकार को पहली सीढ़ी है। एक पत्नी व्रत तथा एक स्त्री व्रत मनुष्य को सिखाता है कि अपने को दूसरे के लिये भूल जाने और अपने आराम को दूसरों के आराम के लिये त्याग देने की क्या आवश्यकता है। यदि विवाह का शुभ संस्कार न हो तो मनुष्य इन्द्रिय दमन कर ही नहीं सकता। व्यभिचार तथा उच्छृङ्खलता से मनुष्य को रोकने का विवाह और गृहस्थाश्रम एक उत्कृष्ट साधन है। जिस समय स्त्री सन्तान को उत्पन्न करती है उसी समय उसके हृदय में मातृप्रेम का एक अपूर्व और स्वार्थ रहित स्रोत बहने लगता है। इस शुद्ध प्रेम की उपमा किसी अन्य से नहीं दी जा सकती। यदि पति के लिये प्रेम में कुछ कुछ स्वार्थता तथा विलासता की गन्ध भी आती हो तो वह गन्ध सन्तानोत्पत्ति के साथ सर्वथा जाती रहती है। इसी प्रकार

गृहस्थ मनुष्य अपने सम्बन्ध को अपने आत्मा से ऊपर उठा कर अन्य प्राणियों तक ले जाता है। वह एक वृत्त बनाता है जिसका वह स्वयं केन्द्र है परन्तु उसकी स्त्री बच्चे तथा अन्य सम्बन्धी एक परिधि हैं।

यदि गृहस्थाश्रम शास्त्रोक्त रीति से व्यतीत किया जाय तो यह परिध शनैः २ बढ़ने लगती है। गृहस्थ का धर्म है कि वह दान दे अर्थात् अपना सुख त्याग कर कुछ सुख की सामग्री को दूसरों के दुःख निवारण में व्यय करे। दान का विचार करते ही हमको अनुभव होने लगता है कि जो परिध हमने अपने बाल बच्चों तक ही खींची थी, वह क्षुद्र है। वह अनुदार है। इसको बढ़ाने की आवश्यकता है। स्त्री तथा बच्चों के अतिरिक्त अन्य भी ऐसी व्यक्तियां हैं जिनसे हमसे सम्बन्ध होना चाहिये। इनको "उन्नति में ही अपनी उन्नति समझनी चाहिये।" जब तक वह दुखी हैं हमको सुखी होने का अवसर न मिलेगा। जब तक वह दूषित या अशुद्ध हैं हम यत्न करते या देवालयों में ईश्वर का ध्यान करते हुये भी अदूषित या शुद्ध न रह सकेंगे। जब तक उनमें पवित्रता न आयेगी हमारा आत्मा उन्नति को प्राप्त न होगा। इस प्रकार गृहस्थ धर्म के अन्य कार्यों के साथ साथ ही दान या परोपकार भी एक कर्त्तव्य हो जाता है।

जो लोग यह समझते हैं कि हमको दूसरों से क्या, हम स्वयं शुद्ध तथा धर्मात्मा बने रहें, वह सृष्टि के कार्य्य क्रम को ही नहीं समझते। समुद्र का एक बिन्दु यदि चाहे कि मैं स्वयं अन्य बिन्दुओं को बुराई या भलाई को ग्रहण न करूं तो यह असम्भव है। प्रलय अवस्था में अनन्त जीव

एक दूसरे से अलग थे। वह एक दूसरे के विषय में सर्वथा अनभिज्ञ तथा असम्बद्ध थे। परन्तु ईश्वर ने सृष्टि को इस लिये रचा कि वह जीव इस प्रकार असम्बद्ध न रहें। सृष्टि की रचना अथवा शरीर निर्माण हीं जीवों के परस्पर निकट आने का एक मार्ग है। प्रत्येक चेतन का दूसरे चेतनों के साथ साक्षात् सम्बन्ध नहीं हो सकता इसके लिये चेतनों को उन्नति की शिखिर पर पहुंचना चाहिये। जिन्होंने कभी उन्नति नहीं की परन्तु करना चाहते हैं उनको अवश्य एक दूसरे को साथ शरीर द्वारा सम्बन्ध जोड़ना पड़ेगा। यही तो कारण है कि मनुष्य की उत्पत्ति की एक विशेष रीति निर्माण की गई है। फिर अन्य प्राणियों के साथ भी हम अपने शरीरों द्वारा ही सम्बन्ध जोड़ते हैं। मुझे शरीर को पुष्ट रखने के लिये खाने की आवश्यकता है। खाना उत्पन्न करने के लिये खेती की आवश्यकता है। खेती के लिये लोहार की। लोहार के लिये खान खोदने वाले की। खान खोदने के लिये भूगर्भ विद्या की। भूगर्भ विद्या को उन्नत करने के लिये अन्य विद्वानों की। इस प्रकार यह शृङ्खला यहां तक बढ़ती है कि हमारा सम्बन्ध सृष्टि के प्रत्येक प्राणी से हो जाता है। इसी को सभ्यता अर्थात् परस्परतंत्रता कहते हैं। गृहस्थ आश्रम में इस सम्बन्ध में अपनी आवश्यकताओं अथवा स्वार्थ का लवलेश होता है। परन्तु यही सम्बन्ध आगे चल कर इस सीमा तक पहुंच जाता है कि आत्मा से आवाज आने लगती है कि

अयंनिजः परोवेति गणाना लघुचेतसाम्।
उदारचरितानान्तु वसुधैव कुटुम्बकम्॥

जब मनुष्य का हृदय इतना उदार हो गया तो वह कर्म-काण्ड की पराकाष्ठा पर पहुंच जाता है। वह अपने समस्त जीवन को परोपकार में लगा देता है। उस समय उसे ईश्वर का अनुभव न केवल अपने ही आत्मा में होता है किन्तु प्रत्यक्ष आत्मा में वह उसी का प्रकाश देखता है।

शुनि नैव श्वपाके चैव पण्डिता समदर्शिनः। गीता

हम ऊपर कह चुके हैं कि सांसारिक व्यापार ईश्वर प्राप्ति के दूरस्थ साधन हैं। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि इनको छोड़ कर हम किसी छोटे मार्ग का अवलम्बन कर सकते हैं। यदि एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुंचने के दो मार्ग हों एक सौ कोस और दूसरा पचास कोस। तो सौ कोस के मार्ग को अवश्य त्याग देना चाहिये। परन्तु वस्तुतः ईश्वर प्राप्ति का कोई सीधा मार्ग है नहीं। जो सीढ़ी के जिस दण्डे पर है उसको उसी दण्डे से चोटी तक का अन्तर नाप लेना चाहिये। यदि कोई मनुष्य इतना उदार हो गया है कि बिना गृहस्थ का अवलम्बन किये हीं उसको समस्त सृष्टि अपना कुटुम्ब प्रतीत होने लगी है तो वह गृहस्थियों की अपेक्षा आगे है। ऐसे मनुष्य को गृहस्थ में फंस कर पीछे की ओर लौटना नहीं चाहिये। अन्यथा वह अपने साध्य से और दूर हो जायगा। परन्तु यदि मनुष्य का हृदय इतना विकसित नहीं है तो केवल लोकलज्जा अथवा अन्य प्रलोभनों में फंस कर उसे गृहस्थ का कभी त्याग नहीं करना चाहिये। आज कल हिन्दू जाति में जो साधुओं तथा सन्यासियों की भरमार है वह वस्तुतः सद् गृहस्थों की अपेक्षा ईश्वर-प्राप्ति से बहुत दूर हैं। गृहस्थ पुरुष कम से

कम अपने परिवार के लिये तो अवश्य ही स्वार्थ त्याग करता है परन्तु इन साधुओं के वृत्त की परिधि तो इनके आत्मा से एक इंच भी आगे नहीं बढ़ती। यह भोग विलास करते हैं परन्तु अपनी कमाई से नहीं इन्द्रियों के भोगों में लिप्त रहते हैं परन्तु किन्हीं अन्य प्राणियों की चिन्ता नहीं करते। आजकल के साधु तथा साधुनियों की कथायें ऐसी भयङ्कर हैं कि हम उनमें और चोर डाकुओं में कोई भेद कर ही नहीं सकते। इनके आत्मा अधम से अधम गृहस्थियों से भी नीच हैं। वह सभी भोग भोगना चाहते हैं परन्तु गृहस्थ के कर्त्तव्यों का भार अपने सिर पर नहीं लेना चाहते। यह केवल कर्मकाण्ड के महत्व को न समझने के कारण होता है*।

---

* आश्चर्य की बात है कि भारतवर्ष के साधु सन्यासी गीता को अपना परम धार्मिक पुस्तक मानते हुये भी कर्म की अवहेलना करते हैं। शायद ही ऐसा कोई साधु पाओगे जो गीता को किसी न किसी रूप में न पढ़ता हो परन्तु शायद ही ऐसा कोई साधु हो जो कर्मपरायणता अपना कर्त्तव्य समझता हो। यह लोग गीता को पाठ मात्र पढ़ते हैं और उसके ऊपर कभी विचार नहीं करते। गीता कहती है:—

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्॥ ३। १५
नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायोऽकर्मणः।
शरीर यात्रापि च ते न प्रसिद्धयेद कर्मणः। ३। ८

अर्थात् कर्म करना वेदों की आज्ञा है और वेद ईश्वर वाक्य है। इस लिये कर्म की श्रेष्ठता है। हे अर्जुन कर्म अवश्य करना चाहिये। कर्म करना कर्म न करने से श्रेष्ठ है। कर्म बिना किये तो शरीर यात्रा भी नहीं हो सकती।

कर्मकाण्ड के विषय में दो बड़ी भूलें हैं। कुछ लोग तो केवल कुछ आडम्बरों को ही कर्मकाण्ड समझते हैं और कुछ कर्मकाण्ड को ईश्वर-प्राप्ति के लिये सर्वथा अनावश्यक समझते हैं। पहले विचार ने तो हिन्दू जाति में अभिमानी और मत्सरी पण्डितों की संख्या को बढ़ाया है जो अपने को शुद्ध रखना ही अपने कर्त्तव्यों की इतिश्री समझते हैं। दूसरी भूल ने लाखों झूठे पाखण्डी और आचार-भ्रष्ट सन्यासियों का आधिक्य किया है। इस प्रकार दो बड़े दल जो अपनी तथा अपनी जाति की उन्नति के बहुत बड़े साधन हो सकते थे उसके पतन का हेतु बन रहे हैं।

पण्डित लोग समझते हैं कि यदि उन्होंने किसी अधम जाति तक वेदों का प्रकाश पहुंचाया, यदि उन्होंने ईश्वर की पूजा करने से पहले किसी अस्पृश्य जाति को छू लिया, यदि उनके पूजा के स्थानों में अन्य जाति वाले चले गये तो उनको झट पातक लग जायगा यदि उनके सिवाय समस्त संसार झूठ बोलने, अनाचार करने, अज्ञान में डूबे रहने यज्ञ आदि शुभ कर्मों से वंचित रहने रूपी घोर अंधकार में डूबा रहा तो परमात्मा अपने निकट आने का द्वार उनके लिये खोल देंगे और उनको स्वर्ग धाम तक पहुंचने के लिये कोई कठिनाई नहीं पड़ेगी। परन्तु कितनी मूर्खता है? कितना भ्रम है? हे मूर्ख जीव! तू समझता है कि संसार भर में अज्ञान रूपी अन्धकार छाया रहे और प्रकाश तुझ तक पहुंचता ही रहेगा? संसार भर में अधर्म रूपी रोग के कीटों की भरमार हो जाय और तू स्वस्थ रहेगा?

संसार भर का वायुमण्डल दुराचार से भर जाय और तुझ पर उसका कुछ प्रभाव न पड़ेगा, संसार अवनति के घोर रसातल को चला जाय और तू उन्नति के शिखिर पर ही बैठा रहेगा ? नहीं ! नहीं ! कदापि नहीं ! जो संसार को अज्ञानमय रखना चाहता है उसे ज्ञान कभी नहीं आ सकता, जो दूसरों को अशुद्ध देखते हुये उनको शुद्ध करने का प्रयत्न नहीं करता उसे स्वयं अशुद्ध रहना पड़ेगा। जो दूसरों को नीच और अस्पृश्य रखना चाहता है वह एक दिन स्वयं अस्पृश्य हो जायगा। जो दूसरों को धर्मात्मा बनाने का चिन्तमन नहीं करता वह स्वयं धार्मिक नहीं हो सकता ? जो दूसरों को गिराना चाहता है वह स्वयं भी अवश्य गिरेगा। ईश्वर ने समस्त सृष्टि को एक घनिष्ट सम्बन्ध के सूत्र में प्रोदिया है। सूत्र टूटते ही दाने भूमि पर गिर पड़ते हैं। इस लिये आवश्यकता है कि कर्म के मर्म को समझ कर इस सूत्र को सुदृढ़ किया जाय।

कर्मकाण्ड की अवहेलना मत करो और न पाखण्ड काण्ड को ही कर्म काण्ड समझो। हां इस बात का अवश्य ध्यान रक्खो कि जो शुभ कर्म करो उसको ईश्वर प्राप्ति का साधन मात्र समझो। साधन को साध्य समझ लेने से उन्नति रुक जाती है और अभीष्ट फल की प्राप्ति नहीं होती। इस लिये गीता में कहा है :—

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगंत्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवांभसा ॥
कायेन मनसा बुद्धया केवलैरिंद्रियैरपि ।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति संगं त्यक्त्वाऽत्मशुद्धये। (५ । १०, ११)

अर्थात् जो पुरुष ब्रह्म पर लक्ष्य रखता हुआ कर्म करता है वह जल में कमल के समान कर्मों में नहीं फंसता । योगी लोग शरीर, मन, बुद्धि तथा इन्द्रियों से फल की आकांक्षा छोड़ कर कर्म करते हैं । उनका लक्ष्य केवल आत्मा की शुद्धि पर होता है । बीच में होने वाले छोटे छोटे फलों की वह परवाह नहीं करते । जो गेहूं के लिये खेती करता है उसको भूसा साथ में मिल जाता है । इसी प्रकार जो आत्म शुद्ध के लिये कर्म करते हैं उनको आत्म-शुद्धि के साथ साथ सांसारिक सुखों की भी प्राप्ति हो जाती है । परन्तु परम आवश्यक बात यह है कि कर्म काण्ड का पालन करते हुये हम अपने ध्येय पर लक्ष्य रक्खें । इसके लिये कर्म काण्ड के साथ ज्ञान काण्ड तथा उपासना काण्ड की आवश्यकता है ।

ज्ञान काण्ड

ज्ञान काण्ड मनुष्य को लक्ष्य की स्मृति दिलाता रहता है । मनुष्य कर्मकाण्ड में लिप्त होने नहीं पाता । उसको निश्चय हो जाता है कि जो कुछ मैं कर रहा हूं वह शुभ है, श्रेय है, आवश्यक है, परन्तु फिर भी साधन है । साध्य नहीं । सीढ़ी है, चोटी नहीं । ज्ञान के अभाव में लोग साधन को ही साध्य समझ लेते हैं । जिसने रेलगाड़ी को अपना घर समझ लिया, जो स्टेशन आने पर भी उससे उतरना नहीं चाहता वह मूर्ख है महा मूर्ख है । जो सीढ़ी के दण्डों को पकड़े बैठा हुआ है उसकी बुद्धि के लिये क्या कहा जाय ? परन्तु यह सब कुछ उसी समय होगा जब हम अपने ज्ञान की वृद्धि करें ।

ईश्वर का ज्ञान प्राप्त करने के निम्नलिखित साधन हैं :—

(१) **सृष्टि-रचना का ज्ञान**—हम पिछले कई अध्यायों में अनेक स्थलों पर बता चुके हैं कि सृष्टि रचना से जिसमें हमारे शरीर की रचना भी शामिल है ईश्वर के अनेक गुणों का प्रकाश होता है। यदि हम अपनी उंगली उठाकर ही उस पर विचार करने लगें तो हम को उसमें ईश्वर की अपार महिमा का प्रकाश मिल जाता है।

(२) **वेदादि सच्छास्त्रों का अध्ययन** जिनमें ईश्वर के विषय में अनेक उपदेश हैं।

(३) **सद्गुरुओं का उपदेश तथा सत्पुरुषों का संग।**

जो मनुष्य ईश्वर-प्राप्ति करना चाहता है उसको अपने दिनों का कुछ न कुछ भाग अवश्य इन तीनों साधनों के सम्पादन में व्यय करना चाहिये। हम सृष्टि रचना को नित्य प्रति देखते हैं परन्तु उस दृष्टि से नहीं जो ईश्वर प्रेमी की होती है। सायंस सभी पढ़ते हैं परन्तु उनकी दृष्टि सृष्टि के नियमों के आगे चल कर उसके नियन्ता तक नहीं जाती। कल्पना करो कि तुम विदेश से यात्रा करते हुये अपने घर के स्टेशन पर पहुंचते हो। तुम्हारी माता तुम्हारी प्रतीक्षा में स्टेशन पर आई हुई है। जिस दृष्टि से वह माता रेल गाड़ी की ओर देखेगी वह दृष्टि अन्य किसी की न होगी। गाड़ी स्टेशन पर आती है। गाड़ी के इंजन, गाड़ी के डिब्बे, गाड़ी की गति सभी का उसकी दृष्टि में तुमसे सम्बन्ध है। उसके लिये गाड़ी एक प्यारी वस्तु है, गाड़ी के लिये नहीं किन्तु उस

प्यारे के लिये जिसको वह गाड़ी ला रही है। वही गाड़ी आवे और यदि तुम उसमें न हो तो गाड़ी की समस्त शोभा उसके लिये फीकी है। इसी प्रकार जब तुम सृष्टि की ओर देखते हो तो अपने प्यारे को दृष्टि में रख कर देखो। पहाड़ों की ऊंची शिखरें, समुद्र की तरङ्गें, नदी का बहाव, सूर्य्य, चन्द्र की गति, सभी में तुम ईश्वर का प्रकाश देख सको। एक फ़ार्सी कवि कहता है।

कि बचश्मानि दिल मुबीं जुज़ दोस्त। *
हर्चिं बीनी विदाँ कि मज़हरे श्रोस्त॥

इसी विषय में माण्डूक्योपनिषत् कहती है:—

ओमित्येतदक्षरमिद ᳪ तस्योपव्याख्यानम्।

अर्थात् यह समस्त जगत् उस ईश्वर का उपव्याख्यान है।

परन्तु प्रत्येक को यह उपव्याख्यान सूझ नहीं पड़ता। इस के लिये अभ्यास करना पड़ता है। बच्चे को छोटेपन से ही प्रत्येक वस्तु का ईश्वर से सम्बन्ध बताते रहना चाहिये। उसके आत्मापर आरम्भ से ही ऐसे संस्कार अंकित करने चाहिये कि ईश्वर सब में व्यापक है वह हमको प्रत्येक वस्तु देता है। इत्यादि इत्यादि। वस्तुतः नित्यानित्यविवेक का क्या अर्थ है? यही न कि हमको यह पहचान हो जाय कि नित्य क्या वस्तु है और अनित्य क्या? जब तक हम अनित्य वस्तुओं में नित्य का चमत्कार नहीं देखते उस समय तक हम ज्ञानी नहीं कहला सकते। जो कुछ हमको नाम रूप दृष्ट पड़ता है वह सब अनित्य है परन्तु मिथ्या नहीं है। वह भी

* हृदय की आंख से अपने प्यारे के सिवाय किसी को मत देखो। जो कुछ देखता है उस सब को उसी का प्रकाश समझो।

नित्य का प्रकाश है नित्य का उपव्याख्यान है। मिथ्या वस्तु सत्य वस्तु का उपव्याख्यान नहीं हो सकती। इस लिये संसार में जो कुछ दीखता है वह मिथ्या नहीं किन्तु सत्य है।

बहुत से लोग समझते हैं कि वेद आदि शास्त्रों को पढ़ना ईश्वर-प्राप्ति का साधक नहीं किन्तु बाधक है। वह सन्तों के अनेक वचनों को उद्धृत करते हैं जिनमें शास्त्रों के पढ़ने का या तो निषेध किया गया है या उनकी अवहेलना की गई है। बहुत से वेदों और उपनिषदों के वाक्यों से सिद्ध करते हैं कि शास्त्रों का पढ़ना ईश्वर-प्राप्ति के लिये व्यर्थ है:—जैसे वेद में लिखा है:—

यस्तन्नवेद किमृचा करिष्यति।

अर्थात् जो ईश्वर को नहीं जानता वह वेद पढ़ कर क्या करेगा?

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुंस्वाम्॥

(मुण्डकोपनिषत् ३।२।३)

अर्थात् यह आत्मा न तो कथाओं से प्राप्त होता है न बुद्धि से न वेदों के श्रवण से। जो ईश्वर का वरण करता है उसी को उसकी प्राप्ति होती है।

इसी उपनिषद् में लिखा है:—

द्वे विद्ये वेदितव्ये इति हस्म ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापराच। तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते॥ (मुण्डकोपनिषत् १।१।४, ५)

अर्थात् दो विद्यायें हैं एक अपरा जिसमें वेदादि का अध्ययन है और दूसरी परा जिससे ईश्वर की प्राप्ति होती है। यहाँ वेदों को परा विद्या में सम्मिलित नहीं किया है। इस लिये जिन लोगों की इच्छा ईश्वर प्राप्ति की है उनको वेदों से क्या प्रयोजन। एक उर्दू का कवि कहता है:—

किताबों में धरा क्या है बहुत लिख लिख के धो डालो।
हमारे दिल पे नक़्शे कलहजर है तेरा फ़रमाना॥

इसी बात के अनुसार हज़ारों साधु लोग चिमटा हिलाते फिरा करते हैं। उनसे यदि पूछो "कुछ पढ़े हो?" तो कहते हैं "हम को पढ़ कर क्या करना? हम तो केवल राम नाम जपते हैं।"

परन्तु यह एक दोष है। वस्तुतः वेदादि सच्छास्त्रों के बिना ईश्वर का ठीक ज्ञान नहीं हो सकता। और जब तक ज्ञान न हो उस समय तक ईश्वर की प्राप्ति कैसे होगी? हम एक स्थान पर लिख चुके हैं कि मिथ्या ज्ञान से केवल ईश्वर ईश्वर कहने मात्र से ज्ञान न होगा। सन्तों ने कई स्थानों पर जो वेदों की अवहेलना की है वह उनकी भूल है या उनका तात्पर्य दूसरा है। बहुत से सन्त तो ऐसे हो गये हैं जो स्वयं विद्वान न थे। केवल उनके बहुत से अनुयायी हो गये। अतः उन्होंने अपनी बुद्धि तथा योग्यता के अनुसार जैसा मनमें आया वैसा उपदेश कर दिया। अनेक स्थानों पर उनके ग्रन्थों या उनकी वाणियों में परस्पर विरोध मिलता है। उनके उद्देश्य भले भी हों तो भी हम उनको प्रमाण नहीं मान सकते। यदि वही सन्त वेदादि

पुस्तकों को पढ़े होते तो उनके आत्मा को अधिक शान्ति होती।

बहुत से अन्ध विश्वासी अनुयायियों में एक दोष है। वह किसी मनुष्य की अच्छी अच्छी बातों के साथ २ उसकी बुराइयों का भी अनुकरण करने लगते हैं। जैसे यदि किसी साधु को भोग विलास से विरक्त पाया तो उसके वचन भी मानने लगे। यह भूल है। सम्भव है कि उसको वैराग हो परन्तु ज्ञान न हो। या ज्ञान हो और वैराग न हो। यदि वैराग हुआ और ज्ञान न हुआ तो संसार से उपरति तो हो जायगी। परन्तु उसको ईश्वर की प्राप्ति न होगी। यदि वेद आदि पढ़ कर ज्ञान प्राप्त कर लिया और वैराग नहीं हुआ तो भी ईश्वर की प्राप्ति नहीं होने की। क्योंकि भोग विलास में फंसा हुआ आत्मा वेद पढ़ कर भी अपने को उन्नत नहीं कर सकता। हम ने ऊपर जो वेद तथा मुण्ड-कोपनिषद् के प्रमाण दिये हैं उनका यही तात्पर्य्य है। उनसे यह नहीं समझना चाहिये कि वेद आदि सत् शास्त्रों का किसी प्रकार अनादर किया है। वेद में लिखा है कि जो ईश्वर को नहीं जानता वह वेद पढ़ कर क्या करेगा? इसका तात्पर्य यह है कि जो साधन की प्राप्ति कर के ही सन्तुष्ट हो जाता है और साध्य की ओर ध्यान नहीं देता उसके लिये साधन का सम्पादन भी व्यर्थ ही है। मैं रेल में बैठूं परन्तु उस स्थान पर न उतरूं जहाँ उतरना है तो यह मेरी मूर्खता है। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि वेद पढ़ने से कुछ नहीं होता। इसका तात्पर्य केवल इतना है कि पढ़ने मात्र से कुछ नहीं होता। पढ़ कर आचरण करने से ही लाभ होगा।

वेद दो प्रकार से पढ़े जा सकते हैं एक तो केवल मंत्रों को पढ़ लेना और ईश्वर-प्राप्ति के लिये प्रयत्न न करना। ऐसा पढ़ना अपरा विद्या में शामिल है। परन्तु जब पढ़ने के पश्चात् जीव ईश्वर का विचार करने लगता है और उस पर लक्ष्य रखते हुये अपने आचरण करता है तो परा विद्या का आरम्भ होता है। यह बात केवल वेदाध्ययन या ईश्वर-प्राप्ति के विषय में ही लागू नहीं होती। चाहे किसी बात को लीजिये सब में यही नियम सत्य ठहरता है। एक व्यापारिक पाठशाला में लड़का व्यापार सम्बन्धी पुस्तकें पढ़ता है। इनका पढ़ना अतीव आवश्यक है। उनका उपयोग है। परन्तु उस पुस्तक के अध्ययन को हम व्यापार नहीं कह सकते। जिसने पुस्तकें पढ़ीं और व्यापार करना आरम्भ नहीं किया उस को केवल पुस्तकें अलमारी से उठ कर धन नहीं प्राप्त करा सकतीं। प्रयोग आवश्यक है। इसी बात पर वेद तथा उपनिषत् के उपर्युक्त वचनों में बल दिया गया है। इससे यह कदापि नहीं समझना चाहिये कि वेदादि शास्त्रों के अध्ययन का उपयोग नहीं।

वस्तुतः इसी भ्रम के मिटाने के लिये तो गुरु की आवश्यकता है। गुरु अनुभवी होना चाहिये जिससे वह शिष्य की कठिनाइयों को दूर कर सके और उसको कठिन बातों का तात्पर्य बता सके। हिन्दुओं में एक प्रथा है। लोग कहा करते हैं कि जब तक हम गुरु नहीं करते उस समय तक हमको स्वर्ग नहीं मिल सकता। इस लिये वह गुरु मंत्र ले लेते हैं अर्थात् कोई पण्डित या सन्यासी उनके कान में मंत्र फूंक देता है। इसी को गुरु-दीक्षा कहते हैं। परन्तु यह

गुरु-दीक्षा वास्तव में गुरु दीक्षा नहीं है किन्तु ढोंग है। जिस पाखण्डी ने स्वयं ईश्वर-प्राप्ति का कोई साधन नहीं किया वह दूसरे को क्या मार्ग बतायेगा। ऐसे ही गुरुओं के विषय में मुण्डकोपनिषत् में आया है :—

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयंधीराः पण्डितंमन्यमानाः।
जङ्घन्यमानाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः॥

(मुण्डक० १।२।८

अविद्यायां बहुधा वर्तमाना वयं कृतार्था इत्यभिमन्यन्ति बालाः।
यत् कर्मिणो न प्रवेदयन्ति रागात्तेनातुराः क्षीणलोकश्च्यवन्ते॥ (९)

अर्थात् अविद्या में फँसे हुये लोग अपने को पण्डित मान कर और यह समझ कर जो हम कर रहे हैं ठीक है दूसरों को बहकाते हैं उनकी वैसी ही गति होती है जैसी अन्धे के पीछे से चलने वाले अन्धों की होती है। इनको कभी अच्छी गति प्राप्त नहीं हो सकती।

हम देखते हैं कि जिस प्रकार हिन्दूजाति में आज कल झूठे साधु और सन्यासियों का बहुत आदर है उसी प्रकार ऐसे गुरुओं का भी है। मूर्ख लोग उनको धन देकर गुरु मंत्र ले आते हैं। परन्तु उससे लाभ क्या होता है? वस्तुतः कुछ भी नहीं। 'लोभी गुरु लालची चेले" की लोकोक्ति लागू होती है। यह गुरु नहीं हैं किन्तु ठग हैं। इनका आदर करने से जाति को बहुत हानि होती है। और शिष्यों की न तो अविद्या दूर होती है न उनकी उन्नति होती है।

गुरु वही है जो सच्चा ज्ञान देता है। यह ज्ञान एक क्षण या एक दिन में नहीं दिया जाता। इसके लिये गुरु और शिष्य का बहुत दिनों तक संसर्ग होना चाहिये। अध्ययन

जादू को लकड़ी नहीं है कि " एक ! दो ! तीन !" और आ गई।

उपासना काण्ड

ईश्वर-प्राप्ति का तीसरा साधन उपासना है। इसका ईश्वर प्राप्ति से निकटस्थ सम्बन्ध है। यद्यपि उपासना साधन है तथापि कई अंशों में इसको साध्य भी कह सकते हैं क्योंकि सच्ची उपासना उसी समय हो सकती है जब अन्य साधनों का सम्पादन हो जाता है। जिसको साधारण लोग ईश्वर पूजा कहते हैं वह वस्तुतः उपासना ही है। कर्म काण्ड तथा ज्ञान काण्ड अर्थात् शुभ कर्म करना तथा ज्ञान प्राप्त करना उपासना के साधन मात्र हैं। इनसे मनुष्य के आत्मा की शुद्धि होती है। शुद्धि होने से ईश्वर के लिये प्रेम होता है। प्रम से आनन्द प्राप्त होता है।

व्यावहारिक दृष्टि से उपासना के दो अङ्ग है। एक प्रार्थना और दूसरा ध्यान। ध्यान मुख्यतः योग के आठ अङ्गों में से एक हैं। इसका उल्लेख हम इस पुस्तक में नहीं करेंगे। जिन विशेषज्ञों को इसकी आवश्यकता हो वह योग दर्शन में देख सकते हैं। परन्तु यहाँ हम सर्वसाधारण के हित के लिये कुछ संकेत करना पर्य्याप्त समझते हैं।

प्रार्थना को हमने यहाँ साधारण अर्थ में लिया है और इससे हमारा तात्पर्य स्तुति और प्रार्थना दोनों से है। स्तुति ईश्वर के गुणों के गान को कहते हैं और प्रार्थना ईश्वर को साक्षात् मान कर उससे सहायता याचना के लिये की जाती है। इस प्रकार की प्रार्थना यदि ध्यान से पूर्व की जाय तो

ध्यान में बड़ी सहायता मिलती है। और यदि ध्यान न भी किया जाय और केवल उच्च स्वर से प्रार्थना ही की जाय तो भी बड़ा लाभ होता है। इससे चित्त एकाग्र होता है और हृदय को शान्ति होती है। आत्मा को अनुभव होने लगता है कि मैं किसी बड़ी भारी शक्ति के साथ हूं।

बहुत से लोग शंका किया करते हैं कि ईश्वर को उच्च स्वर से पुकारने से क्या लाभ है? क्या ईश्वर बहरा है? सुनता नहीं? जो तुम इतने उच्च स्वर से चिल्लाते हो? क्या ईश्वर खुशामदी है? जो तुम उसके गुणों को कई बार बखानते हो? क्या ऐसा करने से ईश्वर तुम्हारी खुशामद में आजायगा और तुमको कर्मों से अधिक फल दे देगा? इत्यादि इत्यादि।

ऐसी शंका करने वाले प्रार्थना के तात्पर्य को ही नहीं समझते। वह समझते हैं कि जिस प्रकार लोक में राजा की प्रशंसा झूठी सच्ची की जाती है और वह ऐसी प्रशंसा करने से प्रसन्न रहते हैं इसी प्रकार शायद ईश्वर के भक्त भी ईश्वर को ऐसा ही समझते हैं। परन्तु वस्तुतः यह बात नहीं है। हम जो कुछ करते हैं ईश्वर के लिये नहीं करते किन्तु अपने लिये करते हैं, और कर्मों से फल पाने की आकांक्षा से नहीं करते किन्तु अपनी आत्मिक उन्नति के उद्देश्य से करते हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि ईश्वर प्रार्थना का भी बहुत कुछ दुरुपयोग होता है। जहाँ अज्ञान वश लोग अन्य बातों का दुरुपयोग करते हैं वह यदि ईश्वर प्रार्थना का भी दुरुपयोग करें तो आश्चर्य नहीं है। परन्तु ईश्वर-प्रार्थना का मौलिक

तात्पर्य न यह था न है। बहुत से लोग समझते हैं कि जैसे राजों या राज कर्मचारियों को रिश्वत दे देने से हमारे बहुत से काम निकल जाते हैं इसी प्रकार ईश्वर प्रार्थना से भी यही लाभ हो जाया करता होगा, जैसे हे ईश्वर यदि मुझे अमुक व्यापार में लाभ हो जाय तो मैं अमुक भाग दान दूं।" "हे परमात्मा यदि मेरा शत्रु मर जाय तो इतनी बार तेरी गायत्री का जाप करूँ।" इत्यादि परन्तु यह सब प्रार्थना के उपयोग को ठीक न समझने के कारण होता है, ईश्वर हमारे किसी पाप को क्षमा नहीं कर सकता और न हमारे कार्यों से अधिक या न्यून फल दे सकता है। उसे न धन की आवश्यकता है न प्रशंसा की।

वस्तुतः जब हम उसके गुणों का गान करते हैं तो उन गुणों के लिये हमारे हृदय में श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है और हमारे आत्मा के मल नष्ट होने लगते हैं। आत्मा के कारण शरीर पर बुरे कर्मों के जो संस्कार जम जाते हैं उनके लिये स्तुति साबुन का काम करती है।

स्तुति में बहुत बड़ी शक्ति है। इसका परिचय एक बात से लग सकता है। हमारे शरीर पर हमारे मस्तिष्क का बड़ा भारी प्रभाव पड़ता है। हमारे समस्त कार्य्य मस्तिष्क से ही आरम्भ होते हैं। मस्तिष्क में पहले विचार उठता है और यह विचार अनेक तन्तुओं द्वारा हमारे अवयवों को कार्य्य करने के लिये प्रेरणा करता है। भिन्न भिन्न २ विचार मस्तिष्क के कोष्ठों (Brain cells) पर भिन्न २ प्रभाव डालते हैं। कल्पना करो कि एक कामोत्पादक कथा सुनी जाय या गीतिका गाई जाय तो मस्तिष्क में एक प्रकार के

काम सम्बन्धी विचार उठेंगे और उन विचारों द्वारा हम अनेक कुचेष्टायें करने लगेंगे जिनमें मानसिक कुचेष्टायें भी शामिल हैं। परन्तु यदि वीर रस के गीत गाये जायं तो उनके गाते ही बाहुओं में फड़कन उत्पन्न हो जाती है। इसी प्रकार जब हम ईश्वर स्तुति करते हैं तो उन गुणों से सम्बन्ध रखने वाले विचार हमारे मस्तिष्क में उठते हैं और हमारे मस्तिष्क के कोष्ठों की बनावट में भी परिवर्त्तन हो जाता है। यदि लगातार सच्चे हृदय से उच्च स्वर से प्रार्थना की जाय तो जिस प्रकार के गुणों का उस प्रार्थना में वर्णन है उसी प्रकार के परिवर्त्तन हमारे मस्तिष्क में उत्पन्न होने लगते हैं।

परन्तु एक बात याद रखनी चाहिये। प्रार्थनायें मस्तिष्क में परिवर्त्तन करने के लिये हैं। यह तमाशा नहीं है। इस लिये प्रार्थनायें ऐसी हों जिनको मनुष्य समझता हो और जो ईश्वर के वास्तविक गुणों से सम्बन्ध रखती हों। बहुत से लोग ईश्वर को मनुष्य मानकर मनुष्य सम्बन्धी गुणों का उसमें आरोपण कर देते हैं। इसका नाम उन्होंने भक्ति रक्खा है। कोई प्रातःकाल उठकर कहता है "उठो नन्दलाल भोर भयो" कोई मूर्त्ति के सामने भोग लेजाकर प्रार्थना करता है कि 'इसे खाओ'। इत्यादि। कोई "चोर जारशिखा मणि" कहकर श्रीकृष्णजी की स्तुति करता है। कोई श्रीकृष्णजी को "दुकूल चोर" कह कर पुकारता है। ऐसे गुण वर्णन करने से मस्तिष्क पर क्या प्रभाव पड़ता है ? इसको समझने वाले भली भांति जान सकते हैं। जब हम अपने आराध्य को 'दुकूल 'चोर' या 'माखन' चोर कह कर पुकारते हैं तो यदि वस्तुतः हम

में कुछ समझ है तो 'चोर' शब्द भी अवश्य हमारे मस्तिष्क पर अपने अर्थों का प्रभाव डालता होगा। यदि नहीं समझते तो यह प्रार्थना ही व्यर्थ हुई। इस प्रकार समझने की दशा में हानिकारक और न समझने की दशा में व्यर्थ व्यापार अवश्य होता है।

लोग समझते हैं कि ऐसा करने से हम ईश्वर के प्रति भक्ति प्रकट करते हैं। इसी विचार ने 'भक्ति मार्ग' निर्माण किया है। परन्तु यह लोग भक्ति का अर्थ ही नहीं समझते। यूनान के इलियैटिक दर्शन (Eleatic School) का संस्थापक ज़ेनोफ़ेनीज़ (Xenophanes) कहता है कि बजाय इसके कि ईश्वर मनुष्य को बनावे; मनुष्य को बनाता है। बाइ-बिल में लिखा है कि ईश्वर ने मनुष्य को अपने समान बनाया। ज़ेनोफेनीज़ कहता है कि लोग ईश्वर को अपने समान बनाते हैं।

" Negroes imagine them as black and with flattened noses ; the Thracians with blue eyes and hair, if oxen and horses could paint, they would represent their gods as horses and Oxen." (The Problems of Philosophy by Janet and Seailles p. 249).

अर्थात् नीग्रो लोग ईश्वर को काला और चपटी नाक का समझते हैं और थ्रेस के लोग नीली आंखों तथा लाल बालों वाला। यदि बैल और घोड़े भी चित्रकारी जानते तो वह ईश्वर को बैल और घोड़े की आकृति का समझते।

हमने बहुत से अन्धविश्वासियों के मुख से सुना है कि श्री तुलसीदासजी अड़ गये कि "हे ईश्वर हम तो तुझे धनुष बान लिये हुए ही देखना चाहते है"। तुकारामजी के लिये सुना है कि उन्होंने ईश्वर से प्रार्थना की कि हम इस शरीर में तेरा निराकार स्वरूप नहीं देख सकते अतः तू हम को शरीर धारण करके चतुर्भुजी स्वरूप में दर्शन दे।

वस्तुतः प्रार्थना का इससे अधिक दुरुपयोग नहीं हो सकता। प्रार्थना है आत्मा को ईश्वर तक उठाने के लिये न कि ईश्वर को आत्मा तक गिराने के लिये। जो लोग ईश्वर का अवतार मानते हैं वह ईश्वर तक अपना उत्तरण (उठना) नहीं चाहते किन्तु अपने तक ईश्वर का अवतरण (गिरना) चाहते हैं। इसी लिये मनुष्य ऐसी कल्पनायें करते करते गिर जाता है और उन्नति के स्थान में अवनति कर बैठता है।

भक्ति शब्द का आजकल ऐसा दुरुपयोग होता है कि अच्छे आस्तिकों को आस्तिक शब्द से घृणा हो जाती है। अभी थोड़े दिन हुये बिहार में एक मत चला है उसको 'राम सखी' कहते हैं। उनका कथन है कि राम को सीता सब से प्रिय है इस लिये जो राम की भक्ति चाहते हैं उनको चाहिये कि सीता बनें। सीता बनने की विधि यह है कि पुरुष स्त्री का भेष रखते हैं और हर प्रकार से उसी प्रकार के हाव भाव दिखाते हैं जैसे स्त्रियां अपने पति के सम्मुख दिखाया करती हैं। इसका नाम उन्होंने ईश्वर-पूजा या भक्ति रख छोड़ा है। ऐसी प्रार्थनाओं का एक ही फल हो सकता है कि उनके आत्मा पर स्त्रैणों के संस्कार जम जायं और दूसरे जन्म में उनको स्त्रियों का जन्म धारण करना पड़े।

वस्तुतः यह भक्ति नहीं किन्तु अपनी कल्पनाओं के पीछे दौड़ना है। 'भक्ति' शब्द संस्कृत के "भज् सेवायाम्" धातु से बनता है। यदि हम ईश्वर के सच्चे सेवक हैं तो उसकी आज्ञा का पालन करेंगे न कि ईश्वर को अपनी मन मानी बातें करने पर बाधित करेंगे। उस सेवक के लिये क्या कहा जा सकता है जो अपने स्वामी से अपनी मन मानी कराना चाहता है? इसी प्रकार जो लोग भक्ति के बहाने से इस प्रकार की इच्छायें रखते हैं वह अपने आत्मा को दूषित करते हैं। ईश्वर तो ऐसी सत्ता नहीं है जो ऐसे मूर्खों के कहने से अपने नियम टाल सके। यदि टाल सका तो ईश्वर ही नहीं। परन्तु भक्ति के नाम से बहुत से मूर्ख ठगे जाते हैं। और बहुत से पाखण्डी अपना उल्लू सीधा किया करते हैं। इस लिये ऐसे पाखण्डों से मनुष्यों को सदैव बचना चाहिये। और ऐसी प्रार्थना करनी चाहिये जिससे हमारा आत्मा उच्च हो।

उच्च स्वर से प्रार्थना करने का एक लाभ यह है कि मन का विक्षेप दूर होता है और मन में एक प्रकार की शान्ति आती है। इसके विषय में अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं है। इसका अनुभव अभ्यास करने से प्राप्त हो सकता है।

उपासना का दूसरा अङ्ग ध्यान है। यदि अच्छा गुरु मिल जाय तो उसके संरक्षण में रह कर मनुष्य को प्राणायाम सीखना चाहिये। उससे मन एकाग्र हो जाता है। मन के एकाग्र करने की प्राणायाम से अच्छी कोई विधि

नहीं है। मन का और प्राणों का स्वाभाविक सम्बन्ध है। मन की गति रुकते ही प्राण की गति रुक जाती है और प्राण की गति रुकते ही मन की गति रुक जाती है। इसका अनुभव हम साधारणतया भी कर सकते हैं। यदि कोई ऐसी आकस्मिक घटना होती है कि जिसमें यकायक हमारा मन लग जाता है तो उसके साथ ही प्राण भी रुक जाता है। यह केवल क्षण मात्र के लिये होता है परन्तु होता अवश्य है। ज्यों ही मन चलायमान हुआ प्राण भी चलने लगता है। इससे स्पष्ट है कि यदि प्राण को रोका जाय तो मन भी उसके साथ ही रुक जायगा।

ध्यान में मन के रोकने की क्या आवश्यकता है? इस पर कुछ विचार करना चाहिये। वस्तुतः हमारा मन इतना चचल है कि जब तक वह चलता रहता है हम कुछ काम नहीं कर सकते। अर्जुन कहते हैं:—

> चंचलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।
> तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥ ६। ३४॥

अर्थात् हे कृष्ण मन ऐसा चंचल है कि उसको प्रयत्न करने से भी नहीं रोक सकते। मुझे उसका रोकना हवा के बांधने से भी दुस्तर प्रतीत होता है॥

इस पर श्रीकृष्ण का उत्तर है:—

> असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
> अभ्यासेन तु कौंतेयं वैराग्येण च गृह्यते॥ ६। ३५

अर्थात् हे अर्जुन, माना कि मन का रोकना कठिन है तो भी अभ्यास और वैराग्य से इसका निरोध हो सकता है।

पतंजलि मुनि योगशास्त्र में कहते हैं।

अभ्यास वैराग्भ्यां तन्निरोधः ॥

बिना मन को स्थिर किये काम भी तो नहीं चलता। जिस प्रकार हिलते हुये या मैले दर्पण में अपना मुख नहीं दीख सकता इसी प्रकार मल-युक्त या विक्षेप-युक्त मन में ईश्वर का ध्यान नहीं हो सकता। ईश्वर-प्रार्थना तथा शुभ कर्मों से मन का मल दूर होता है और ध्यान से विक्षेप।

परन्तु प्राणायाम करने में एक बात का विचार रखना चाहिये। केवल पुस्तकें पढ़ कर या अण्ड बण्ड पाखण्डी गुरु की शिक्षा से बहुधा प्राणायाम की सिद्धि नहीं होती और अनेक प्रकार के रोग शरीर को लग जाते हैं। आज कल साधुओं में योग के ऐसे अण्ड बण्ड प्रकार प्रचलित हैं कि उनसे बहुत से उत्साही युवक हानि उठा बैठते हैं और जो रोग एक बार लग जाते हैं वह समस्त आयु भर उनका पीछा नहीं छोड़ते। कम से कम फेंफड़ों के रोगों का तो बहुत ही भय होता है। अतः जब तक तुम संयमी नहीं हो सकते या जब तक तुमको अच्छा गुरु नहीं मिल सके उस समय तक प्राणायाम न करो। केवल बिना प्राणायाम के ही ध्यान जमाने का यत्न करो। इससे प्राणायाम के समान लाभ तो न होगा परन्तु न होने से कुछ होना अच्छा है। ऐसा करने के लिये संध्या या प्रार्थना के मंत्रों पर विचार करना या ओ३म् का जाप करना अच्छा है। योग दर्शन में लिखा है:—

तज्जपस्तदर्थं भावनम् ।

अर्थात् ओ३म का जाप करे और उसके अर्थों पर विचार करे। इससे भी मन के एकाग्र होने में कुछ न कुछ सफलता अवश्य प्राप्त होगी।

ओ३म्

श्री पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय एम. ए.

का

एक और अद्भुत और उपयोगी धर्मग्रन्थ

अद्वैतवाद
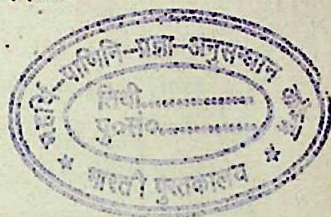
तैय्यार हो रहा है।

इस में अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैत, विषयों की गवेषणापूर्ण मीमांसा है। श्रीशंकराचार्य्य, श्रीरामानुजाचार्य्य, बर्कले तथा अन्य पूर्वी और पाश्चात्य अद्वैतवादियों के विचारों की समालोचना तथा यथार्थ वेदान्त की उत्तम रीति से व्याख्या की गई है। धर्म के मौलिक सिद्धान्तों पर ऐसे उपयोगी ग्रन्थ हिन्दी भाषा में बहुत कम हैं।

ग्राहकों में शीघ्र नाम लिखाइये। मूल्य २॥) के लगभग।

मैनेजर—

कला-कार्य्यालय,

इलाहाबाद।

ब्रह्म-विज्ञान

इसमें उन उपनिषदों का पद्यानुवाद है जिन पर ऋषि-मुनि तो लट्टू थे ही, जर्मनी के प्रसिद्ध फिलोसफर शोपनहार आदि विदेशी भी इन्हें शांति का मार्ग समझते थे। हिन्दी में ईश तथा श्वेताश्वतर का ऐसा ललित, सुन्दर पद्यानुवाद आज तक कहीं देखने में भी नहीं मिला, =) में ही आनन्द लूटिये। रचयिता श्री सत्यप्रकाश जी, बी. एस. सी. विशारद।

मिलने का पता—कलाकार्य्यालय, इलाहाबाद।

चित्रकूट-चित्रण (खंड काव्य)

चित्रकूट का साक्षात् फोटो देखिये

जिन्होंने चित्रकूट के दर्शन नहीं किये हैं, उनको घर बैठे दर्शन मिलेगा। जो देख आये हैं, वे तो पढ़ते समय समझेंगे कि चित्रकूट में ही बैठे हैं। काव्य क्या? है—नैसर्गिक निरीक्षण का उत्कृष्ट उदाहरण है। भाषा मनोहर, भाव सुन्दर, मूल्य सस्ता, केवल ।=) मात्र। रचयिता, प्राकृतिक छटा के प्रसिद्ध प्रेमी, हिन्दी संसार के सुविख्यात कवि, श्री विद्याभूषण 'विभु'।

मिलने का पता—कलाकार्य्यालय, इलाहाबाद।

सुहराब और रुस्तम

कलेजा थामलो दोनों करों से।
भला क्या हो सके ऐसा नरों से॥
फटे सुनकर न किसकी वज्र छाती।
पिता प्रिय पुत्र का ही प्राणघाती॥

पढ़िये और रोइये। करुणा-रस का ऐसा काव्य अभी तक नहीं निकला। काव्य की सरसता, पद-लालित्य, तथा भावों की उत्कृष्टता सभी मनोमोहक हैं। कविवर श्री विद्याभूषण "विभु' की ही यह रचना है। मूल्य ।) मात्र।

बच्चों को हंसाने वाली

ढपोरशंख

तथा

अन्य कहानियां

मिट्टी के ये नहीं खिलौने, जो गिरते ही टूटेंगे।
जितना ही जो अधिक पढ़ेंगे, उतना ही रस लूटेंगे॥

'विभु' जी की ये पद्य कहानियां ऐसी हैं कि बालक देखते ही दौड़ेंगे। १५—१६ रंग -विरंगे चित्रों से इसकी शोभा कई गुनी बढ़ गई है। जिसके हाथ में जावेगी वह बिना समाप्त किये कभी भी नहीं छोड़ेगा। क्या आप अपने बच्चों के लिये चार आने भी नहीं व्यय कर सकते।

मिलने का पता—कला कार्यालय, प्रयाग।
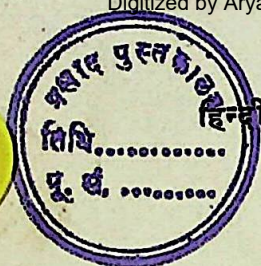
हिन्दी संसार में अपने ढंग का अपूर्व ग्रंथ ।

पद्य-पयोनिधि

रचयिता

काव्य-जगत् के प्रसिद्ध कवि श्री विद्याभूषण जी 'विभु'।
कवियों, सम्पादकों, तथा साहित्यज्ञों ने मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है।

श्री साहित्याचार्य्य जगन्नाथप्रसाद जी 'भानु' कवि कहते हैं कि—

'ग्रन्थ क्या है, काव्य महोदधि का एक अमूल्य रत्न है'

कविवर श्री मैथिलीशरणजी गुप्त का कथन है:—
"मैंने हृदय को शीतल करने वाली वस्तु इसमें पाई है।"

यदि आप ईश्वर भक्त हैं तो इस पयोनिधि की प्रथम तरंग देखिये। भक्ति रस के उत्कृष्ट उदाहरण मिलेंगे। यदि प्राकृतिक छटा प्रेमी हैं तो द्वितीय तरंग में प्रवेश कीजिये और आनन्द लूटिये। यदि आप देशभक्त हैं, राष्ट्रीयता आप को प्यारी है तो तीसरी तरंग अवश्य पढ़िये। देश प्रेम से पूरित होइये। यदि ऐतिहासिक घटनायें आप को आनन्द दे सकती हैं तो चौथी तरंग की प्रतीक्षा कीजिये। अन्य विविध विषय पांचवीं तरंग में मिलेंगे। तात्पर्य्य यह है कि सब रुचियों की सामग्री एकत्रित है। बालक देखते ही दौड़ेंगे। वृद्ध शांति पावेंगे, युवा पुरुष अनुभव प्राप्त करेंगे।

माधुर्य्य, ओज, तथा प्रसाद त्रिगुणात्मक मनोरंजक कविता संग्रह है। इतने पर भी मूल्य ॥) मात्र है।

मिलने का पता—कला कार्यालय, प्रयाग।